प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता

सचिव,

प्राकृत भारती अकादमी,

३८२६, मोतीसिंह भोमियो का रास्ता,

जयपुर–३०२००३

पारसमल भंसाली

अध्यक्ष,

श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ

मेवानगर, स्टे बालोतरा–३४४०२५

जिला बाडमेर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : २० मई, १९८९

मूल्य : ६०:०० रुपये

©सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक :

आनन्द प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर

जेक प्रिन्टर्स, जयपुर

अजन्ता प्रिण्टर्स, जयपुर

परमश्रद्धेय प्रज्ञापुरुष युगप्रभावक आचार्यदेव

श्रीमज्जिनकान्तिसागरसूरीश्वरजी महाराज साहब

के पुनीत करकमलो मे .—

आपश्री की शासन प्रभावना की हार्दिक अभिलाषा और सारे भारत मे भ्रमण कर जन-जन को वीरवाणी की विमल सरिता मे मज्जन करा कर, उनके विविध ताप सन्तापो का शमन कर शान्ति समता के सुख का अनुभव कराना, जगत् के महान् पुरुषो/अवतारो/ऋषि, महर्षियो के उपदेशवचनो एव दृष्टान्तो से अहिंसा सत्य आदि सनातन तत्त्वों को पुष्ट करना, प्रत्येक जन के कल्याण की शुभेच्छा आदि अनेक सद्‌गुणो का एव मुझ पर बृहद् भगिनी जैसा आत्मीयता पूर्ण व्यवहार स्मरण कर, भाव विभोर हो यह लघु प्रयास आपश्री को समर्पित कर स्वय को कृतकृत्य अनुभव करती हूँ।

प्र० सज्जन श्री

प्रकाशकीय

जिनेश्वर देवो की भक्ति, उपासना, अनुष्ठान, अर्चन और स्तवना से आन्तरिक आत्म-स्वरूप की पहचान के साथ आत्मशुद्धि होती है, अतीव दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति और उत्तरोत्तर निर्मलता बढती है, साधक रत्नत्रयी को विशुद्ध साधना की ओर उन्मुख होता है और जिनेश्वर देवो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने से अन्त में तद्‌रूपता को प्राप्त करता है। प्रभु को निर्मल अन्त करण से भक्ति एव स्तवना करने से तन्मयता, एकाग्रता और मन का स्थिरीकरण होता है। फलत. क्रमशः कर्म निर्जरा के साथ सिद्धि सोपान का प्रशस्त पथ प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि स्तवना को चरम साध्य मुक्ति का श्रेयस्कर एव प्रशस्तमय साधन मानकर शताधिक आचार्य प्रवरो, मुनिपुगवे एव कवियो ने चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति/स्तवन रूप सैकडो 'चौवीसी' सज्ञक चौवीसियो की रचनायें की हैं, ये चौवीसिया लोक/जन भाषा मे निबद्ध होने के कारण एव लोक धुनों/तर्जों में गेय होने के कारण भक्तजनो के हृदय का हार वनी हुई है।

वर्तमान समय मे प्राप्त एव प्रकाशित चौवीसियो में मुख्यतः दो चौवीसिया श्वेताम्बर जैन समाज की समस्त परम्पराओ और समग्र गच्छो के द्वारा समान रूप से समादृत एव सिरमौर रही है; वे हैं, आनन्दघन चौवीसी और देवचन्द चौवीसी। ये दोनो चौवीसियां न केवल गुणवत्ता और अर्थवत्ता की दृष्टि से ही प्रमुख है, अपितु इनमे जैनागमो का निचोड भरा हुआ है, जैन दर्शन का रहस्य समाहित है और ये आध्यात्मिक अनुभूतियो से ओतप्रोत हैं। इन दोनो चौवीसियो के प्रणेता परमयोगी/अवधूत आनन्दघनजी और परमगीतार्थ अनुयोगधर देवचन्द्रजी हैं। आनन्दघनजी का समय १७ वी शती का उत्तरार्द्ध और १८ वी शती का पूर्वार्द्ध है और देवचन्द्रजी का समय वि स १७४६ से १८१२ है। ये दोनो खरतरगच्छ के ही महापुरुष हैं। प्राकृत भारती अकादमी, आत्मानुभवी सहजानन्दजी के अनुवाद के साथ आनन्दघन चौवीसी को अपने ५७ वे पुष्प के रूप मे

प्रकाशित कर चुकी है और देवचन्द्र चौवीसी को अपने ५८ वे पुष्प के रूप मे प्रकाशित कर रही है।

"सवि जीव करू शासनरसी, इसी भाव दया मन उल्लसी" (स्नात्र पूजा) पक्ति के प्रणेता श्रीमद् देवचन्द्र खरतरगच्छालकार अकबर प्रतिवोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि की शिष्य परम्परा मे हुए हैं। इनका जन्म सं १७४६, दीक्षा स. १७५६, वाचक पद सं. १८१२ और स्वर्गवास वि स. १८१२ अहमदाबाद है। ख्याति प्राप्त "आनन्दजी कल्याणजी पेढी" के सस्थापक भी यही देवचन्द्रजी है। इस पुस्तक की भूमिका में महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभसागरजी ने श्रीमद् देवचन्द्रजी के व्यक्तित्व, कृतित्व एव चौवीसी पर विशद रूप से प्रकाश डाला है, अतः अधिक कुछ कहना पिष्टपेषण ही होगा। तथापि तपागच्छीय आचार्यप्रवर योगनिष्ठ श्री बुद्धिसागरसूरिजी अपनी अष्टपदी में श्रीमद् देवचन्द्रजी की गुणगरिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—द्रव्यानुयोग के गीतार्थ और व्रताचार के पूर्णरूपेण सम्यग् पालक देवचन्द्र जैसा साधु अर्वाचीन/वर्तमान समय मे दिखाई नही देता है। . . सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र रत्नत्रयी के व्यक्त रूप, योगी और सयमी श्रीमद् देवचन्द्र को बारम्बार नमस्कार करता हूँ। ....समस्तगच्छो मे माध्यस्थ भाव ही श्रेयस्कर है ऐसे सत्य को प्रतिष्ठित करने वाले श्री देवचन्द्र को पूर्ण प्रीति से नमस्कार करता हूँ।

स्वय प्रणेता ने रचना के पश्चात् चौवीसी के प्रत्येक स्तवन मे दार्शनिक और सैद्धान्तिक गहनता का अनुभव किया और इसको सामान्य-जन सहजता एव सरलता से समझ सकें, गहनता मे पैठ सके, एतदर्थ देवचन्द्रजी ने स्वय ही इस पर राजस्थानी भाषा मे बालावबोध/भाषा टीका की रचना की। हिन्दी भाषीजनो के लिये इसकी उपयोगिता देखकर प्रवर्तिनी पदभूषिता साध्वीवर्या श्री सज्जनश्रीजी ने इसी बालावबोध का हिन्दी भाषा मे अनुवाद किया। प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी के हम आभारी है कि उन्होने अपने अनुवाद को प्रकाशित करने के लिए प्राकृत भारती अकादमी को प्रदान किया। साथ ही उनके उपदेश से जयपुर के प्रसिद्ध जौहरी श्री प्रेमचन्दजी घाघिया की धर्मपत्नी श्रीमती मुन्नीदेवी के द्वारा प्रकाशन मे आधा अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है, अत. इनके प्रति भी हम आभारी हैं।

उदीयमान प्रतिभा सम्पन्न लेखक महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभसागर जी के भी हम आभारी हैं कि हमारे अनुरोध को स्वीकार कर इन्होने विस्तृत भूमिका लिखी।

प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी के अनुवाद के साथ प्रस्तुत पुस्तक को प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी अभिनन्दन समारोह के समय प्रकाशित करते हुये हमे हार्दिक प्रसन्नता है। हमें आशा है कि पाठकजन इस चौवीसी के अध्ययन के माध्यम से भगवत् स्वरूप को समझते हुए, जिनेन्द्रो की भक्ति का अवलबन लेकर श्रेयस् पथ की ओर अग्रसर होगे।

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा
पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर

म. विनयसागर
निदेशक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

स्तवनानुक्रम

भूमिका

जैन–दर्शन

जैन-दर्शन भारतीय दर्शनो मे प्रमुख है। सूक्ष्मता, स्पष्टता, मौलिकता मनोवैज्ञानिकता, तार्किकता एव स्वाभाविकता इस दर्शन की विशेषताएँ हैं। यद्यपि जैन धर्म अत्यधिक प्राचीन है, तथापि इसका दर्शन इतनी अधिक सबल यौक्तिक एव तार्किक भित्तियो पर आधारित है कि मानव-बुद्धि ने उसमे किसी तरह की खामी का आभास नही पाया है। वह आज भी अभिनव बुद्धि-प्रसूत है। इसमे जो कुछ भी सख्याएँ परिगणित की गई है, उनमे विश्व के जड-चेतन-तत्वो तथा मानव-प्रवृत्तियो के समस्त पहलुओ का आकलन हो गया है। अतः जैन दर्शन परम बौद्ध और परम साख्य रूप है। यह केवल श्रद्धा और स्वीकृति से ही नही, वरन् पाश्चात्य दर्शनो की तरह तर्क से भी परिपुष्ट है। सत्य के समग्र आयामो को शब्दो और अको मे समाकलित कर देने की स्पर्धा जैन दार्शनिको ने अथक निष्ठा एव अध्यवसाय से की है। उन्होने गणना-बुद्धि की पराकाष्ठा को उपलब्ध किया है। सचमुच, जैन दर्शन मानवीय चिन्तन, तर्क, गणित एव प्रागल्भ्य का अद्‌भुत स्मारक है।

जैन दर्शन के प्रस्तोता और उपाध्याय देवचन्द्र

इस दर्शन के प्रस्तुतीकरण मे अनेक प्रज्ञाशिल्पी चिन्तको का हाथ रहा है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता की दृष्टि से उमास्वाति (प्रथम शताब्दी ईस्वी), सिद्धसेन दिवाकर (४८०–५५० ई), जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण (५२८–५८८ ई), सिद्धसेन (छठी शदी ई), देवनन्दी (५–७ शदी), समन्तभद्र (छठी शताब्दी ई), अकलक (७५० ई), विद्यानन्द (८००ई), माणिक्यनन्दी (लगभग ८०० ई), प्रभाचन्द्र (८२५ ई.), अनन्तवीर्य (१०३९ ई), देवमूर्ति (१०८६–११६९ ई.), जिनेश्वरसूरि (११वीं शती ई.), हेमचन्द्रसूरि (११२० ई), मल्लिषेणसूरि (१२९२ ई), यशोविजय (१६०८–१६८८ ई) आदि अनेक मूर्धन्य दार्शनिको/आचार्यों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस स्वर्णिम शृखला मे हम एक ऐसे व्यक्तित्व

उपाध्याय देवचन्द्र (विक्रम सवत् १७४६–१८११/१२) को आबद्ध कर रहे है, जिनकी दार्शनिक एव आध्यात्मिक रचनाएँ जैन समाज मे आप्त-वचनो के रूप मे समादृत है।

देवचन्द्र : जीवन और साहित्य

उपाध्याय देवचन्द्र भारतीय दर्शन, सस्कृति एव साहित्य की महान् विभूति रहे है। भारतीय चिन्तन, साहित्य एव साधना के क्षेत्र मे उनकी भूमिका असाधारण है। वे न केवल महान् गुरु और समाज-सुधारक ही थे, वरन् विलक्षण प्रतिभा तथा सर्जन-क्षमता से सम्पन्न तत्त्व-चिन्तक मनीषी भी थे। जहाँ एक ओर उन्होने मरु-गूर्जर के इतिहास को प्रभावित किया, भारत के विविध अचलो मे पद-यात्राए कर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया, राजस्थान एव गुजरात मे खण्डहर वन रहे अनेक जिन मन्दिरो का जीर्णोद्धरण और नवीनीकरण करवाया, मूर्ति-पूजा विरोधियो की गति-विधियो तथा प्रभृति को रोकने के लिए मूर्तिपूजक अभियान बुलन्द किये, जैन मन्दिरो एव तीर्थो की समुचित व्यवस्था हेतु "आनन्दजी कल्याणजी पेढी" जैसी सुदृढ राष्ट्र स्तरीय सस्थाओ की स्थापना की, वही तत्त्व-चिन्तन-प्रधान आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन कर साहित्य-क्षेत्र मे एक नवीन पथ को प्रशस्त एव प्रकाशित भी किया।

देवचन्द्र की जैन दर्शन के प्रति ईमानदारी असाधारण रही है। उन्होने असख्य को सख्या दी, अनन्त को परिमाण दिया, अछोर को आकार पहनाया और अनिर्वचनीय को साहित्य मे व्यक्त किया। उन्होने जैन-दर्शन के गुह्यतम रहस्यो को उद्घाटित किया है। जैन दर्शन को जिस गेयात्मक शैली मे उन्होने जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया, वह अनुपमेय है। इसलिए उनके ग्रन्थ जैन-दर्शन के पथ-प्रदर्शक है, कुजी हैं। जैन दर्शन को गहराई से समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह पहले देवचन्द्र के दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन करे, ताकि विचारों की प्राथमिक गुत्थिया/समस्याए सुलझ जाए। उनके ग्रन्थ व्यवस्था-मूलक और दर्शन की पृष्ठ-भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। उन्होने ऐसे-ऐसे ग्रन्थो का प्रणयन किया, जो न केवल जैन साहित्य, वरन् सम्पूर्ण दर्शन-साहित्य/भारतीय साहित्य के गौरव को अभिवर्धित करते हैं।

देवचन्द्र का जीवन-वृत्त

उपाध्याय देवचन्द्र का साहित्य जितना प्रभावशाली है, उनका जीवन-वृत्त भी उससे कम नही है। उनकी रचनाओ मे प्राप्त आत्म-कथन और परवर्ती कवियो द्वारा देवचन्द्र की यशोगाथा करते हुए अपनी कृतियो मे किये गये उल्लेख हमारे विवेच्य दार्शनिक के जीवन-वृत्त पर बहुत-कुछ प्रकाश डालते हैं। देवचन्द्र के जीवन-वृत्त के विविध पहलुअ को उजागर करने वाली एक महत्वपूर्ण रचना प्राप्त हुई है—"देवविलास"।[1] इसके रचनाकार ने अपना परिचय "कवियण" के नाम से प्रस्तुत किया है। देवविलास वस्तुत. देवचन्द्र के जीवन-परिवेश को प्रस्तुत करने वाली एक सशक्त काव्य कृति है। इसकी रचना देवचन्द्र के निधन के चौदह वर्ष बाद हुई।[2] इसमे उल्लिखित तथ्य देवचन्द्र के शिष्यो द्वारा भी पर्यवेक्षित है। अत· "देवविलास" की प्रामाणिकता असन्दिग्ध मानी जानी चाहिये।

जन्म एवं परिचय

कवियण एव अन्य परवर्ती कवियो के उल्लेखानुसार देवचन्द्र का जन्म राजस्थान के बीकानेर जनपद मे हुआ। उनका जन्म स्थान बीकानेर का एक समीपवर्ती ग्राम है। कवियण के शब्दो मे—

मरुस्थल देश तिहाँ सुन्दर, तेह में बीकानेर चंग।
तेहने निकट एक रम्यता, ग्राम अछे सुभ चग॥[3]

उपर्युक्त पक्तियो मे "ग्राम अछे सुभ चग" के अनुसार ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका गाव शुभसर (सम्प्रति–शोभासर) है। उनका जन्म विक्रम संवत् १७४६ मे हुआ था।[4] सवत् १७४६ मे उनका

---

१. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, पृष्ठ २६४ से २९२ मे सकलित, सम्पादक : श्री अगरचन्द नाहटा, श्री भवरलाल नाहटा, प्रकाशक : शकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता।

२ सवत् अढार पचीस आसो सुदि रे, अष्टमी रविवारे रच्यो रे।
स्तोक मे देवविलास कीधो रे, किंचित् गुण ग्रहीने स्तव्यो रे।
—देवविलास (११ ३३)

३ वही (२ २)

४. सवत् सतर छेताला वरषे, जन्म्यो ते पुत्र हरषे रे।
—वही (३ ९)

जन्म किस दिन हुआ, इसका उल्लेख प्राप्त नही हुआ है। उनके पिता का नाम तुलसीदास था और माता का नाम धनदेवी था। कवियण के अनुसार देवचन्द्र का एक ज्येष्ठ भ्राता भी था,[1] पर कवियण ने उसका नामोल्लेख नही किया है। उनके पिता-माता जैन कुलीन थे। उनकी जाति लूणिया थी, जो ओसवाल-वश-वृक्ष की एक उपशाखा है। इस लूणिया-जाति का प्रवर्तन आचार्य जिनदत्तसूरि द्वारा हुआ है। प्राप्त सन्दर्भो के आधार पर ज्ञात होता है कि इनके अभिभावक जैनधर्म के एक प्रतिष्ठित आम्नाय "खरतरगच्छ" द्वारा प्रसारित आचार-विचार-परम्परा के प्रति निष्ठा रखते थे। कवियण के मतानुसार देवचन्द्र के माता-पिता ने बालक के जन्म से पूर्व ही वाचक राजसागर के समक्ष यह प्रतिज्ञा स्वीकार की थी कि यदि उनके पुत्र हुआ, तो वे उसे "जिन-शासन" के सवर्धन हेतु समर्पित करेगे।[2] देवचन्द्र की गर्भावस्था मे उनकी माता श्रीमती धनदेवी ने देवेन्द्रो द्वारा मेरुगिरि पर किये जा रहे भगवान के जन्म-अभिषेक-महोत्सव का परिदृश्य स्वप्न रूप मे देखा था।[3] श्री जिनरत्नसूरि के पट्टधर आचार्य जिनचन्द्रसूरि के अनुसार यह स्वप्न सौभाग्य-सूचक था। आचार्य ने धनबाई से कहा कि तुमने जो स्वप्न-दर्शन किया, तदनुसार तुम्हारा भावी पुत्र या तो छत्रपति

---

१. एक पुत्र विद्यमान छे, अन्य सगर्भा दीठ।
श्रुतज्ञाने जाणीओ, पुत्र दूजो हशे इष्ट।

—वही (२ २०)

२. पुत्र हुस्ये जे माहरे, वोहरावीस धरी भाव।

—वही (२ ९)

३ शय्यामे सुता थका, किंचित् जागृत निंद।
मेरु पर्वत ऊपरे, मिली चौसठ इन्द।
जिन पडिमा नो ओछव करे, मिलीया देव ना वृन्द।
अर्चा करता प्रभु तणी, एहवु सुपने दीठ।
अैरावण पर वेसीने, देता सहू ने दान।
एहवु सुपन ते देखीने, थया जाग्रत तत्काल।
अरुणोदय थयो तत्क्षिणे, मनमे थयो उजमाल।

—देवविलास (२ ११-१३)

(राजा) वनेगा या पत्रपति (ज्ञानी)।[1] यद्यपि आचार्य जिनचन्दसूरि ने स्वप्न-दर्शन एवं उसका फल दर्शन ज्ञातकर धनवाई से उसका पुत्र पाना चाहा था, पर धनवाई ने यह कहकर आचार्य के वचन को स्वीकार नही किया कि मैं वाचक राजसागर को पुत्र प्रदान करने के लिए वचनवद्ध हूँ।[2] देवचन्द्र का जन्म हुआ। स्वप्न मे देवदर्शन होने के कारण वालक का नामकरण "देवचन्द्र" हुआ।

समर्पण एवं प्रशिक्षण

माता-पिता ने देवचन्द्र में धार्मिक संस्कारो के वीज शैशवकाल से ही आरोपित करने शुरू कर दिये थे। माता-पिता ने देवचन्द्र की गति-विधियो को साधारण वालक से भिन्न पायी। उन्होने देवचन्द्र के भविष्य को ज्योतिर्मय मार्ग पर अगडाई लेते हुए पाया। अतः उन्होने देवचन्द्र को अपना देवत्व प्रगट करने के लिए सच्चाई की सम्यक् पगडण्डी पर चढाया। अपने पूर्व कृत सकल्पानुसार माता-पिता ने देवचन्द्र को उस समय के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान सन्त उपाध्याय राजसागर को सौप दिया। देवचन्द्र उस समय आठ वर्ष के थे। राजसागर ने देवचन्द्र को कई दिनो तक साधु-जीवनमूलक प्रशिक्षण दिया। अन्य सन्दर्भों के अनुसार राजसागर के पास देवचन्द्र का प्रशिक्षण-काल दो वर्ष है।

दीक्षा

वालक देवचन्द्र की उदीयमान प्रतिभा को देखकर राजसागर बहुत प्रभावित हुए। उन्होने उस गागर मे सागर की विराटता के चिह्न पाये। देवचन्द्र का मन भी गुरु-सान्निध्य एवं श्रामण्य जीवन की ऊर्ध्वता के प्रति आकर्षित हुआ। उभय पक्षीय निर्णय हो जाने पर विक्रम सवत् १७५६ मे

---

१ दोय कारण दे ए सुपने, देवे जो प्रभावे ए तमने रे।
छत्रपति थाये ए पुत्र के, पत्रपति धर्मनू सूत्र रे।

—वही (३.२)

२. ए वीजा पुत्रने अम देज्यो, पण वाचक ने दीधु वचन।
बीजी ढाल मे कवि कहे, मन मान्या नानु मन्न।

—वही (२ २१)

वाचक राजसागर ने उन्हे मुनित्व की लघु दीक्षा प्रदान कर दी[1] और वृहद् दीक्षा यथासमय तत्कालीन गच्छनायक जिनचन्द्रसूरि ने प्रदान की ।

दीक्षा-नामकरण

देवचन्द्र का दीक्षा-नामकरण राजविमल हुआ,[2] किन्तु उनकी यशोगाथा 'देवचन्द्र" नाम से ही प्रसृत हुई । यद्यपि प्रारम्भिक कृतियो मे देवचन्द्र ने अपने लिए राजविमल नाम प्रयुक्त किया है,[3] किन्तु सर्वसाधरण लोग उन्हे "देवचन्द्र" के रूप मे ही स्वीकार करते थे, अत उन्होने वीस वर्ष की आयु के बाद रचित समस्त कृतियो मे स्वयं को 'देवचन्द्र' के नाम से ही उपस्थापित किया है ।

गुरु

देवचन्द्र ने अपनी कृतियो में पाठक दीपचन्द्र को अपना गुरु स्वीकार किया है ।[4] किन्तु, कवियण ने "देव विलास" मे राजसागर को देवचन्द्र का गुरु बताया है ।[5] कवियण की अपेक्षा देवचन्द्र के आत्म-कथन की प्रामाणिकता अधिक है । ऐसा लगता है कि वाचक राजसागर के कर-कमलो से देवचन्द्र की दीक्षा सम्पन्न हुई थी, किन्तु उन्हे शिष्यत्व दीपचन्द्र का प्रदान किया गया ।

गुरु-परम्परा एव परम्परा-गौरव

अपनी गुरु-परम्परा का परिचय देवचन्द्र ने अपनी कृतियो मे उपसहार के अन्तर्गत बडी श्रद्धा से दिया है । कवि-कृत उल्लेखो के अनुसार

---

१. शुभ ओछव महोछवे, दीक्षा दीये गुरुराय ।
   सवत छपने जाणीये, लघु दीक्षा दीये गुरुराय ।
   —देवविलास (ढाल ४ से पूर्व दूहा ६–७)

२. राजविमल अभिधा दीउ ।
   —वही (ढाल ५ से पूर्व दूहा ७)

३. द्रष्टव्य ध्यान-चतुष्पदिका, प्रशस्ति

४ सद्गुरु पाठक श्री दीपचन्द्र नो जी, शिष्य गणि भाखे देवचन्द्र रे ।
   —द्राविड वारिखिल्ल मुनि सज्झाय (११)

५. उपाध्याय राजसागर जी ना शिष्य, मिठी वाणी जेहवी इक्षु रे ।
   —देवविलास (५, १६)

उनकी गुरु-परम्परा खरतरगच्छ से सम्बद्ध थी। खरतरगच्छ एक क्रान्तिकारी आन्दोलन है, जैन धर्म का सुधारवादी प्रातिनिधिक आम्नाय है, जिसने विपथगामी धर्म के रथ को सन्मार्ग पर लाने का अप्रतिम पुरुषार्थ किया। खरतरगच्छ जैन परम्परा का वह ज्योतिर्मय आम्नाय है, जिसने आचार्य जिनेश्वरसूरि जैसे आध्यात्मिक क्रान्तिकारी, अभयदेवसूरि जैसे आगम-व्याख्याता, जिनवल्लभसूरि जैसे साहित्य-स्रष्टा, जिनदत्तसूरि जैसे लक्षाधिक नव जैन निर्माता राष्ट्रसन्त, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि जैसे अलौकिक महापुरुष, जिनकुशलसूरि जैसे चमत्कारी देवपूज्य, अकबर-प्रतिबोधक जिनचन्द्रसूरि जैसे शासन-प्रभावक, महोपाध्याय समयसुन्दर जैसे प्रखर विद्वान्, आनन्दघन जैसे महान् योगीराज, उपाध्याय देवचन्द्र जैसे तत्त्वचिंतक दार्शनिक महापुरुषो को जन्म दिया, जिन्होने न केवल जैन परम्परा को वरन् भारतीय चिन्तनधारा और जीवनधारा को एक नया आलोक दिया, पथ-दर्शन दिया। गृहस्थो मे कर्मचन्द बच्छावत जैसे योद्धा एव मन्त्री, मोती शाह सेठ जैसे दानवीर और अगरचन्द नाहटा जैसे राष्ट्रीय स्तर के साहित्य-सेवी इसी गच्छ को देन है। सचमुच, वे सब भारतीय इतिहास के शाश्वत प्रकाश-स्तम्भ बन गये।

हमारे विवेच्य साहित्यकार देवचन्द्र के समुदायाध्यक्ष आचार्य जिनचन्द्रसूरि थे, जो सतरहवी शदी के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य हुए हैं।' सम्राट् अकबर ने इन्हे तत्कालीन सर्वोच्च प्रभावक आचार्य स्वीकार कर "युगप्रधान" पद प्रदान किया था। इनके एक प्रमुख शिष्य थे पुण्यप्रधानोपाध्याय और इनके शिष्य थे उपाध्याय सुमतिसागर। इनके शिष्यो मे वाचक साधुरग प्रमुख थे। देवचन्द्र के दीक्षादाता उपाध्याय राजसागर इन्ही साधुरग के शिष्य थे। राजसागर के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि वे सर्व शास्त्रवेत्ता, अनेक जिनमन्दिर प्रतिष्ठाकारक, विद्यादाता एव आवश्यकोद्धार आदि ग्रन्थो के प्रणेता थे। इनके शिष्यसमुदाय मे प्रमुख थे उपाध्याय ज्ञानधर्म जिन्होने अनेक मुनियो को आगम एव न्यायदर्शन का गहन अध्ययन कराया था। इनके प्रमुख शिष्य का नाम था पाठक दीपचन्द्र। वे शास्त्रो के मर्मज्ञ थे। इन्होने अनेक नगरो मे मन्दिरो की प्रतिष्ठाए

करवाई, जिनमे शत्रुजय तीर्थ पर चौमुख-टूँक/शिखर पर करवायी गयी प्रतिष्ठा उल्लेखनीय है। देवचन्द्र इन्ही के शिष्य थे।[1]

शिक्षा एवं शिक्षा-गुरु शारदा की आराधना

देवचन्द्र की शिक्षापरक उपलब्धियो का परवर्ती कवियो ने कुछ उल्लेख किया है, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होने अपना सारा जीवन ज्ञान के सागर में निमज्जित रखा। आगमसार, द्रव्य-प्रकाश जैसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो के अवलोकन से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितने प्रचुर ज्ञान के धनी थे। निश्चय ही उन्होने प्रौढ शिक्षा प्राप्त की थी। देवविलास के अनुसार देवचन्द्र को उनके दीक्षादाता राजसागर ने विद्या की बहु आयामी उपलब्धियो के लिए स्वय द्वारा पूर्व सिद्ध "शारदा-मन्त्र" प्रदान किया। देवचन्द्र ने बेनातट (बिलाडा) ग्राम मे एकान्त भूमिगृह मे उस मन्त्र की साधना की। उनकी वैचारिक ऊर्जा मन्त्र से आवद्ध होकर माँ शारदा पर केन्द्रित हो गई। मन्त्र की ध्वन्यात्मकता उनके शरीर के रग-रग मे फैल गई, अन्तत शारदा माँ ने अपनी कृपा का सागर उन पर उडेल दिया। उन्हे माँ के दर्शन हुए।

सारस्वत कृपा प्राप्त होने से उनकी प्रज्ञा-प्रतिभा प्रौढ एव निर्मल बन गई। उन्होने जिस विषय का अध्ययन किया उसमे उनकी पारगतता अप्रतिम सिद्ध हुई। वाचक राजसागर, पाठक ज्ञानधर्म एव दीपचन्द्र के त्रिवेणी ज्ञान सगम मे स्वय को निमज्जित किया। वे तीनो देवचन्द्र के शिक्षा गुरु थे। देवचन्द्र ने अपने शिक्षा गुरुओ से किन-किन ग्रन्थो का अभ्यास किया, इसकी सूचना देवविलास स प्राप्त होती है। उनके शिक्षा गुरुओ ने षडावश्यक आदि जैन-आगम, व्याकरण, पचकल्प, नैषध, नाटक, ज्योतिष, अष्टादश-कोश, कौमुदी, महाभाष्य, मनोरमा, पिंगल, स्वरोदय, तत्त्वार्थ, आवश्यक बृहद् वृत्ति हेमचन्द्रसूरि, हरिभद्रसूरि और यशोविजय कृत समग्र ग्रन्थ, षड्कर्म ग्रन्थ, कर्म-प्रकृति आदि का उन्हे अध्ययन कराया

---

१ द्रष्टव्य चतुर्विंशति जिन स्तवन स्वोपज्ञ बालावबोध, प्रशस्ति।

था।[1] एक अन्य प्रमाण के अनुसार उन्होने दिगम्बर जैन परम्परा का गोम्मटसार ग्रन्थ का भी अध्ययन किया था।[2] उन्होने बालिग अवस्था की देहरी पर कदम रखते-रखते काव्य-शास्त्र, भाषा-शास्त्र आदि के साथ-साथ जैन-आगम साहित्य और जैन-दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मात्र उन्नीस वर्ष की किशोरावस्था मे तो उन्होने "ध्यान दीपिका" जैसे आध्यात्मिक, काव्यात्मक एव वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर डाली।

देवचन्द्र का ज्ञान-गाम्भीर्य एव अध्यापन वैशिष्ट्य

देवचन्द्र का ज्ञान-गाम्भीर्य अथाह था, जिससे प्रभावित होकर धर्म-सघ ने उन्हे उपाध्याय पद प्रदान किया था। यह पद जैन-समाज मे उस मुनि को दिया जाता है जो स्वमत एव परमत का प्रकाण्ड विद्वान होता है और सघस्थ मुनियो को अध्यापन कराने मे समर्थ होता है। उपाध्याय देवचन्द्र का ज्ञान इतना अगाध था कि देवविलास के रचयिता कवियण के अनुसार उनके पास सैद्धान्तिक अध्ययन एव तात्त्विक समस्याओ का समाधान पाने के लिए अनेक मुनिजन एव तत्त्वचिंतक आते थे। वे भी

---

१. प्रथम षडावश्यक भणे हो लोल, के (ते) पछी जैनशैलीनो वास रे।
सूत्र सिद्धान्त भणावीया हो, वीर जिन जी ए भाख्या जेह रे।
स्वमार्ग मे पोषक थया हो, टाले मिथ्यामत नु गेह रे।
अन्यदर्शन ना शास्त्र नो हो, भणवाने करता उद्यम रे।
वैयाकरण पंच काव्य ना हो, अर्थ करे करावे सुगम्य रे।
नैषध नाटक ज्योतिष सिखे हो, अष्टादश जोया कोष रे।
कौमुदी महाभाष्य मनोरमा हो, पिंगल स्वरोदय तोष रे।
भाखा (भाष्य) ग्रन्थ जे कठिणता हो, तत्त्वारथ आवश्यक बृहद् वृत्ति हो।
"हेमाचार्य" कृत शास्त्रना रे हो, "हरिभद्र" "जस" कृत ग्रन्थ चित्त रे।
षट् कर्म ग्रन्थ अवगाहता हो, कम्मपयडीये प्रकृति सम्बन्ध रे।
इत्यादिक शास्त्रे भला हो, जैन अम्नाये कीध सुगन्ध रे।
सकलशास्त्रे लायक थया हो, जेहने थयु मइ सुइ ज्ञान रे।
—देवविलास (४. १–६)

२. गोमटसार दिगबरी, वाचना करे हित नेह।
—वही (ढाल १० से पूर्व, दूहा २)

उन्हे उदार भाव से शिक्षण देते थे और उनकी समस्याओ का समाधान करते थे। उनके लिए विद्यादान से बढकर और कोई दूसरा व्यसन नही था और विद्यादान करने मे कृपणता को उन्होने कभी बाधक नही होने दिया। विद्यादान वे नि.स्वार्थ भाव से एव बुद्धि विनोद के लिए करते थे।[1]

यद्यपि वे खरतरगच्छ मे प्रव्रजित हुए थे, किन्तु साम्प्रदायिक सकुचितता और सकीर्णता का उनमे अभाव था। साम्प्रदायिक औदार्य एव अनाग्रहशीलता की मुहर उनके जीवन ग्रन्थ के हर पृष्ठ पर लगी हुई थी। कवियण के अनुसार उनके पास विद्याध्ययन करने के लिए चौरासी गच्छ अर्थात् जैन धर्म के सभी आम्नायो के मुनिजन आया करते थे। भला जिस व्यक्ति के पास एक नही अपितु चौरासी गच्छो के मुनिजन अध्ययनार्थ आते हो निश्चय ही उसका ज्ञान अप्रतिम, अद्वितीय एव बेजोड होगा। सचमुच देवचन्द्र अपने युग के "मानक प्रज्ञा पुरुष" थे।

देवचन्द्र से जिन मुनियो ने अध्ययन किया था उनमे कतिपय मुनियो ने तो अपनी रचनाओ मे देवचन्द्र के विद्यादान के प्रति श्रद्धा पूर्वक आभार ज्ञापन किया है। प्रसिद्ध साहित्यकार प० मुनि जिनविजय, मुनि उत्तमविजय और विवेकविजय ने भी देवचन्द्र से अध्ययन किया था जो वस्तुत तपागच्छ मे दीक्षित थे। कविवर उत्तमविजय ने निम्न पक्ति के द्वारा उस बात का उल्लेख किया है कि पडित प्रवर जिनविजय ने देवचन्द्र से महाभाष्य का अध्ययन किया था—

---

१. गच्छ चोरासी मुनिवरु रे, लेवा आवे विद्यादान।
नाकारो नही मुख थकी रे, नय उपना विधान रे।
अपर मिथ्यात्वी जीवडा रे, तेहनी विद्यानो पोस।
अपूर्व शास्त्रनी वाचना रे, देता न करे सोस रे।
विद्यादानथी अधिकता रे. नही कोइ अवर ते दान।
न करे प्रमाद भणावता रे, व्यसन ना नही तोफान रे।

—देवविलास (१. १०–१२)

"महाभाष्य अमृत लह्यो,
देवचन्द्र गणि पास ।[1]

तपागच्छीय मुनि विवेकविजय द्वारा देवचन्द्र से अध्ययन करने की सूचना देवविलास से प्राप्त होती है।[2] उसके अनुसार विवेकविजय विलक्षण बुद्धि सम्पन्न विनीत मुनि थे। देवचन्द्र को भी उनसे स्नेह था।

उपाध्याय देवचन्द्र परम शास्त्रज्ञ थे। उन्होने अपने जीवन मे अनेक वार शास्त्रार्थ किया और विजेता हुए। विद्वज्जन देवचन्द्र को तर्कवादी ही कहते थे।[3]

देवचन्द्र विविध भाषाविद् थे। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा के अधिकृत विद्वान् थे। उन्हे सिन्धी भाषा का भी ज्ञान था। यद्यपि उनका व्यक्तित्व अनेक आयामो से सम्पृक्त था तथापि उनका ज्ञान व्यक्तित्व सर्वाधिक उल्लेखनीय है। वे एक प्रखर कवि, दार्शनिक, प्रवक्ता, व्याख्याता, लेखक और तत्त्वचितक महामनोषी थे। भाषा की ताजगी, शैली की उच्चता और विश्लेषण की तलस्पर्शता उनके ज्ञान व्यक्तित्व की अप्रतिम विशेषताए हैं। उनके आध्यात्मिक रस से आप्लावित मधुरिम गीत समग्र अध्यात्म जगत मे उज्ज्वल मोतियो की तरह विकीर्ण हैं। मेरे विचार से देवचन्द्र जैसा तत्त्वचिंतक अध्यात्म-पुरुष न होता तो अध्यात्म साहित्य की दीप्ति मे चार चाद न लगते।

कवियण ने उनकी ज्ञान सम्बद्ध शोध-दृष्टि का परिचय देने के लिए एक घटना विशेष का उल्लेख किया है। स० १७७७ मे पाटण मे शाही पोल के चौमुखवाडी पार्श्वनाथ मन्दिर मे सत्रह भेदी पूजा पढाई जा रही थी, उसमे आचार्य ज्ञानविमलसूरि और उपाध्याय देवचन्द्र सम्मिलित हुए। पूजा महोत्सव में श्रीमाली ज्ञातीय नगरसेठ तेजसी दोसी भी आया। तेजसी दोसी ने पहले कभी ज्ञानविमलसूरि से सहस्रकूट के हजार नाम

---

1 श्री जिनविजय निर्वाण रास, जैन रासमाला, पृष्ठ १४५

2. देवविलास (७. १३–१४)

3 द्रष्टव्य—देवविलास (९ १२)

पूछे थे, किन्तु आचाय ने उसे भविष्य मे वतलाने का आश्वासन दिया था। पूजा महोत्सव मे जसे ही तेजसी ने ज्ञानविमलसूरि को देखा तो सहसा उसको मनोजिज्ञासा अकुरित हो उठी, उसने पुन. आचार्य से सहस्रकूट के हजार नाम पूछे। आचाय ने कहा—सहस्रकूट जिन नाम लुप्त हो गये लगते है। देवचन्द्र आचार्य के समीप आसीन थे। उन्होने तत्काल कहा–आचार्य श्री! आप एक श्रेष्ठ विद्वान् होते हुए भी मृषा-भाषण क्यो करते है? ऐसा कहने से तो श्रावको को सहस्रकूट जिन नामो का वोध कैसे होगा? देवचन्द्र का यह सवाद ज्ञानविमलसूरि को अनर्गल और अपमानजनक लगा, वे वोले—"तुम मरुस्थलीय लोग शास्त्रीय रहस्यो को क्या जानो?" तेजसी दोसी ने कहा–आचार्यश्री! मुझे इस बात का निर्णय करना है। तव ज्ञानविमलसूरि ने देवचन्द्र से कहा—"तुमने मेरी बात को तो मृषा भाषण कह दिया। पर, क्या तुम सहस्रकूट के नाम वता सकते हो?" देवचन्द्र ने तत्काल अपने सदर्भ ग्रन्थालय से अपने शिष्य मनरूप को निर्देश देकर सहस्रकूट जिन नाम ग्रन्थ की पाडुलिपि मगवायी। जिसे पढकर ज्ञानविमल सूरि विस्मित एव प्रभावित हुए। ज्ञानविमलसूरि द्वारा देवचन्द्र से गुरु-नाम पूछने पर जव यह ज्ञात हुआ कि देवचन्द्र उपाध्याय राजसागर के शिष्य-प्रशिष्य है, तो उन्होने देवचन्द्र एव उनकी विद्वत् गुरु परम्परा की मुक्त कठ से प्रशसा की।[1]

पदारोहण

देवचन्द्र एक जैन मुनि थे। वे अपने समय के एक विश्रुत विद्वान् थे। सघ पर उनकी प्रतिभा की अनुपम छाप थी और वे जन-जन को श्रद्धा के अभिनव पात्र थे। सघ एवं वरिष्ठ गुरुजनो ने उनको आगमिक प्रशिक्षण उच्च अभ्यास, तीक्ष्णवुद्धि, मेधावी प्रतिभा तथा तप-सयम के पालन मे दक्ष देखकर समय-समय पर अनेक सम्माननीय पद प्रदान किये थे। देवचन्द्र ने अपनी कृतियो मे एव समसामयिक अन्य रचनाओ मे अपने देवचन्द्र के नाम के साथ पदोल्लेख भी किया है। मुनि[2] पद तो उन्हे दीक्षा स्वीकार

---

१ देवविलास (ढाल ४ के वाद दूहा १–१२, ढाल ५ १–१७)

२. पाठक श्री दीपचन्द सीस, गणि इम मगलें हो लाल।
वदे मुनि देवचन्द्र, सिद्धा जे सिद्धाचले हो लाल।
—पाच पाडव सज्झाय (१९)

करते ही प्राप्त हो गया था। उनके नाम के साथ गणि[1], उपाध्याय[2], विद्या-विशारद[3], जैनसिद्धान्त-शिरोमणि[4], गीतार्थ[5], वाचक[6] आदि पदो का उल्लेख उपलब्ध होता है।

भारत-पर्यटन

देवचन्द्र केवल तत्त्व-चिन्तक मनीषी हो नही थे, वरन् धर्म-गुरु भी थे। उन्होने देश मे ग्रामानुग्राम विचरण कर नीति और अध्यात्म की गगा-यमुना घर-घर पहुचाई थी। उनकी कृतियो के अन्त मे लेखन-स्थान आदि के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि उनकी यात्राएँ मुख्यत. सिंध, राजस्थान, पजाव, गुजरात एव सौराष्ट्र मे हुई थी। उनके चातुर्मासिक प्रवास वीकानेर, जैसलमेर, मुलतान, अहमदावाद, मरोठ, पालीताना, पाटण, खम्भात, राजनगर, नवानगर/जामनगर, भावनगर, सूरत, ध्रागध्रा, राधनपुर, लीवडी, वढवाण, परधरी, चूडा मे हुए थे। यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्थानो मे उनका चातुर्मासिक प्रवास हुआ था किन्तु उनकी जानकारी अभी तक उपलब्ध नही हो पाया है।

तीर्थ-यात्रा तथा भाव-प्रवहणता :

देवचन्द्र ने देश के विविध जैन तीर्थों की भी यात्राए की। जिन मन्दिर एव तीर्थ उनकी आस्था के आयाम थे। उन्होने अपने गीतो मे तीर्थो और तीर्थाधिपतियो की मुक्त कण्ठ से अभ्यर्थना/स्तवना की है। अब तक उनके तीर्थंकरो और तीर्थो की भक्ति से सम्वन्धित सौ गीत विभिन्न

---

१. कल्याणक जिणवर तणा ए, आपे परम कल्याण।
देवचन्द्र गणि सथुवे, पासनाह जग-भाण।
—पार्श्व जिन चैत्यवन्दन (४)

२ उपाध्याय श्री देवचन्द्र गणि शिष्य-युतै.
—शिलालेख, सहस्रफणा, हाजा पटेल अहमदावाद

३ देवविलास, ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, पृष्ठ २६८

४ पद्मविजय कृत उतमविजय निर्वाण रास

५ बुद्धिसागरसूरि कृत देवचन्द्र स्तुति

६ देवविलास (५ १७), (९ १५)

ज्ञान भण्डारो से प्राप्त हुए हैं। उनके भक्तिपरक गीतो से ज्ञात होता है कि वे न केवल तीर्थंकर को अपितु उनकी प्रतिमाओ को भी साधना का आदर्श मानते थे।

यही कारण है कि देवचन्द्र की अतिशय मण्डित तीर्थों के प्रति भी अगाध श्रद्धा थी , वे अपने प्रवचनो मे भी तीर्थ माहात्म्य प्ररूपित करते थे।

तीर्थ माहात्म्य नी प्ररूपणा,
गुरु तणी सांभले श्रावक जन्न ।[1]

शत्रुंजय-तीर्थ एवं पद यात्री सघ

तीर्थाधिराज शत्रुजय/पालीताना के प्रति देवचन्द्र के मन मे विशेष समर्पण भाव था। उन्होने अनेक बार शत्रुजय की यात्राएँ की, वहा के लिए साधु, साध्वी श्रावक, श्राविकाओ के पैदल चतुर्विध सघ निकलवाये, वहा प्राचीन जिन मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया और अनेक नयी जिन-मूर्तिया प्रतिष्ठित करवाईं।

देवचन्द्र का एक स्तवन है—श्री शत्रुजय स्तवन। इसके अनुसार विक्रम सवत् १८०४ मार्गशीर्ष शुक्ल १३ के दिन देवचन्द्र की सन्निधि में सघवी शाह कचरा, कीका और रूपचन्द ने उल्लास एव उत्साहपूर्वक पालीताना का सघ निकाला था। स्वय देवचन्द्र के शब्दो मे[2]—

चालो चालो ने राज श्री सिद्धाचल जईइं।
श्री विमलाचल तीरथ फरसी, आतम पावन करीइं।
संवत् अढार चिडोतरा वरस्ये, सित मगसिर तेरसीइ।
श्री सूरत थी भक्ति हरष थी, संघ सहित उल्लसीइं।
कचरा कीका जिनवर भक्ति, रूपचन्द जी इन्द्र।
श्री संघ ने प्रभुजी भेटाव्या, जगपति प्रथम जिणंद....२

कवियण ने अपनी रचना "देवविलास" में लिखा है कि विक्रम संवत् १८०८ में देवचन्द्र की सन्निधि मे एव उनके उपदेश से गुजरात से

---

१ देवविलास (६.५)

२ श्री मद्देवचन्द्र पद्य पीयूष, पृष्ठ १०३, श्री शत्रुंजय स्तवन (१, ६, ७)

शत्रुजय का संघ निकला था। इस संघ ने गुजरात से निर्गमन किया था, किन्तु प्रस्थान स्थल का कवियण ने उल्लेख नही किया है। कवियण के अनुसार[1] —

संवत अढारने आठ में, गुजरात थी काढ्यो सघ।
श्रीगुरुना गुरु उपदेश थी, शत्रुजय नो अभग . ३

देवविलास के अनुसार विक्रम सवत् १८१० मे कचरा कीका ने एक वार पुनः उनके तत्त्वावधान मे शत्रुँजय का सघ निकाला था—

संवत दस अष्टादशे, कचरा साहजीइ संघ।
श्री शत्रुजय तीर्थ नो, साथे पधार्या देवचन्द्र[2] ..

शत्रुजय-तीर्थ का पुनरुद्धार

देवचन्द्र ने शत्रुजय तीर्थ के लिए न केवल यात्री सघ निकलवाये अपितु शत्रुजय के उद्धार के लिए उन्होने अपने जीवन मे प्राप्त उपलब्धियो का भी बलिदान किया था। तीर्थ के वास्तुशिल्प को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उन्होने जो श्रम किया उसे इतिहास कभी नही भुला पाएगा। शायद शत्रुजयोद्धार के सम्पूर्ण इतिहास मे कोई भी ऐसा उद्धारक नही हुआ है जिसने गाव-गाव मे जाकर शत्रुजय की महिमा के गीत गाये, प्रवचनो मे उसकी गरिमा को गुजाया, उसके उद्धार के लिए प्राण पण से श्रम किया। उन्होने इसके लिए गुजरात के कर्मठ कार्यकर्ताओ एव धनाढ्य जैन बन्धुओ से सम्पर्क किया। उनकी प्रेरणा से शत्रुजय तीर्थोद्धार के लिए खम्भात, अहमदाबाद, सूरत, राजनगर, भावनगर आदि नगरो के विभिन्न संघो मे अर्थ एकत्रीकरण हुआ। उन्होने यह उद्धार का कार्य विस्तृत पैमाने मे करवाया। जो सवत् १७८१ से ८३ के तीन वर्षों तक लगातार चला।[3] तत्पश्चात् सवत् १७८५ से ८६ तक पुनः जीर्णोद्धार-कार्य हुआ।[4]

---

१. देवविलास (९ १)

२. देवविलास (९ ४)

३ कारखानो तिहा सिद्धाचल ऊपरे, मडाव्यो महाजन्न।
संवत् सत्तर एकासीये, ब्यासीये त्यासीये कारीगरे काम।
—देवविलास (७ ६-७)

४. देवविलास (७.९)

तीर्थ-प्रबन्ध और प्रबन्ध समिति की स्थापना :

देवचन्द्र ने शत्रुजय तीर्थ के समुचित प्रबन्ध हेतु भी गुजरात एवं सौराष्ट्र के प्रमुख जैन सघो को प्रेरणा दी थी। तीर्थ सचालन के लिए उन्होने एक समिति का गठन किया, जिसे परवर्ती कवियो ने कारखाने के नाम से सम्बोधित किया। वस्तुत उस समय समिति को पेढी या कारखाना कहा जाता था। यह वही पेढी है जो आज "आणन्दजी कल्याणजी की पेढी" के नाम से सारे देश मे विख्यात है। यह श्वेताम्बर जैन परम्परा की प्रतिनिधि समिति है। वास्तव मे इस पेढी की स्थापना उसी देवचन्द्र की पुण्य प्रेरणा मे हुई जिनके प्रति बडे-बडे आचार्य एव मूर्धन्य विद्वान नतमस्तक है। इस पेढी के वट वक्ष की जडे धीरे-धीरे इतनी गहरी पैठती गई कि आज वह देश की सर्वाधिक धनाढ्य, कार्यदक्ष एव नेतृत्व सम्पन्न समिति के रूप मे हमारे समक्ष विद्यमान है। इस समिति के नामकरण के सन्दर्भ मे निम्न मान्यता भी प्रचलित है।

अहमदाबाद मे जोधपुर के श्री रतनसिंह भण्डारी सूबेदार थे। उस समय अहमदाबाद के एक तत्त्वज्ञ सेठ शाह आणन्दरामजी जो ढुढियो के चक्कर मे थे, श्रीमद देवचन्द्रजी महाराज के पास आकर तत्त्वचर्चा किया करते थे। वे गुरु महाराज के अथाह ज्ञान को देखकर अभिभूत होकर मूर्ति पूजा के दृढ श्रद्धालु और श्रीमद् के परम भक्त हो गए। उन्होने सूबेदार श्री रतनसिंहजी भण्डारी के समक्ष कहा—"मारवाड से आये हुए समस्त विद्याओ मे पारगत ज्ञानियो मे शिरोमणि गुरु महाराज यहा विराजते हैं।" भण्डारीजी अपने अग्रेश्वरी श्री आणन्दरामजी के साथ श्रीमद् के सम्पर्क मे आये और उनके तत्त्व-ज्ञान की गहराई देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे प्रतिदिन पूजा अर्चा करने लगे। अहमदाबाद मे मृगी उपद्रव फैलने पर भण्डारीजी की प्रार्थना से श्रीमद् ने रोगोपशान्ति की। मराठा सेना के साथ रणकुजी ने जब अहमदाबाद पर चढाई की तो श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज की कृपा से अल्प सेना होने पर भी विजय प्राप्त कर गुजरात को बचाने मे भण्डारीजी सफल हुए। अहमदाबाद मे मन्दिर बिम्ब प्रतिष्ठाए हुई। एक दिन सतरह भेदी पूजा हो रही थी। शत्रुजय के हेतु पेढी की स्थापना हुई, उपाध्याय साधुकीर्तिजी कृत सतरह भेदी पूजा की तेरहवी अष्ट मगल पूजा के अन्त मे जब "आणन्द कल्याण सुख रस मे" पद कर्णगोचर हुआ तो भण्डारीजी ने सुझाव दिया कि पेढी का नाम यही रखा

जाय। गुजरात के सूबेदार श्री भण्डारीजी द्वारा पेढी का नामकरण सुनकर उनके प्रधान श्री आणन्दराम शाह को उसमे अपना नाम आते देखकर बडी प्रसन्नता हुई। सघ ने पेढी का नाम "आनन्दजी कल्याणजी" प्रसिद्ध कर दिया।[1]

जबकि एक विद्वान श्री रतिलाल दीपचन्द देसाई ने आणन्दजी कल्याणजी पेढी का सस्थापक उपाध्याय देवचन्द्रजी को नही माना है। उनकी अमान्यता का आधार निम्न पद्य है :—

कारखानो तिहां सिद्धाचल ऊपरे, मडाव्यो महाजन्न।
द्रव्य खरचाये अगणित गिरि उपरे, उल्लसित थाये तन्न।[2]

श्री देसाई का मानना है कि देवविलास मे देवचन्द्र की प्रेरणा से सिद्धाचल के ऊपर कारखाना बनने का जो बात लिखी गई है उसका अर्थ पूर्वापर सन्दर्भो को देखते हुए पेढी की स्थापना न होकर तीर्थ के जीर्णोद्धार से सम्बन्धित है। वस्तुत: देवविलास मे किये गये उल्लेखो से तीर्थ का जीर्णोद्धार से सम्बन्धित अर्थ प्रगट होता है। किन्तु, सन्दर्भ मे उल्लिखित कारखाना शब्द जैन परम्परा का एक पारिभाषिक एव रूढ शब्द है। यह शब्द जैन परम्परा मे उस समिति के लिए प्रयुक्त होता रहा है जो किसी तीर्थ स्थान की व्यवस्था सम्भालती है। स्वय देसाई ने भी तो अपनी पुस्तक 'सेठ आणन्दजी कल्याणजी नी पेढी नो इतिहास' मे इस बात को स्वीकार किया है। उन्होने लिखा है कि "तीर्थ स्थान की पेढी को श्री संघ मुख्यत: कारखाने के नाम से सम्बोधित करता है। पुराना सारा रेकार्ड, बही खाते आदि भी कारखाने के नाम से आज भी सुरक्षित हैं।" देसाई द्वारा बताया गया यह अर्थ सर्वमान्य है। मैंने आज भी कई स्थानो मे ऐसी सस्थाए/समितिया देखी हैं जो अपने नाम के साथ समिति या पेढी के लिए "कारखाना" शब्द का प्रयोग करती है। निपानी, हुबली, बेलगाम, आदि स्थानो मे मन्दिरो की प्रबन्ध समितियो के नाम के साथ 'कारखाना' शब्द व्यवहृत हुआ है।

---

१ श्री भवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७४

२ देवविलास (७ ६)

'आणन्दजी कल्याणजी पेढी नो इतिहास' पुस्तक के अनुसार वि.स. १७८७ से पहले पेढी अहमदाबाद मे थी, इसका प्रमाण पालीताना के वही खातो मे उपलब्ध है। मेरी मान्यतानुसार पेढी की सस्थापना देवचन्द्र द्वारा होने की पुष्टि इसी तथ्य से हो जाती है।

कवियण के उल्लेखानुसार सिद्धाचल (पालीताना) पर देवचन्द्र की प्रेरणा से महाजन लोगो ने एक ऐसी समिति/कारखाना/पेढी सस्थापित की, जिसने अथाह धन व्यय कर तीर्थोद्धार किया, तीर्थ प्रबन्ध किया। पालीताना के वही खातो मे आणन्दजी कल्याणजी का १७८७ से पूर्व नामोल्लेख मिलता है। १७८७ वह सवत् है जब सारे गुजरात मे देवचन्द्र का सर्वाधिक प्रभाव था। शत्रुजय के जीर्णोद्धार एव व्यवस्थापन के लिए सवत् १७८० से १८१० वर्षों के मध्य अन्य किसी आचार्य का नामोल्लेख नही मिलता है। यद्यपि आज आणन्दजी कल्याणजी की पेढी पर तपागच्छ का अधिक प्रभाव है। किन्तु, किसी का प्रभाव होने मात्र से उसे अपने जनक को अस्वीकार नही करना चाहिये। जहा तक पेढी के 'आणन्दजी कल्याणजी' के नामकरण का प्रश्न है, यह कुछ परवर्ती है। देवचन्द्र ने पेढी की स्थापना करवाई थी। उसके नामकरण का उल्लेख नही मिलता है। वस्तुत. पूर्वकाल मे किसी भी पेढी के नामकरण नही होते थे। प्राप्त सूचनाओ के अनुसार सवत् १८६४ मे अहमदाबाद अग्रेजो के शासन मे आया, तो उस समय अग्रेजो के कानून एव अनुशासन के अन्तर्गत इस संस्था का पजीकरण, विधिमूलक नामकरण हुआ।

जिन-मन्दिरो की प्रतिष्ठापना :

देवचन्द्र के जीवन वृत्त के पर्यवेक्षण से यह अवगत होता है कि वे अपने जीवन मे अनेक स्थानो के जिन मन्दिरो के प्रतिष्ठापक रहे है। अब तक किये गये अनुसन्धान से ऐसा आभास होता है कि देवचन्द्र ने बीसो मन्दिरो में प्रतिष्ठा करवाई थी। या प्रतिष्ठा महोत्सवों मे अपनी सन्निधि दी। विभिन्न मन्दिरो मे उत्कीर्ण शिलालेखो के अनुसार देवचन्द्र ने शत्रुजय आबू, गिरनार, राजनगर, लीवडी, ध्राग्रध्रा, नवानगर, चूडा आदि मे अनेक जिन-मन्दिरो, जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा की थी।

सवत् १७८३ मे माघ शुक्ल ५ के दिन देवचन्द्र द्वारा शत्रुंजय तीर्थ खरतरवसही नामक ट्रक/शिखर पर प्रतिष्ठा करने का अभिलेख चन्द्रनुमा सिद्धचक्र शिला से सिद्ध होता है—

"संवत् १७८३, माघ सुदि ५, सिद्धचक्र धणपुर के रहने वाले श्रीमाली लघुशाखा के खेता की स्त्री आणदबाई ने अर्पण की। वृहत् खरतरगच्छ की मुख्य शाखा में श्री जिनचन्द्रसूरिजी हुए, जिनको अकबर बादशाह ने युगप्रधान पद दिया था। उनके शिष्य महोपाध्याय राजसागर जी हुए, उनके शिष्य महोपाध्याय ज्ञानधर्मजी, उनके शिष्य उपाध्याय दीपचन्द्रजी, उनके शिष्य पंडितवर देवचन्द्रजी ने प्रतिष्ठा की।"[1]

सवत् १७८४ मार्गशीर्ष कृष्ण ५ के दिन अहमदाबाद मे एक चैत्य की प्रतिष्ठा की थी जो अहमदावाद की हाजा पटेल पोल मे स्थित है। वहा की सहस्रफणा पार्श्वनाथ की प्रसिद्ध प्रतिमा के नीचे जो शिलालेख उत्कीर्ण है इस प्रकार है—

"संवत १७८४ वर्षे मागशीर वदि ५ दिन सहस्रफणा थी मंडित श्री पार्श्वनाथ परमेश्वर बिंब कारितं उपकेशवशे साह प्रतापशी भार्या प्रतमदे पुत्र ठाकरसीकेन आणंद बाइ भगिनी झवरयुतेन वृहत्खरतर-गच्छे भट्टारक श्रीयुगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरिशिष्याणां महोपाध्याय श्री .... शिष्य उपाध्याय श्री देवचन्द्रगणि शिष्ययुतैः"।

'देवविलास' कृति के अनुसार विक्रम सवत् १७८५ एव ८६ मे देवचन्द्र ने पालीताना मे अनेक जिन-विम्बो की प्रतिष्ठा की थी।[2] सवत् १७८७ मे पालीताना में देवचन्द्र द्वारा पुनः प्रतिष्ठा करने का उल्लेख मिलता है।[3]

---

१ द्रष्टव्य डॉ वूल्हर कृत लेख—सग्रह ३४

२. पंचासीये छयासीये जाणीये, वुद्धि तणा जे भडार ' सु. ९'''
पालीताणे प्रतिष्ठा करी भली, खरच्यो द्रव्य भरपूर
वधुसाये चैत्य शत्रुजय उपरे, प्रतिष्ठा देवचन्द्रनी भूरी''' सु. १०।
—देवविलास

३. डॉ. वूल्हर, कृत लेख सग्रह न ३५–३६

कापरडा के जिनालय निर्माता भानाजी भण्डारी के वशजो का एक शिलालेख मिला है जिसमे देवचन्द्र द्वारा शत्रुँजय, आबू, गिरनार, कापरडा आदि मे प्रतिष्ठा करने का उल्लेख है—

स्वस्ति श्री ज्यो मगलाभ्युदयश्च, सवत् १७९४ वर्षे शाके १६५९ प्रवर्तमाने आषाढ सुदि १० रविवारे ओइस वशे वृद्ध शाखाया नाडूल गोत्रे भंडारी जी श्रीभानाजी तत्पुत्र भं. नारायणजी पुत्र भ ताराचद जी पुत्र अनेक चत्योद्वारक भ. रूपचंदजी तत्पुत्र न्यायकलित अनेक जैन शासन कार्यकारक भ. शिवचन्दजी पुत्र हर्षचन्द्र युतेन श्रीशत्रुँजयोपरि चैत्योद्धार कारितं श्री पार्श्व विंबं स्थापित खरतरगच्छे श्रीजिनचन्द्रसूरि विजयराज्ये तथा प्रतिष्ठितं च महोपाध्याय श्री राजसागरजी तत्शिष्य उ० श्री ज्ञानधर्मजी तत्शिष्य उ० श्री दीपचंदजी तत्शिष्य संवेगमार्गाग्रणी श्री शत्रुँजय गिरनार आबू प्रमुख चैत्यप्रतिष्ठाकारक पंडित देवचद्रेण डूगरवाल सा भैरव वाप्त (? दास) सा. किसनदासोत श्री जैतारण वास्तव्य पुर धारण ली० मेवग किशोरदास बीकानेरीया। शुभं भवतु। श्री नेमिनाथ विंबं स्थापित।[1]

कवियण ने अपनी रचना देवविलास मे लिखा है कि देवचन्द्र ने स. १७९५ मे एव स १८१० माघ शुक्ल १३ मगलवार के दिन पालीताना मे प्रतिष्ठा की थी।

व्यक्तित्व . बहुमुखी प्रतिभा :

उपाध्याय देवचन्द्र का व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न था। उनका व्यक्तित्व "यथा नाम, तथा गुण" की उक्ति को चरितार्थ करता है। उनके एक व्यक्तित्व मे कई रूप मुखरित हुए है, जिनसे न केवल तत्कालीन परिवेश और इतिहास प्रभावित हुआ, अपितु परवर्ती काल एव वर्तमान काल भी अत्यन्त प्रभावित है। कवियण ने उनके व्यक्तित्व मे निम्नलिखित प्रतिभा एव महनीयता का दर्शन किया था—

१. सत्यवादिता
२ बुद्धिमत्ता
३. ज्ञानवन्तता
४. शास्त्र-ध्यानमयता

---

१ उद्धृत—श्री भवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ १७५-७६

५. निष्कपटता ६. क्रोधविहीनता
७ निरभिमानता ८. सूत्राभिव्यक्तिता एवं यौक्तिकता
९. सकलशास्त्र पारगामिता १० औपकारिकता
११ अध्यापनशीलता
१२ ग्रन्थ-सचयशीलता एवं ग्रन्थोद्धारकता
१३. उपाध्याय/वाचक-पदारूढता
१४. शास्त्रार्थविजयशीलता/वादीजयता
१५. उपदेश-प्रखरता एव नूतन चैत्य प्रतिष्ठापकता
१६ वचनातिशयता/वाणी-ओजस्विता
१७. राजकीय प्रभावकता
१८ रोगनिवारणता
१९. प्रख्यातता
२० क्रियोद्धारकता
२१ मस्तक मे मणिधारणता[1]

देवचन्द्र की वहुमुखी प्रतिभा ने अनेक मूर्धन्य विद्वानो को भी प्रभावित किया। पचासो विद्वानो ने उन पर अपनी कलम चलायी है। यहां प्रस्तुत है परवर्ती दो-चार प्रमुख विद्वानो की अभिव्यक्तिया –
कवियण :—

पंचमकाले देवचन्द्रजी, गंधहस्ति जे तुल्य ।
प्रभावक श्रीवीर नो, थयो अधुना बहुमूल्य ।[2]
गुणतो सर्वत्र प्रगट छे, देश विदेश विख्यात ।
कवियण नी अधिकाइतां, स्युं एहमे छे वात ।
कवियण कहे एक जीभ ते, किम गुणवर्णन जाय ।
सागर में पाणी घणो, गागर में न समाय ।[3]
एहवा पुरुष थोड़ा प्रभुमार्ग ना प्रकाश करवाने उछांहि ।।[4]

---

१. देवविलास (१.२–१८)
२ वही (प्रास्ताविक १३)
३. वही (प्रथम ढाल के पश्चात्, दूहा २–३)
४. वही (७ । १७)

आचार्य ज्ञानविमलसूरि '—

तुम वाचक तो जैनना काजी, तुमे जैनना थंभ छो गाजी ।
आदि घर छे तमारुं भव्य, तुमे पण किम न होये काव्य ।।[1]

आणदराम '—

गुरु ज्ञानी शिरोमणि, जिनधर्मे वृषभ समान ।[2]

पद्मविजय '—

खरतर गच्छ मांही थया रे लोल, नामे श्री देवचंद रे सोभागी ।
जैन सिद्धांत शिरोमणि रे लोल, धैर्यादिक गुण वृन्द रे सोभागी ।।

आचार्य बुद्धिसागरसूरि '—

ज्ञानदर्शनचारित्र-व्यक्त-रूपाय योगिने ।
श्रीमते देवचन्द्राय, संयताय नमो नमः ।
द्रव्यानुयोगगीतार्थो, व्रताचार-प्रपालक ।
देवचन्द्र-सम साधुरर्वाचीनो न दृश्यते ।
आत्मोद्‌गारामृत यस्य, स्तवनेषु प्रदृश्यते ।
त्रिविधतापतप्ताना, पूर्ण-शान्ति-प्रदायकम् ।
आत्मशमामृतस्वादी, शास्त्रोद्यान-विहारवान् ।
यत्कृत-शास्त्रपाथोधौ, स्नानं कुर्वन्ति सज्जनाः ।
सिद्धान्तपारदृश्वा यो, गुणानुरागि-शेखर ।
माध्यस्थ्य यस्य सच्चित्ते, तस्मै नित्य नमो नम ।[4]
सम्भूत अन्तरात्मा य, आत्मानुभववेदक ।
अप्रमत्तदशायोगी, जिनेन्द्राणां प्रसेवकः ।।
श्रुतागमप्रलीनाय, भक्ताय ब्रह्मरागिणे ।।
ध्यानसमाधिरक्ताय, विश्ववन्द्याय साधवे ।
श्रीमते देवचन्द्राय, पूर्णप्रीत्या नमो नम. ।।

---

१ देव विलास (५ । १७)

२ वही (८ वी ढाल से पूर्व, दूहा २)

३ उत्तमविजय निर्वाण रास

४ देवचन्द्र स्तुति (१–७), श्रीमद् देवचन्द्र, भाग २, पृष्ठ १ ।

भारतजैनसंघे यः, प्रादुर्भूतो महामुनि ।
मोहतमोविनाशेन, देवचन्द्रो हि भास्करः ।
शीतलः सर्वलोकानामान्तर शान्तिकारकः ।
क्षमा पृथ्वी-समा यस्य, गाभीर्यं सागरोपमम् ।।
धैर्यं मेरुसम यस्य, गगावन्निर्मलं मन. ।
तस्मै श्रीदेवचन्द्राय, पूर्णप्रीत्या नमो नमः ।
सर्वगच्छेषु माध्यस्थ्यं यस्य सत्य प्रतिष्ठितम् ।
तस्मै श्रीदेवचन्द्राय, पूर्णप्रीत्या नमो नम. ।
तपागच्छोय साधुभि, सार्धं मत्री प्रवर्तक ।
आदर्शो देवचन्द्रोऽभूत्, सार्वसाधुशिरोमणिः ।।[1]

समाधि-मरण :—

कवियण के अनुसार वि. स. १८१२ मे उपाध्याय देवचन्द्र का चातुर्मासिक प्रवास अहमदाबाद मे था। यह उनका अन्तिम चातुर्मास था। चातुर्मासिक काल मे ही वे व्याधि ग्रस्त हो गये। उन पर वायु का प्रकोप अधिक हो गया था। पर उस आत्म-साधक तत्त्वचिंतक मनीषी ने तन मे महत् व्याधि होते हुए भी मन मे परम समाधि को सजोए रखा। जीवन की अन्तिम सास तक उन्होंने प्रशान्त भाव से परमात्मध्यान पूवक अन्तरात्मा मे आरोहण किये रखा। वि स १८१२ भाद्रपद अमावस्या की तमसावृत रजनी वेला मे अपने चैतन्य ज्योति को ऊर्ध्वलोक की ओर यात्राशील बना लिया। उनका समाधि मरण हुआ। मृत्यु शाश्वत है, इसे टाला नही जा सकता। देवचन्द्र ने जितना उज्ज्वल और ज्योतिमय जीवन व्यतीत किया उसे विश्व द्वारा कभी भुलाया नही जा सकता। उनको देह छूट गई, पर अन्तरज्योति ने भूमा रूप वरण कर लिया।

उन्होने मृत्यु से पूर्व ज्ञान, भक्ति और कर्म के द्वारा त्रिवेणी सगम मे जीवनभर आत्म प्रक्षालन किया। उनका ज्ञान—गाम्भीर्य, भक्ति-प्रवणता, आत्मवत् सर्वभूतेषु की अवधारणा से अभिभूतता, साम्प्रदायिक औदार्य, आचारसुनिष्ठा, निजानन्दरसलीनता और साहित्य सेवा उनके जोवन को अमरता की छाँह प्रदान करती है।

---

१. वही (१०–१२, १४–१६, २०. २२)

देवचन्द्र के देहावसान के उपरान्त उनके चरण-प्रतीक अहमदाबाद मे हरिपुर मे स्थित जैन-उपाश्रय मे प्रतिष्ठापित किये गये। मैंने स्वय उस चरण-प्रतीक के दर्शन किये है एवं उसके चित्र को देवचन्द्र की ही एक पुस्तक "विचार रत्नसार" मे प्रकाशित करवाया है। चरण-प्रतीक पर निम्न शिलालेख उत्कीर्ण है—

श्रीजिनचन्द्रसूरिशाखायां खरतरगच्छे संवत् १८१२ वर्षे माह वदी ६ दिने उपाध्याय श्रीदीपचन्द्रजी शिष्य उपाध्याय श्री देवचन्द्रजीना पादुके प्रतिष्ठिते।

यद्यपि देवविलास के अनुसार देवचन्द्र के अन्त्येष्टि स्थान पर एक स्तूप निर्मित किया गया, पर अभी तक उस स्तूप के अवशेष प्राप्त नही हुए है।

शिष्य-परिवार '—

उपाध्याय देवचन्द्र का शिष्य-परिवार बहुत विस्तृत तो नही था, किन्तु ज्ञानगुण समृद्ध था। उनके एक प्रमुख शिष्य का नाम मनरूप मुनि था। वे सुविनीत, व्यवहारकुशल एव पडित थे। विजयचन्द नामक शिष्य तो काफी प्रतिभावान् था। विजयचन्द एक प्रवलवादी, बुद्धिजीवी और तर्कवादी था। उसने अनेकश विद्वानो को शास्त्रार्थ मे परास्त किया था। वक्तुजी और रायचन्द नामक दो शिष्यो का गुरु भक्तो और सेवाकर्त्ताओ के रूप मे उल्लेख प्राप्त होता है।[1] देवचन्द्र के शिष्य-परिवार की इससे अधिक जानकारी प्राप्त नही होती है।

साहित्य

उपाध्याय देवचन्द्र का जीवन-वृत्त जितना प्रभावशाली रहा, उनका साहित्य भी उससे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। उनका साहित्य उनके जीवन का ही प्रतिविम्ब है। वे परम उच्च कोटि के विद्वान् थे। उन्होने सभी शास्त्रो का गहन अध्ययन किया था। जहा वे उच्च कोटि के शास्त्र पारगत विद्वान थे, वही वे वहुआयामी, वहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्य-सृष्टा भी थे। उन्होने जैन दर्शन सम्बद्ध गूढ विषयो को अपनी

---

१ द्रष्टव्य देवविलास, (९ । ११–१३)

प्रतिभा से गद्य-पद्य के कलेवर मे साधारण जनभोग्य बनाया। सरल और सुबोध भापा मे गूढ और दुरूह विषयों का भी इस तरह सरलीकरण किया कि साधारण व्यक्ति की पहुच के परे कुछ नही रह गया। मधुर, भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी गीतो एव रचनाओ द्वारा उन्होने हिन्दी अध्यात्म साहित्य को समृद्ध एव लोकप्रिय बनाया है। आतमनिष्ठा एव तत्त्व-मीमासा से अनुगूजित हैं उनकी रचनाए। अपने क्षेत्र में उनका प्रयास अद्वितीय और बेजोड रहा। आज तक अन्य किसी साहित्यकार ने हिन्दी भाषा (प्राचीन) मे जैन दार्शनिक वातो को इतने व्यापक एवं सरल रूप मे गेयात्मक नही बनाया। उनका भक्ति-साहित्य जैन दर्शन की मान्यताओ के अनुकूल है। उसमे ईश्वरवादी भक्ति-परम्परा का सर्वथा अभाव है। अत' उनका साहित्य पूर्णत जैन दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है।

देवचन्द्र गद्य एव पद्य दोनो में सिद्धहस्त थे। उनकी रचनाओ मे गम्भीर एव प्रेरणादायी भावो के अतिरिक्त सशक्त एव परिपक्व शैली के दर्शन होते है। उन्होने सरल से सरलतर विषय को भी अध्यात्म सम्पृक्त बनाने का प्रयास किया है। "चौवीसी" जैसी भक्तिपरक रचना को गहन तात्त्विक एव आध्यात्मिक तत्त्वो से सराबोर करना इसका एक उदाहरण है। भापा का भावो के अनुरूप होना उनकी विशेषता है। उनका साहित्य लेखन मुख्यतः सस्कृत एव हिन्दी (प्राचीन) मे हुआ है।

उपाध्याय देवचन्द्र द्वारा रचित कृतियो की सख्या विस्तृत है। उनकी हस्तलिखित पाण्डुलिपिया भारत के विभिन्न जैन ज्ञान भण्डारो मे उपलब्ध हैं। श्री जैसलमेर ज्ञान भण्डार, जैसलमेर, श्री अभय जैन ग्रथालय, वीकानेर, श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत, श्री जिनकुशलसूरि ज्ञान भण्डार, बनारस, श्री लीम्बडी ज्ञान भन्डार, लीम्बडी, श्री एल० डी० इस्टीट्यूट, अहमदाबाद, श्री पूरणचन्द नाहर सग्रहालय, कलकत्ता आदि ज्ञान भण्डारो मे उनकी अनेक कृतियो के उपलब्ध होने की सूचना साहित्य जगत को प्राप्त है। अनेक प्रकाशको एव विद्वानो ने उनकी अनेक कृतियो को प्रकाशित और सम्पादित किया है। अब तक उनकी जिन कृतियो का पता लगा है, उनके नाम इस प्रकार है—

गद्य साहित्य

१ आगमसार
२ नयचक्रसार
३ विचार-सार-टीका
४ विचाररत्नसार
५. छूटक प्रश्नोत्तर
६ ज्ञानमंजरी
७ कर्मग्रंथ-स्तवक
८ गुरुगुणषट्त्रिंशिका
९ चौवीसी-बालावबोध
१० बाहुजिन स्तवन स्तवक
११ अध्यात्म प्रबोध
१२ अध्यात्मशान्तरस वर्णन
१३ तत्त्वावबोध
१४. दण्डक बालावबोध
१५ कुम्भस्थापना भाषा
१६. सप्तस्मरण स्तवक
१७. देशनासार
१८. तीन पत्र

पद्य साहित्य

१ अध्यात्म-गीता
२. ध्यानदीपिका चतुष्पदी
३ द्रव्यप्रकाश
४ स्नात्र-पूजा
५ नवपदपूजा
६ कर्म संवेद्य
७. चौबीसी
८. अतीत चौवीसी
९ विहरमान जिन वीसी
१०. वीर-निर्वाण
११ अष्ट प्रवचन माता
१२ पच भावना
१३ गजसुकुमाल सज्झाय
१४ प्रभजना सज्झाय
१५ साधुपद स्वाध्याय
१६ उदयस्वामित्व पंचाशिका
१७ रत्नाकर पच्चीसी भावानुवाद
१८. ध्यानचतुष्टय विचार गर्भित शीतल जिन स्तवन
१९ अनाथी निर्ग्रन्थ सज्झाय
२०. ढढण ऋषि सज्झाय
२१ दाविड वारिखिल्ल सज्झाय
२२. द्वादशाग चौदह पूर्व
२३ विवेक परिवार
२४. १११ फुटकर गीत भक्तिपरक एव उपदेशपरक

यहा हम उनके सम्पूर्ण कृतित्व का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत न करके मात्र श्री देवचन्द्र "चौवीसी" (बालावबोध सहित) का ही अनुशीलनात्मक अध्ययन आकलित करने का प्रयास करेगे।

श्री देवचन्द्र चौवीसी : एक समीक्षात्मक परिशीलन

प्रस्तुत चौवीसी का रचना काल अनुल्लिखित है। इस चौवीसी पर अधुना पर्यन्त किये गये शोध कार्य मे किसी विद्वान ने इसका रचना काल नही वताया है। अत. मैंने विविध ज्ञान भण्डारो/पुस्तकालयों से इस सन्दर्भ में सम्पर्क किया। इस कृति की हस्तलिखित पाण्डुलिपियां लीम्बडी ज्ञान भण्डार, लीम्वडी, जैसलमेर ज्ञान भण्डार, जैसलमेर, रामघाट मन्दिर ज्ञान भण्डार, वनारस, अभय जैन ग्रथालय, वीकानेर आदि अनेक प्राचीन ग्रंथ-संग्रहालयो मे उपलब्ध हैं। इनमे लीम्बडी ज्ञान मन्दिर के २०६२ वे क्रमाक पर १३३ प्राचीन पत्रों मे यह कृति बालावबोध सहित लिखित है। उस कृति के अन्तिम पत्र में उसका लेखन काल स० १७८८ अकित है। तदनुसार यह निश्चित है चौवीसी वालाववोध का रचना काल यही है। इसकी रचना कवि ने लगभग ५३ वर्ष की आयु मे की थी। यह भी सम्भव है कि कवि ने चौवीसी की रचना पहले कर ली हो और अर्थ-वोध एवं भाव-स्पष्टीकरण के लिए वाद मे वालावबोध लिखा हो, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि यह अठारहवी शदी के उत्तरार्ध मे रचित है। रचना-स्थल न तो चौवीसी का ज्ञात हो पाया है और न ही वालाव-वोध का।

प्रस्तुत चौवीसी का प्रकाशन-कार्य अनेक अध्यात्म-प्रेमियो द्वारा हुआ है जिनमें श्रावक श्री भीमसिंह माणक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने सं. १९६७ में इस चौवीसी का वालावबोध सहित प्रकाशन किया। श्री उमरावचन्द जरगड ने चौवीसी का हिन्दी भावानुवाद एव सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया था। चौवीसी के दो गुजराती अनुवाद भी मैंने परिदृष्ट किये हैं। गत वर्ष मैंने भी चौवीसी का व्याख्यात्मक अनुवाद किया था, जिसे मूर्तरूप दे रही है श्री जिनदत्तसूरि सेवा सघ, कलकत्ता अपने मुख-पत्र कुशलनिर्देश के मासिक अंको मे। विविध प्रयास होने के वाद यह आवश्यकता वनी रही कि चौवीसी मे निहित भावो का स्पष्टीकरण यदि स्वय चौवीसीकार द्वारा ही प्रस्तुत हो तो लक्ष्याभिमुख वोध प्राप्त करने मे असुविधा न हो। प्रसन्नता है, प्राकृत भारती अकादमी इस आवश्यकता को पूर्ण करने जा रही है। वह इस चौवीसी का कवि द्वारा लिखित बालावबोध हिन्दी रूपान्तरण (रूपान्तरकर्तृ . प्रवर्तिनी

साध्वी श्री सज्जनश्री) प्रकाशित कर रही है। अकादमी का यह प्रस्तुतीकरण स्वागत योग्य है।

श्री देवचन्द्र चौवीसी एव उसकी व्याख्यात्मक रूपान्तरित छवि मेरे समक्ष है। मै इसकी सूक्ष्मता, विद्वत्ता एव प्रभावकता से शब्दशः परिचित हूँ। इसका आद्यन्त गहन अध्ययन करने के बाद यह सहजतः कहा जा सकता है कि जिन-परम्परागत भक्ति-साहित्य मे प्रस्तुत कृति का स्थान शाश्वत है।

प्रस्तुत कृति देवचन्द्र की वह कृति है, जो कहने मे भक्ति काव्य है, किन्तु उन्होने स्तुतिपरक गीतो मे जिस ढग से दार्शनिक तथ्यो को अनुस्यूत किया है, वह अद्वितीय है। गीतो के माध्यम से दर्शन को प्रस्तुत कर दार्शनिक बोध की दुरूहता को न्यूनतर करने का उनका यह प्रयास निश्चयत प्रशसनीय है। उनका यह प्रस्तुतीकरण न केवल आगमिक एव शास्त्रीय है, अपितु स्वय अनुभूतियो का अभिव्यक्तिकरण भी है। यह कृति उनके अपने हृदय के दार्शनिक भावो का तर्क और आगमसम्मत मौलिक तथा मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुतीकरण है।

सचमुच, देवचन्द्र ने प्रस्तुत चौवीसी के माध्यम से भक्ति और दर्शन का अद्भुत समन्वय किया है। दर्शन मस्तिष्क की उपज है और भक्ति हृदय की। देवचन्द्र ने इस कृति मे मस्तिष्क और हृदय दोनो का सगम किया है और भक्तिभावो मे तत्त्वदर्शन के बीजो का समारोपण कर एक नवीन तथ्य को उजागर किया है।

"श्री देवचन्द्र चौवीसी" के भाव इतने गहन है कि यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए शीघ्र वोधगम्य नहीं हैं। इसे समझाने मे वे लोग भी कभी-कभी पथच्युत हो जाते हैं, जो कुछ समझदारी रखते हैं। इसे तो वे ही भलीभाति समझ सकते है, जो तत्त्व-जिज्ञासु हैं, या बुद्धि-जीवी है।

प्रस्तुत कृति का प्रतिपाद्य विषय लोकप्रचलित लयो/तर्जो मे चौवीस तीर्थंकरो के चरणो मे भक्ति-प्रधान और श्रद्धाभिभूत सुमन अर्पित करना है। इन चौवीस गीतो, स्तवनो मे दो चार गीतो को छोडकर सभी गीतो मे दार्शनिक तथ्यो की अभिव्यक्ति है। कवि के अनुसार तीर्थकरो/आदर्श-पुरुषो के दिखाये गये मार्ग पर चलना ही उनकी यथार्थ भक्ति है। जो

साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र आदि साधनो को अपनाता है, वह वास्तव मे जिनेन्द्र की सच्ची सेवा करता है। उनके अनुसार निज में जिनत्व की शोध करना, आत्म-साक्षात्कार करना, सिद्धत्व की प्राप्ति करना, यही तीर्थंकरो की भक्ति एव अवलम्वन का मुख्य हेतु है।

चौवीसी मे दार्शनिक तथ्यो का विवेचन करते हुए उन्होने मुख्यत: प्रमाण, नय, तत्त्व, स्याद्वाद, निक्षेप, त्रिपदी आदि सिद्धान्तो का भी वर्णन-विवेचन किया है। समवसरण आदि विशिष्ट जैन पारिभाषिक शब्दो का भी उन्होने विवेचनात्मक प्रयोग किया है। न्याय एव व्याकरण से सम्बद्ध विपयो का तो इस कृति मे अत्यन्त गहन विश्लेषण हुआ है। कवि ने योग-साधना सम्बन्धी विपयो का भी यथास्थान प्रतिपादन करके अपनी वहुश्रुतता का परिचय दिया है। यद्यपि जैन साहित्य-जगत् मे तीर्थंकर-चौवीसी पर अद्यावधि लगभग शताधिक कवियो की रचनाए प्राप्त हैं, परन्तु उपर्युक्त विन्दुओ/स्तवनो को देखते हुए उनमे यह चौवीसी जनप्रियता, गम्भीरता, विपय-विस्तार, सूक्ष्म प्रतिपादन, भापा-कौशल, छद-चयन आदि वैशिष्टय के कारण भी शीर्पस्थ/सर्वोच्च/सर्वोत्कृष्ट है।

प्रस्तुत चौवीसी मे जिन चौवीस स्तवनो का गुंफन हुआ है, यद्यपि उनमे आत्मतत्त्व को उद्‌भासित करना एकमात्र प्रमुख उद्देश्य है, फिर भी प्रत्येक स्तवन मे नवीन रुचिकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। इन मे कही पिष्टपेषणता का वोझिलपन अनुभव नही होता। पाठक प्रत्येक स्तवन मे अभिनव सोपान से ऊपर चढते हुए अन्त मे एक ऐसी अनुभूति करता है जैसे मानो किसी शरणप्रद तापनियन्त्रक, प्राजल सर्वसौविध्य-सम्पन्न कक्ष मे पहुच गया हो।

प्रत्येक स्तवन मे प्रासगिक क्रमिकता है, जो आगे वाले स्तवन के वक्तव्य का वोध कराने मे प्रास्ताविक सिद्ध होती है। इसे हम ऐसा भी कह सकते है कि प्रत्येक स्तवन उत्तरोत्तर गहरे जल मे पैठने की शिक्षा देता है और अन्त मे उस उपलब्धव्य मुक्ता की प्राप्ति कराने मे सहायक होता है। अन्त में, वह उस गहराई तक पहुचता है, जहा अमूल्य मुक्ता की चमक से सारा प्रदेश उद्‌भासित है। पाठक/साधक फलत अव्यावाध, अक्षय, अविनाशी आनन्द का अनुभव करता है।

कृति मे चौवीस स्तवनो का प्रतिपाद्य विषय सक्षेप मे इस प्रकार है—

पहले स्तवन मे परमात्मा–प्रभु से प्रीति करने की पद्धति निदर्शित है।

दूसरे स्तवन में प्रभु-शक्ति के विशद वर्णन के साथ कार्य-कारण भाव की साधना विवेचित है।

तीसरे स्तवन में प्रभु-सेवा की पुष्ट अवलम्बनता का निर्देशन है।

चौथे स्तवन मे यह तथ्य स्पष्ट किया है कि कोई भी द्रव्य किसी से नही मिलता है, किन्तु प्रभु-सेवा के साधक निश्चय नय के दृष्टिकोण से तद्‌रूपता को प्राप्त करता है।

पाँचवे स्तवन मे यह वताने का प्रयास किया गया है कि आराध्यदेव का शुद्ध स्वरूप समझकर उसका ध्यान करना ही मोक्ष-प्राप्ति का उत्तम राज मार्ग है।

छठे स्तवन मे परमात्म-स्वरूप की चर्चा करते हुए आत्मशुद्धिहित उनकी निमित्त कारणता वतायी है।

सातवे स्तवन में परमात्मा के अक्षय, अव्यावाध आदि गुणो का वर्णन है।

आठवे स्तवन मे नय-दृष्टि से परमात्म-सेवा करने का विवेचन किया गया है।

नौवे स्तवन का प्रतिपाद्य विषय यह है कि अपने मे शुद्ध आत्मगुणो को प्रगट करने के लिए प्रभु के अनन्त गुणो का स्मरण करना आवश्यक है।

दसवे स्तवन मे साधक के लिये यह आवश्यक कहा गया है कि वह अपने मे आत्म-गुणो को प्रगट करने के लिए प्रभु से उत्कट याचना करे।

ग्यारहवे स्तवन मे यह वताया गया है कि प्रभु के प्रकट तत्त्व के ध्यान से सुप्त आत्म-तत्त्व का भान होता है।

वारहवे स्तवन मे द्रव्य-पूजा तथा भावपूजा की व्याख्या की गयी है।

तेरहवे स्तवन में यह निर्दिष्ट है कि स्थिरचित्त से प्रभु की प्रभुता का सेवन-चिन्तन करना निज प्रभुता एव सिद्धता को प्रगट करने का साधन है।

चौदहवे स्तवन मे भगवद्नाम का जप और प्रतिमा का दर्शन उनके आदर्श गुणो को प्राप्त करने का प्रमुख उपाय कहा गया है।

पन्द्रहवे स्तवन मे जीव का स्वभाव प्ररूपित कर अन्तर् मन्दिर मे प्रभु का ध्यान करने का विधान किया गया है।

सोलहवे स्तवन मे समवसरण/सभामण्डप का निर्देशन करते हुए षड् नयो के द्वारा जिनप्रतिमा को जिनवत् सिद्ध किया गया है।

सतरहवे स्तवन मे भगवान की समवसरण अवस्था की विशेषताओ का वर्णन है।

अठारहवे स्तवन मे चार प्रकार के कारणो का प्ररूपण करते हुए परमात्म-अवलम्बन का निर्देश है।

उन्नीसवे स्तवन मे षट् कारको की बाधकता, साधकता और शुद्धता कहकर परमात्म सेवा करना विहित बताया है।

बीसवे स्तवन मे पुण्यपुष्ट निमित्त का स्वरूप और छः कारको का स्वरूप बताते हुए तीर्थंकर भगवान की पूजा करना उपदिष्ट है।

इक्कीसवे स्तवन मे प्रभु-कृपा तथा प्रभु-सेवा पर जोर दिया गया है।

बाईसवे स्तवन मे राजीमती-पात्र के द्वारा अप्रशस्त राग को जीतकर वीतरागता की उपलब्धि का मार्ग दिखाया है।

तेईसव स्तवन मे परमात्मा मे परिणति तथा प्रवृत्ति की एकरूपता प्ररूपित कर शुद्धता, एकता तथा तीक्ष्णता का परिचय दिया है।

चौबीसवे स्तवन में स्वय के उद्धार की परमात्मा से भावाभिभूत प्राथना की गई है।

पच्चीसवें स्तवन/कलश मे चौवीसी का उपसहार करते हुए कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है।

प्रस्तुत कृति मरु-गुर्जरभाषा मे रचित है। यद्यपि देवचन्द्र राजस्थान निवासी थे, किन्तु गुर्जर-प्रदेश मे विचरण करने के कारण उनकी भाषा पर गुजराती का अधिक प्रभाव है। कृति मे राजस्थानी एव गुजराती दोनो भाषाओ का सम्मिश्रित रूप प्रयुक्त होने के कारण इसकी भाषा को मरु-गुर्जर भाषा कहना ही समीचीन है। कवि ने प्राय: सस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। प्राकृत एव देशज शब्दो का भी स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। जहा तक भाषा का सम्बन्ध है, कवि ने सरल एव बोधगम्य शब्दो का ही प्रयोग किया है। विषय तो दुरूह है ही। कुल मिलाकर कवि की भाषा रमणीय, स्पष्ट एव प्रभावोत्पादक है।

प्रस्तुत कृति की भाषा-शैली पद्यात्मक है। देवचन्द्र महान् कवि थे। उनका पद्य-शैली प्रौढ और समृद्ध है। इस रचना मे कवि ने लोक प्रचलित छन्दो/तर्जो मे ही गेयता को सीमित रखा है, ताकि साधारण जनता इसे अपना सके।

प्रस्तुत कृति की भाषा-शक्ति प्रबल है। इसकी काव्य-भाषा मे प्रभविष्णुता, अर्थवत्ता, शक्ति-सामर्थ्य और आकर्षण है। जहाँ पर जिस शब्द की आवश्यकता है, वहाँ पर उसी शब्द का प्रयोग होना इस कृति की अर्थवत्ता का एक प्रमुख आयाम है। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

जगतवत्सल महावीर जिनवर सुणी, चित्त प्रभु चरण ने सरण वास्यो।
तारजो बापजी विरुद निज राखवा, दासनी सेवना रखे जोस्यो।
(२४.६)

इस पद्य की द्वितीय पक्ति मे प्रयुक्त "बापजी" शब्द जितना फबता है, उतना उसका पर्यायवाची 'पिताजी" आदि नही। यहा "बापजी" शब्द का प्रयोग करके भाषा मे लोकजनीन रसाप्लावक लालित्य लाने का सुन्दर प्रयास हुआ है।

कवि की रचना-पद्धति तार्किक-बहुल थी। दार्शनिक विषयो के विवेचन मे अतीन्द्रिय विषयो का अस्तित्व सिद्ध करना आवश्यक है। एतदर्थ लौकिक तर्को का आश्रय लेना पडता है। कविवर देवचन्द्र ने भी अपने पद्यो मे यथास्थान अपने मन्तव्यो को पुष्ट करने के लिए तार्किक शैली अपनाई है। यथा—

जे जे कारण जेहनु रे, सामग्री संयोग ।
मिलतां कारज नीपजे रे, कर्ता तणे प्रयोग ।। (२.२)

बीजे वृक्ष अनन्तता रे, प्रसरे भूजल-योग ।
तिम मुझ आतम-सम्पदा रे, प्रगटे प्रभु संयोग ।। (६.३)

देवचन्द्र का वर्णन-कौशल भी उल्लेखनीय है। यद्यपि चौवीसी मे वस्तु-वर्णन अधिक नही है, तथापि जो प्रसग उपलब्ध है, उनसे उनके वर्णन-कौशल का सहज परिचय प्राप्त हो जाता है। नीचे हम एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें अलकारो का सफल प्रयोग भी अवलोक्य है। कवि भाषा की चमत्कृति तथा अर्थवैशिष्ट्य के लिए ही इस तरह का प्रयोग करते हैं। कवि ने निम्नोक्त उदाहरण मे रूपक, उपमा आदि अलकारो का इस प्रकार प्रयोग किया है कि, दुरूह दार्शनिक विषय भी पाठक एव श्रोता के हृदय पर सहज स्पष्ट हो जाता है। कवि ने निम्न शब्दो मे अपना प्राकृतिक वर्णन कौशल निदर्शित किया है—

श्री नमि जिनवर सेव, घनाघन ऊनम्यो रे।
दीठां मिथ्या रौरव, भविक चित्त थी गम्यो रे।।

शुचि आचरणा रीति, ते अभ्र वधे वडा रे।
आतम परिणति शुद्ध, ते बीज झबूकडा रे।।

बाजे वायु सुवायु, ते पावन भावना रे।
इन्द्रधनुष त्रिक योग, ते भक्ति एकमना रे।।

निर्मल प्रभु-स्तव घोष, ध्वनि घन गर्जना रे।
तृष्णा ग्रीष्मकाल, तापनी तर्जना रे ।।

शुभ लेश्या नी आलि, ते बग पंक्ति बनी रे।
श्रेणि सरोवर हस, वसे शुचि गुण मुनि रे।।

चौगति मारग बध, भविक निज घर रह्या रे।
चेतन समता-सग, रग मे ऊमह्या रे ।।

सम्यग्दृष्टि मोर, तिहां हरखे घणुँ रे ।
देखी अद्भुत रूप, परम जिनवर तणुँ रे।।

प्रभु गुणनो उपदेश, ते जलधारा वही रे।
धर्म-रुचि चित्त भूमि, मांहे निश्चल रही रे ।।

चातक श्रमण-समूह, करे तब पारणो रे ॥
अनुभव रस आस्वाद, सकल दुःख वारणो रे ।

अशुभाचार-निवारण, तृण अकूरता रे ।
विरति तणा परिणाम, ते बीजनी पूरता रे ॥

पंच महाव्रत धान्य, तणां कर्षण वध्या रे ।
साध्यभाव निज थापी, साधनतायें सध्या रे ॥

क्षायिक दरिसण ज्ञान, चरण गुण ऊपन्या रे ।
आदिक बहुगुण-सस्य, आतम घर नीपन्या रे ॥

प्रभु दरिसण महामेह, तणे प्रवेश मे रे ।
परमानन्द सुभिक्ष, थयो मुझ देश मे रे ॥ (२१.१–७)

उपर्युक्त पद्यो मे सागरूपक अलकार का कमनीय प्रयोग भक्त-कवि देवचन्द्र की काव्यात्मक प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण है।

कवि इस कृति मे दार्शनिक विषयो का प्रतिपादन करते समय भी साहित्यिक तत्त्वो का जमकर उपयोग करते है। कृति का मुख्य रस भक्तिरस/शान्तरस है। इसके पठन एव श्रवण से चित्त मे गहरे निर्वेद की अमिट छाप पड जाती है। यो तो सम्पूर्ण कृति शान्तरस-प्रधान है, किन्तु उदाहरण के लिए निम्न-पक्तियाँ प्रस्तुत है—

कागल पण पहोचे नहीं, नवि पहोचे हो तिहाँ को परधान ।
जे पहोचे ते तुम समो, नवि भाखे हो कोई नुं व्यवधान ॥ (१२)

कृति में विविध अलकारो का भी व्यवहार हुआ है, जिससे चौवीसी के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि हुई है। व्यवहृत अलकार कृति को प्रभावशाली एव रोचक बनाने मे पूर्णतया शक्य हुए है। सचमुच, देवचन्द्र ने अपनी कवित्व शक्ति का प्रकृत अध्यातम क्षेत्र मे भी चमत्कारपूर्ण रूप मे मनोरम उपयोग किया है। उन्होने शब्दालकार एव अर्थालकार–उभयविध अलकारों का यथास्थान प्रयोग करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि करुणा एव शृगार की तरह दर्शन का क्षेत्र भी साहित्य-रसिको के लिए हृदय-स्पर्शी तथा भाव-विभोर करने वाला है। प्रयुक्त अलकारो मे वृत्त्यानुप्रास, बहुविध उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, स्वाभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उदाहरण, विरोधाभास, व्याजस्तुति आदि अलकारो का शब्द-चित्रण दर्शनीय है—

उपमा अलकार—

श्री सभव जिनराजजी रे, ताहरु अकल स्वरूप।
स्वपर-प्रकाशक दिनमणि रे, समता रस नो भूप॥ (३.१)

लुप्तोपमा अलकार—

प्रणमो श्री अरनाथ, शिवपुर साथ खरो॥
त्रिभुवन जन-आधार, भव निस्तार करो॥ (१८.१)

राग-द्वेषे भर्यो मोह वैरी नड्यो,
लोकनी रीतमां घणुं ए रातो।
क्रोधवश धमधम्यो शुद्ध गुण नवि रम्यो,
भम्यो भवमाहे हुं विषय मातो॥ (२४ २)

मालोपमा अलंकार—

तिणे निर्यामक माहणो रे, वैद्य गोप आधार।
देवचन्द्र सुखसागरु रे, भाव-धर्म दातार॥ (२ १०)

दृष्टान्त अलकार—

अज-कुलगत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भवते भवि लहे रे, आतमशक्ति सभाल॥(२.४)
जिम जिनवर आलम्बने, वधे सधे एक तान।
तिम-तिम आत्मालम्बनी, ग्रहे स्वरूप निदान॥ (४ ७)

तहवि सत्तागुणे जीव ए निर्मलो,
अन्य संश्लेष जिम फटिक नवि सांभलो।
जे परोपाधि थी पुष्ट परिणति ग्रही,
भाव तादात्म्य माहरूं ते नही॥ (१५.७)

प्रातिहारिज अतिशय शोभा, ते तो कहिय न जावे रे।
घूक बालक थी रविकर भरनु, वर्णन केणी परे थावे रे॥ (१६.२)

दड दंड निमित्त अपुष्ट घड़ा तणो रे, नवि घटता तसु मांह।
साधक साधक प्रध्वंसकता अछे रे, तिणे नहीं नियत प्रवाह॥ (२०.४)

उत्प्रेक्षा अलकार—

भविकजन हरखो रे, निरखी शांति जिणद ।
उपशम-रस नो कन्दो रे, नहीं इण सारिखो ।। (१६ १)

रूपक अलकार—

उपादान आतम सही रे, पुष्टालबन देव ।
उपादान कारण पण रे, प्रगट करे प्रभु सेव ।। (३.३)

भवदव हो प्रभु भवदव तापित जीव,
तेहने हो प्रभु तेहने अमृत घन समी जी ।
मिथ्या विष हो प्रभु मिथ्या विष नी खीव,
हरवा हो प्रभु हरवा जांगुली मन रमी जी ।।

भाव हो प्रभु भाव चिन्तामणि एह,
आतम हो प्रभु आतम संपत्ति आपवाजी ।
एहिज हो प्रभु एहिज शिवसुख गेह,
तत्त्व हो प्रभु तत्त्वालम्बन थापवा जी ।। (१४ २-३)

संग परिहार थी स्वामी निजपद लह्यु,
शुद्ध आत्मिक आनन्दपद संग्रह्यु ।
जहवि परभाव थी हूं भवोदधि वस्यो,
परतणो सग ससारतायें ग्रस्यो ।। (१५ ६)

सहज गुण आगरो स्वामी सुखसागरो,
ज्ञान वयरागरो प्रभु सवायो ।
शुद्धता एकता तीक्ष्णता भाव थी,
मोह रिपु जीति जय पडह वायो ।। (२३.१)

सागरूपक अलकार—

द्रष्टव्य है इक्कीसवां स्तवन, जो आद्यन्त सागरूपक से अलकृत है।

स्वभावोक्ति अलकार—

एक वार प्रभु वन्दना रे, आगम रीते थाय ।
कारण सत्ये कार्यनी रे, सिद्धि प्रतीत कराय ।

प्रभुपणे प्रभु श्रोलखी रे, श्रमल विमल गुण गेह ।
साध्य दृष्टि साधक पणे रे, वदे धन्य नर तेह ।।
जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास ।
जगत शरण जिन चरणने रे, वदे धरीय उल्लास ।। (३.५-७)

उदाहरण अलकार—

लोह-धातु कांचन हुवे, पारस फरसन पामि रे ।
प्रगटे श्रध्यातम दशा, व्यक्त गुणी गुणग्राम रे ।। (६ ६)

मोटाने उत्संग, बैठाने शी चिन्ता ।
तिम प्रभु-चरण पयास, सेवक थया निचिन्ता ।। (१८ १४)

विरोधाभास अलकार—

संरक्षण विण नाथ छो, द्रव्य बिना धनवन्त ।
कर्ता पद किरिया बिना, सन्त श्रजेय श्रनन्त ।। (७ २)

अतिशयोक्ति अलकार—

चरन जलधि जल मिणे श्रजलि, गति जीपे श्रतिवाय जी ।
सर्व श्राकाश उलंघे चरणे, पण प्रभुता न गणाय जी ।। (१०.२)

व्याज स्तुति श्रलकार—

सयल पुढवी गिरि जल तरूजी, कोई तोले एक हत्थ ।
तेह पण तुझ गुण-गण भणी जी, भाखवा नहीं समरत्थ ।। (१३ २)

प्रस्तुत चौवीसी "गुण" के दृष्टिकोण से भी उत्तम है। लोक भाषा प्रधान होने के कारण इसमे माधुर्य गुण का होना स्वाभाविक है। कवि का प्रयास रचना को प्रसाद–गुण से युक्त करना रहा है। कृति मे वीर, वीभत्स और रौद्र रस का समावेश न होने के कारण ओज-गुण का सर्वथा अभाव रहा है। माधुर्य-व्यजक वर्णों के प्रयोग से और दीर्घ समासो के अभाव मे कवि की यह रचना प्रभावोत्पादक एव आकर्षक ही बन गई है। चौवीसी के प्रथम स्तवन का प्रथम पद ही देखिये माधुर्य गुण कितना व्यजक है—

ऋषभ जिणंद सुं प्रीतड़ी, किम कीजे हो कहो चतुर विचार ।
प्रभुजी जइ श्रळगा वस्या, तिहां किणे नवि हो को वचन उचार । (१ १)

इसी तरह अवलोकनीय है प्रसाद गुणाभिभूत पंक्तियां—

जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास ।
जगत शरण जिन चरण ने रे, वंदे धरीय उल्लास ।। (३.७)

प्रस्तुत कृति के सभी गीत पद्यबद्ध गेय है । कवि ने शास्त्रीय नियम-बद्धमार्गी छन्दो को न अपनाकर लोक प्रचलित देशी रागो को ही अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है । कवि ने मुख्यत. राजस्थानी एव गुजराती देशियो को प्रयुक्त किया है । विस्तार-भय से सभी देशियो के उदाहरण न देकर मात्र व्यवहृत देशियो का क्रमश उल्लेख किया जा रहा है ।

निद्रडी वेरण हुइ रही ।
देखो गति दैवनी रे ।
धण रा ढोला
ब्रह्मचर्य पद पूजीये....
कडखा की
हु तुज आगळ शी कह केशरिया लाल....
हो सुन्दर तप सरिखो जग को नही .
श्री श्रेयाम जिन अन्तरजामी ।
थारा महेला ऊपर मेह झबुके बीजली हो लाल....
आदर जीव क्षमागुण आदर....
प्राणी वाणी जिन तणी, तुमे धारो चित्त मझार रे. ..
पथडो निहाळु रे बीजा जिन तणो रे
दास अरदास सी परे करे जी
दीठी हो प्रभु दीठी जग गुरु तुज्झ ..
सफल ससार अवतार ए हु गणु
आखडिये मैं आज सेत्रुजो दीठो रे . .
चरम जिनेसरू....
रामचन्द्र के बाग मे चपो मोरी रह्यो री.. .
देखी कामिनी दोय के, कामे व्यापियो रे....
ओलगडी ओलगडी सुहेली हो, श्री श्रेयास नी रे.. .
पीछोला री पाल, ऊभा दोय राजवी रे....

पद्मप्रभ जिन जइ अलगा वस्या...
फडखा नी..
कलस-वोलवानी देशी मा....

इन देशियो से हमे यह भी वोध होता है कि कवि के समय मे किस शैली की देशी–रागे प्रचलित थी। प्रस्तुत कृति की गेयता मे पूर्णत. प्रवाह-शीलता है।

देवचन्द्र को कुछेक सूक्तियाँ लिखने मे अच्छी सफलता मिली है। ये सूक्तिया प्राय नीतिमूलक, धर्ममूलक और दर्शनमूलक है। इन सूक्तियो से चौवीसी के गीत-सौष्ठव तथा गाम्भीर्य गुणाभिप्रेत हुए है। यहाँ उनकी कतिपय मार्मिक सूक्तिया उल्लेखनीय है—

प्रभुजी ने अवलम्बतां, निज प्रभुता प्रगटे गुण रास। (१.६)

जे जे कारण जेहनुं रे, सामग्री सयोग।
मिलतां कारज नीपजे रे, करता तणे प्रयोग।'(२.२)

अजकुलगत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल॥
तिम प्रभु भक्ते भवि लहे रे, आतम शक्ति सभाल। (२.४)

कारण-पद कर्ता पणे रे, करी आरोप अभेद।
निज पद अर्थी प्रभु थकी रे, करे अनेक उम्मेद। (२.५)

प्रभु पणे प्रभु ओलखी रे, अमल विमल गुण गेह।
साध्य-दृष्टि साधक पणे रे, वन्दे धन्य नर तेह। (३ ६)

जन्म कृतारथ तेहनो रे, दिवस सफल पण तास।
जगत शरण जिन चरण ने रे, वन्दे धरीय उल्लास।(३.७)

शुद्ध स्वरूप सनातनो, निर्मल जे नि सग।
आतम-विभूति परिणम्यो, न करे. ते परसग। (४ ३)

जिम जिनवर आलम्बने, बधे सधे एकतान।
तिम तिम आत्मालम्बनी, ग्रहे स्वरूप निदान। (४.७)

बीजे वृक्ष अनन्तता रे, प्रसरे भूजल–योग।
तिम मुझ आतम सम्पदा रे, प्रगटे प्रभु संयोग। (६.३)

लोह्-धातु कांचन हुवे, पारस फरसन पामि । (६.४)
आतम गुण अनुभव थी मळिया, ते भव-भय थी टळिया । (८ १)

परम गुणी-सेवन तन्मयता, निश्चय ध्याने ध्यावे ।
शुद्धातम अनुभव आस्वादि, देवचन्द्र पद पावे । (८ ११)

प्रभु मुद्रा ने योग, प्रभु प्रभुता लखे,
द्रव्य तणो साधर्म्य, स्वसपति ओलखे ।
ओळखता बहुमान, सहित रुचि पण वधे,
रुचि अनुयायो वीर्य, चरण धारा सधे । (९.६)

चरम जलधि जल मिणे अजलि, गति जीपे अतिवाय जी ।
सर्व आकाश उलघे चरणे, पण प्रभुता न गणाय जी । (१०.२)

प्रभु प्रभुता सभारतां, गातां करता गुणग्राम ।
सेवक साधनता वरे, निज सवर परिणति पाम । (११ ८)
प्रगट तत्त्वता ध्यावतां, निज तत्त्वनो ध्याता थाय ।
तत्त्व रमण एकाग्रता, पूरणतत्त्वे एह समाय । (११.६)
लघु नदी जिम तिम लघीये, स्वयभूरमण न तराय । (१३.१)

ताहरा शुद्ध स्वभाव ने, आदर धरी बहुमान ।
तेहने तेहिज नीपजे, ए कोई अद्भुत तान । (१३.५)
मीठी सूरत तुज्झ, दीठी रुचि बहुमान थी ।
तुज्झ गुण भासनयुक्त, सेवे तसु भव भय नथी । (१४.५)
कर्ता कारण योग, कारज सिद्धि लहे । (१८.२)
रागी संगे राग दशा वधे, थाये तेणे ससार ।
नीरागी थी रागनुं जोडवुं, लहिए भवनो पार । (२२ ४)

जिन सेवन थी ज्ञानता, लहे हिताहित बोधो जी ।
अहित त्याग हित आदरे, सयम तप नो शोधो जी ।
अभिनव कर्म अग्रहणता, जीरण कर्म अभावो जी ।
नि.कर्मी ने अबाधता, अवेदन अनाकुल भावो जी ।
भावरोग ना विगम थी, अचल अक्षय निराबाधो जी ।
पूर्णानन्द दशा लही, विलसे सिद्ध समाधो जी । (२५.४-६)

देवचन्द्र का कवित्व साधना से अभिभूत प्रतीत होता है। चौवीसी के कवि का उद्देश्य साधक को जैनदर्शन द्वारा समादृत सिद्धि के प्रत्येक सोपान से अवगत कराना, उन सोपानो पर उसे आरूढ करना और अन्त मे मानव-जीवन के चरम लक्ष निर्वाण को प्राप्त करना/कराना रहा है। उनके विचारो मे जिन-प्रतिमाओ का अर्चन-पूजन जिन का ही अचन-पूजन है तथा सिद्धि प्राप्ति मे उत्कृष्ट सहायक एवं उपादेय है। निज मे जिनत्व की शोध करने के लिए उन्होने प्रतिमाओ का अवलम्वन लेना और जिनेश्वर की भक्ति करना अनिवार्य एव आवश्यक अग माना है। "प्रभुजी ने अवलम्वता, निज प्रभुता प्रगटे गुणरास" (१ ६) "अज कुलगत केसरी लहेनि, निज पद सिंह निहाल। तिम प्रभु भक्ति भवि लहे रे, आत्मशक्ति सम्भाल" (२ ४) अथवा "जिम जिनवर आलम्वने, वधे सधे एक तान। तिम तिम आत्मालम्बनो ग्रहे स्वरूप निदान" (४ ७) या "प्रभु-मुद्रा ने योग, प्रभू प्रभुता लखे" (६ ६)।

भगवत्ता-प्राप्त जिनेश्वर तीर्थंकरो की स्तुति करते हुए देवचन्द्र ने स्पष्ट कर दिया है कि जिनेश्वर साधक के लिए निमित्त कारण मात्र है। "शुद्ध निमित्ती प्रभु ग्रही" (४.६) या "निमित्त हेतु जिनराज" साधक की सिद्धता प्राप्ति मे उनका कोई सक्रिय पक्षपातपूर्ण अनुग्रह नही होता। साधक के लिये वे उस प्रकाशस्तम्भ के समान है जो जहाज की गति मे अपना योग-दान नही देता, उससे जहाज-चालक को केवल शुद्ध प्रेरणामात्र प्राप्त होती है और वह अपने विवेक एव बुद्धि के साहचर्य से अपने गतव्य, दिक्-मार्ग एव स्थान का निर्धारण करता है।

कही-कही भक्तिभाव के अतिशय उद्रेक मे कवि ने इन स्तवनो मे आत्मोद्धार के लिए ईश्वर की अनुकम्पा की याचना की है। यथा—

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी, जगत मां एटलुं सुजस लीजे।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो, दयानिधि दीन पर दया कीजे।
जगत्वत्सल महावीर जिनवर सुणी, चित प्रभु चरण ने शरण वास्यो।
तारजो बापजी विरुद निज राखवा, दासनी सेवना रखे जोस्यो।
(२४.१-६)

देवचन्द्र भक्तिवशात् ईश्वरवाद का भले ही समर्थन कर दे। किन्तु, सिद्धान्ततः तो वे ईश्वर का राग-द्वेष मुक्त वीतराग शुद्ध, पारमात्म्य स्वरूप

ही स्वीकार करते है। "प्रीति करे ते रागीया, जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग" (१ ३) कवि के अनुसार साधक की साधना यही है कि वह जिनेश्वर के आदर्श गुणो को आत्मसात् करे, उन्हे अपने अन्तर-मन्दिर मे प्रतिष्ठित करे, साधक द्वारा की गई परमात्म-पूजा वस्तुतः आत्म-पूजा है, निज-पूजा है। "जिनवर पूजा ते निज पूजना रे, प्रगटे अन्वय शक्ति" (१२.७)

देवचन्द्र ने ईश्वरीय गुणो का अपने इन चौवीस स्तवनो में वडे मार्मिक ढग से अतिशय मनोरम सकलन किया है। उन्होने प्रभु के गुणो की अनन्तता, निर्मलता और पूर्णता को अनिर्वचनीय तथा ज्ञानगम्यमात्र बतलाया है—

शीतल जिनपति प्रभुता प्रभु नी, मुझ थी कहीय न जाय जी।
अनंतता निर्मलता पूरणता, ज्ञान विना न जणाय जी। (११ १)

अथवा

विमल जिन विमलता ताहरी जी, अवर बीजे न कहाय।
लघु नदी जिम तिम लंघीये जी, स्वयंभू रमण न तराय। (१३.१)

जैसे समुद्र-जल को अजलि से उलीचा/मापा नही जा सकता है, वैसे ही ईश्वर के अपार गुणो को गिना नही जा सकता—

चरम जलधि जल मिणे अंजलि, गति जीपे अतिवाय जी।
सर्व आकाश उलंघे चरणें, पण प्रभुता न गणाय जी। (१०.२)

अथवा

सयल पुढवी गिरि जल तरु जी, कोई तोले एक हत्थ।
तेह पण तुझ गुण-गण भणीजो, भाखवा नहीं समरत्थ। (१३.२)

प्रभु के अनन्त ज्ञान, दर्शन, दान, आदि सामान्य साधक के लिए अगम्य हैं—

सर्व द्रव्य प्रदेश अनंता, तेहथी गुण पर्याय जी।
तास वर्ग थी अनंत गुणुं प्रभु, केवलज्ञान कहाय जी।
केवल दर्शन एम अनंतु, ग्रहे सामान्य स्वभाव जी।
स्वपर अनंत थी चरण अनंतुं, समरण संवर भाव जी।

एम अनंत दानादिक निज गुण, वचनातीत पडूर जी।
वासन भासन भावे दुर्लभ, प्राप्ति तो अति दूर जी। (१०.३-४,६)

उस अनन्त तक वही पहुँच सकता है, जो उसके समकक्ष है, जो उन अनन्त गुणों को प्राप्त है—"जे पहोचे ते तुम समो" (१.२) या "तेहज एहनो जाणग भोक्ता, जो तुम सम गुण राय जो" (१०.८) फिर भी शुद्धाशय से ईश्वरीय नाम का ग्रहण, जप तथा ध्यान साधक की लक्ष्य प्राप्ति में सहायक है—

शुद्धाशय थिर प्रभु उपयोगे, जे समर तुझ नाम जी।
अव्याबाध अनंतु पामे, परम अमृत सुख धाम जी। (१०.६)

प्रभु प्रभुता संभारतां, गातां करतां गुण ग्राम रे।
सेवक साधनता वर, निज सवर परिणति पाम रे।
प्रगट तत्वतां ध्यावतां, निज तत्त्व नो ध्याता थाय रे।
तत्त्वरमण एकाग्रता, पूरण तत्त्वे एह समाय रे। (११.८-६)

कवि के मतानुसार ईश्वरीय अर्चना का प्रधान लक्ष्य प्रभु की सकल गुण-सम्पदाओं को जान लेना है, साधक को मन मे दूसरी कोई आकांक्षा या अभिलाषा नही रखनी चाहिये। गीतो में अनेक स्थानो पर कवि ने इन भावो की पुष्टि की है। कवि का अभिमत है कि परमात्मा निश्चयत वीतरागी है और प्रीति करने वाला रागी। रागी से राग करना उतना महत्वपूर्ण नही है, जितना वीतराग से राग करना। वस्तुत. वीतराग से राग करना ही अलौकिक मार्ग है। रागी से राग करना तो संसार का कारण है जबकि वीतरागी से राग करना ससार से पार उतरने और एकत्वता साधने का साधन है। इसलिए प्रभु के गुणों का निर्मल राग अतिशय महिमामण्डित एव उपकारी है। सचमुच, जनरागी महाभाग्यशाली है—

प्रीत करे ते रागीया, जिनवर जी हो तुम तो वीतराग।
प्रीतड़ी जेह अरागीथी, भेलववी ते हो लोकोत्तर मार्ग। (१.३)

परम पुरुष थी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेहा। (१ ५)

रागी संगे राग दशा वधे, थाये तेणो संसारो जी।
नीरागी थी रे रागनुं जोडवुं, लहिए भवनों पारो जी। (२२.४)

अतिशय महिमा रे अति-उपगारता, निर्मल प्रभु गुण राग।
सुरमणि सुरघट सुरवरु तुच्छ ते रे, जिनरागी महाभाग।(१२.३)

भक्तिपरक विचारो के अतिरिक्त कवि ने जो विचार प्रस्तुत किये है, उसका सार यही है कि व्यक्ति को बाह्य जोवन से कमलवत् ऊपर उठकर आन्तरिक जीवन का दर्शन करना चाहिए। तत्त्वो के प्रति श्रद्धा रखते हुए तत्त्वो को जानने का प्रयास करना चाहिए। अपने कर्मो की निर्जरा करने के लिये चारित्र एव तप का आलम्बन लेना चाहिए। आत्म-शुद्धि एव आत्मपूर्णता ही उसकी सिद्धि-मुक्ति है।

कवि ने तत्त्व—चिन्तन एव परमात्म-स्तवन मे कतिपय ऐसे तथ्यो को भी उलीचा है, जो एक मुनिवेश मे क्रान्तिकारी कदम है। इसके अन्तर्गत उन्होने साधनात्मक जीवन के अन्तरग को उद्घाटित कर डाला है। यथा—

आदर्यो आचरण, लोक उपचार थी, शास्त्र अभ्यास पण कांइ कीधो।
शुद्ध श्रद्धान, वली, आत्म अवलंब बिनु, तिहवो कार्य तेणे को न सीधो।
(२४.३)

साधारणत लिंग, चरित्र, और ज्ञान को प्रखरता के वशीभूत होकर लोग आस्थान्वित हो जाते है। किन्तु इतने मात्र से क्या आत्मपूर्णता सध पाती है? सम्यक् दृष्टि एव आत्म अवलम्बन के बिना सारी साधना गधे की पीठ पर चन्दन का भार सवहन करने जैसी है। कवि की ये भाव उर्मियाँ साधको के लिए प्रेरणाप्रद है, जो साधना की पगडन्डी पर चलते रहने के उपरान्त सभी लक्ष्य सिद्ध नही कर पाये है।

प्रस्तुत कृति से यह स्पष्ट है कि देवचन्द्र कट्टर आत्मवादी एव मुक्तिवादी थे। जैन दर्शन के तत्त्वज्ञान का उन्हे गहनतम ज्ञान था। इस सारी कृति में आद्योपान्त तात्त्विक चर्चा ही मुख्यत हुई है। इसलिये उनके तात्त्विक विचार कृति मे सर्वत्र परिलक्षित होते है। इस कृति के द्वारा उन्होने 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' के साथ 'ब्रह्मानन्द' को भी एक मच पर उपस्थापित कर दिया है। इस कृति की यह सर्वोच्च विशेषता है। यद्यपि कवि ने प्रस्तुत "चौवीसी" की रचना "स्वान्त सुखाय'

ही की थी, तथापि रचना का प्रभाव 'वहुजनहिताय वहुजनसुखाय' के रूप मे हुआ। यही कारण है कि जैन समाज मे इस रचना का इतना समादर है कि यह रचना सदा-सर्वदा असख्य जैनो के लिए कठाभरण बनी हुई है और अगणित मुमुक्षुजन इस चौवीसी का नित्य रसास्वादन करते है।

प्रस्तुत प्रकाशन

'श्री देवचन्द्र चौवीसी' पर कवि-विवेचित स्वोपज्ञवृत्ति/वालावबोध हिन्दी रूपान्तरण का प्रकागन होना निश्चयत अनिवार्य था। मूल ग्रन्थ प्राचीन हिन्दी मे है, जो राजस्थानी एव गुजराती का मिश्रित रूप है। यह उसका हिन्दी अनुवाद है, जिसे प्रस्तुत किया है, साध्वी श्री सज्जनश्रीजी ने। वे एक तत्त्वचिन्तिका, और विदुषी साध्वी हैं। उन्हे जैन आगमा के गहन, अध्ययन के साथ-साथ विविध भारतीय भाषाओ का भी समुचित ज्ञान है। उनको सौम्य प्रतिभा, प्रभविष्णुता, विद्वत्ता एव आचारनिष्ठा के कारण ही धर्म सघ ने उन्हे प्रवर्तिनी जैसा सर्वोच्च पद प्रदान किया है। उन्होने अव तक अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो का अनुवाद किया है। उनके अनुवादित ग्रन्थो की शृखला मे प्रस्तुत प्रयास कुल मिलाकर श्लाघनीय है। साध्वीश्री ने मूल के अनुरूप भाषा अपनायी है। रूपान्तरण मूलानुगामी है। वाक्यो के प्रवाह और उनमे जगह-जगह झलकने वाले प्राचीन हिन्दीपन से यह पता चलता है कि अनुवादिका ने शैली की मूल रगीनी बनाए रखने का दायित्व निभाया है। रूपान्तरण मे सुस्पष्टता के लिए अनुवादिका ने कही-कही अपने भाव भी समायोजित किये है।

सम्पूर्ण अनुवादन मे सादापन है। जो साधक साधना की गोद मे शैशव-जीवन विता रहे है, उनके अवबोधन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ उपादेय है। मैं आशा रखता हू, साध्वीश्री इसी प्रकार अनुवादन-कार्य करके प्राचीन ग्रन्थो की भाषापरक दुरूहता को समाप्त कर उन्हे जनसाधारण के लिए वोधगम्य बनाने का उपकार करेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए **प्राकृत भारती अकादमी** अभिनन्दनीय है। प्राकृत-भारती जैन साहित्य-प्रकाशको मे प्रमुख है। इसने

अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को जनसुलभ करने में अदम्य उत्साह दिखाया है। जैन समाज को चाहिये कि वह ऐसी महत्त्वपूर्ण सस्थाओ को अधिकाधिक प्रोत्साहन एवं सहयोग दे। मैं अकादमी के चहुँमुखी विकास की कामना करता हूं।

रक्षा-बन्धन-पर्व, सन् १९८८

सम्पर्क सूत्र :
श्री जितयशाश्री फाउण्डेशन
९-सी, एस्पलानेड रोड ईस्ट,
कलकत्ता-६९

महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

देवचन्द्र चौवीसी सानुवाद

प्रस्तुति

यह ससारी जीव देवतत्त्व गुरुतत्त्व, एव धर्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान के अभाव मे अनादिकाल से ससार-चक्र मे परिभ्रमण कर रहा है। शरीर, इन्द्रिय-सुख और परिग्रह को ही हितकारी मान बैठा है। स्वयं के अनन्त आनन्दमय आत्म-स्वरूप को भूल गया है और उसका कभी स्मरण ही नही करता, किन्तु, मनुष्य भव, सज्ञी पचेन्द्रियत्व आदि सामग्री पाकर भी यदि आत्मा स्वयं के शुद्ध धर्म एव शुद्ध धर्म-प्राप्ति के कारण का सेवन न करे तो स्वसपदा कैसे प्राप्त कर सकता है ? अत परम उपकारी, जगत हितकारी श्री वीतराग प्रभु अरिहन्त देव की स्तवना, सेवना, उपासना करनी चाहिए, किन्तु राग विना प्रभु की सेवना नही हो सकती, अत. आदि तीर्थंकर ऋषभदेवजी की स्तवना करते हुए श्री वीतराग के साथ प्रीति करने को रीति कहते हैं।

षोडशक की टीका मे धर्म के चार आचरणो का उल्लेख किया गया है—प्रीति, भक्ति, वचन और असग। प्रीति का लक्षण इस प्रकार है—

"यत्रानुष्ठातुः आदरप्रयत्नातिशयोऽस्ति प्रीतिश्च अभिरुचि-रुपाहित उदयो यस्याः सा तथा भवति कर्तुः अनुष्ठातु शेषाणा त्यागेन च तत्काले यच्च करोति तदेकमात्रनिष्ठतया तत्प्रीत्यनुष्ठान ज्ञेयमिति।'

जिस शुभाचरण के प्रति साधक के चित्त मे अति आदर हो, उत्साह हो एव उस क्रिया मे पूर्ण पुरुषार्थ हो। उसकी चित्तवृत्ति अन्य प्रवृत्तियो से उदासीन होकर उस क्रिया मे पूर्णत तल्लीन हो, उसे ही प्रीति अनुष्ठान समझना चाहिए।

सासारिक प्रवृत्तियो मे प्रीति ससार-भ्रमण का कारण है, किन्तु जब वही प्रीति वीतराग प्रभु के प्रति होती है तो आत्म-उत्थान का निमित्त बनती है। अब प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव प्रभु के प्रति प्रीति की रीति का निरूपण करते है—

१. श्री ऋषभ जिनेन्द्र स्तवन

(तर्ज–निंदडली वैरण हो रही अथवा सहेल्या हे आवो मोरियो)

ऋषभ जिणंद सुं प्रीतड़ी
किम कीजे हो कहो चतुर विचार ।
प्रभुजी जइ अलगा वस्या,
तिहा किणे नवि हो कोइ वचन उच्चार । ऋ० ॥ १ ॥

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्त मे युगलिक जन के नेता श्री नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी की कुक्षी से जन्म लेकर जिन्होने अठारह कोडाकोडी सागरोपम तक अवरुद्ध निर्वाण-मार्ग को उद्घाटित किया, ऐसे प्रभु तीर्थ कर ऋषभदेव राग-द्वेष - रहित होने से जिन कहलाते है तथा उपकार सम्पदा और अक्षय सम्पदा से सुशोभित है, अत जिनेन्द्र कहलाते है । उनसे प्रीति-विलास करने का इच्छुक मोक्षाभिलाषी भव्य जीव विचार करता है कि वीतरागी भगवान के साथ किस प्रकार से प्रीति करनी चाहिए ? वीतराग से प्रीति का अनुभव मेरी आत्मा ने पहले कभी नही किया । अत प्रीति करने का अभिलाषी प्रीति की रीति नही जानता हुआ प्रश्न करता है कि, हे चतुर ज्ञानी आचार्यादि महानुभावो ! अथवा स्वभाव से चतुर स्वय की आत्मा से पूछता है कि प्रभु के साथ प्रीति कैसे की जाये ? निकटवर्ती व्यक्ति से तो प्रीति की जा सकती है, किन्तु प्रभु ऋषभदेव तो प्रत्येक अपेक्षा से दूर हैं । वे लोकाग्र मे सिद्धशिला पर स्थित है और मैं ससार मे हू । उनके आत्मा-द्रव्य और मेरे आत्म-द्रव्य मे भी अत्यधिक अन्तर है, मैं अशुद्ध परिणति विभाव-धर्मानुयायी पुद्गल भाव का भोगी अशुद्ध आत्म-द्रव्य हूँ और प्रभु परमात्मा तो सर्वथा शुद्ध परिणामी, निरावरण स्वभावी एव कर्मरहित है तथा अनन्त अक्षय ज्ञानादि स्वगुण भोगी

हैं, अत वे शुद्ध द्रव्य हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से मै ससार-क्षेत्र निवासी हूँ, तथा एक भव की अपेक्षा से शरीर अवगाही हूँ और ऋषभ प्रभु तो लोकाग्र क्षेत्री हैं, अशरीरी है, स्वप्रदेशावगाही है, अत क्षेत्र से भी मुझसे भिन्न हैं। भाव की अपेक्षा से मैं राग-द्वेष तथा अठारह पाप स्थान से युक्त हूँ तथा श्री देवाधिदेव ऋषभ प्रभु तो राग-द्वष-रहित तथा सर्व पाप स्थानो से रहित हैं। अत. प्रभु प्रत्येक अपेक्षा से मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। ऐसे स्थान पर हैं, जहाँ वाणी का व्यवहार भी नही है, तव उनसे प्रीति कैसे की जाये ?

प्रीति करने के अन्य उपायो का वर्णन करते हुए श्रीमद् कहते है—

कागल पण पहोचे नही,
नवि पहुँचे हो तिहां को परधान।
जे पहुँचे ते तुम समो,
नवि भाखे हो कोई नु व्यवधान।ऋ० ॥ २ ॥

प्रीति करने का एक दूसरा उपाय पत्र-व्यवहार भी है, किन्तु सिद्ध-शिला पर तो पत्र भी नही पहुँच सकता। न ही वहाँ कोई सन्देशवाहक पहुँच सकता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि रत्नत्रय रूप आराधना करके अनेक जीव मोक्ष जाते है, अत कोई नही जा सकता, ऐसा किसलिए कहा गया ? इसका उत्तर देते है कि जो वहाँ जाते हैं वे कर्मरहित होकर ही जाते है। वे भी आप (प्रभु) की तरह ही वीतराग प्रभुतामय असगी सकल ज्ञायक और अयोगी होते है, अतएव वचनरहित होते हैं, अत वे किसी का सदेश कैसे कह सकते है ? व्यवधान अर्थात् दूरी। भरत क्षेत्र से अमुक ने आप के पास यह सदेश भेजा है या आप से प्रीति करना चाहता है, ऐसा भी कोई कहने वाला नही है।

इस प्रकार प्रीति के ये तीनो ही उपाय आप से प्रीति करने मे कार्यकारी नही है।

प्रीति करे ते रागीया,
जिनवर जी हो तुमे तो वीतराग ।
प्रीतडी जेह अरागी थी,
मेलववी हो ते लोकोत्तर मार्ग । ऋ० ।। ३ ।।

पुन कहते है कि मुझ सदृश ससारी जीव अथवा सम्यग्दृष्टि प्रमुख भी, जो श्री सर्वज्ञ ज्योतिपुंज त्रिभुवनतिलक से प्रीति करना चाहे, तो वे सभी रागी है। और, हे जिनेश्वर देव ! आप तो वीतरागी है। जो राग सहित हो उसे तो अनेक प्रकार से आकर्षित किया जा सकता है, किन्तु जो रागरहित है उसे कैसे मोहित किया जाये ? इसका अर्थ यह नही है कि तब तो वीतराग से प्रीति करनी ही नही चाहिए। अरागो से प्रीति करना–लौकिक नही लोकोत्तर मार्ग है। साराशत रागी से राग करना सहज है, किन्तु जिसमे राग का अश मात्र भी नही है, उससे प्रीति करना अद्भुत कार्य है। लोकोत्तर मार्ग है।

प्रीति अनादिनी विष भरी,
ते रीते हो करवा मुझ भाव ।
करवी निर्विष प्रीतडी,
किण भाँते हो कहो बने बनाव । ऋ० ।। ४ ।।

यद्यपि ससारी जीवो मे अनादिकाल से प्रीति की परिणति है, किन्तु वह पुद्गल के वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि मनोज्ञ सयोगो पर है। वह प्रीति अप्रशस्त है, नवीन कर्मबन्ध की कारण है, अत विष से भरी हुई है। सासारिक वैभव अर्थात काया, कचन, स्वजन-परिजन, धन-धरती के प्रति होने वाला अनुराग विषमय है। वैसा ही राग आपसे भी करना चाहता हूँ, किन्तु वह राग किसी भी प्रकार से काम का नही है। कुल परम्परा या ममत्व भाव से अर्थात् अपनेपन के भाव से देव, गुरु और धर्म के प्रति राग भी मोक्ष मार्ग मे उपयोगी नही है, क्योकि

वह दृष्टिराग है और दृष्टिराग त्याज्य है। देव, गुरु, धर्म का यथार्थ ज्ञान अर्थात् तत्त्व ज्ञान ही वस्तुत. ज्ञान है।

तत्त्वार्थ की सम्यग् श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। कहा भी है— **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** अप्रशस्त राग ससार का हेतु है। कहा भी है :–

> जो अपसत्थो रागो वड्ढइ ससार-भमरण-परिवाडी ।
> विषयाइसु सयरणाइसु, इट्ठत्त पुग्गलाईसु ॥१॥

अर्थ—पॉच इन्द्रियो के विपयो पर, माता-पिता पुत्र पत्नी आदि स्वजनो के प्रति एव भोगोपभोगादि पौद्गलिक जड सामग्री पर जो इष्टत्व/राग है, वह अप्रशस्त राग है और ससार-वृद्धि का कारण है। अरिहन्त के प्रति राग प्रशस्त राग है। प्रशस्त राग का लक्षण निम्नाङ्कित है—

> नारणाइसु गुरणेसु अरहताइसु धम्मरूवेसु ।
> धम्मोवगरणसाहम्मिएमु धम्मत्थ जो य गुरणरागो ॥१॥
> सो सुपसत्थो रागो धम्मसयोगकाररणं गुरणदो ।
> पढम कायव्वो सो पत्तगुरणे खवइ त सव्व ॥२॥

अर्थ—अरिहन्तादि पॉच परमेष्ठियो पर तथा ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणो मे, धर्मोपकरण–अर्हत् पूजा के उपकरण, कलशादि एव पूजन सामग्री, साधु-साध्वी के वस्त्रपात्र रजोहरणादि, श्रावक-श्राविका के आसन मुख-वस्त्रिका चरवला आदि, दर्शन के—जिनमदिर प्रतिमा आदि, ज्ञान के–शास्त्र, पुस्तके, पाटी, ठवणी सॉपडा, साँपडी, लेखनी, पैन-पेंसिल कागज आदि सर्व अध्ययन एव अध्यापन सामग्री तथा स्व-धर्मीबन्धु और भगिनी के प्रति धर्मार्थ जो अनुराग है वह गुणानुराग है, अत सुप्रशस्त राग है, धर्म-सयोग होने का कारण है, गुणदाता है, वह तो प्रथम करने ही योग्य है। जब क्षायिक ज्ञानादि गुण प्राप्त हो जाते हैं, तब इस राग का स्वय ही क्षय हो जाता है।

अत. अरिहन्त के ऊपर गुणवत राग होना चाहिए। ऐसा राग, जिसमे विपय अभिलाषा न हो, वर्णादिक के प्रति मुग्धता न हो तथा इहलौकिक एव पारलौकिक इन्द्रिय सुख की अभिलाषा न हो, यहाँ तक कि प्रभु अपने ज्ञानादिक गुण मुझे दे, ऐसी इच्छा भी न हो। अरूपी अज अविनाशी, अकृत्रिम, शुद्ध ज्ञानादिक गुण जिनके प्रकट हो गए है, जो स्वरूप के भोगी है, स्वरूप मे ही रमण करने वाले है और स्वरूपाश्रित है, ऐसे अरिहन्त के गुणो का राग, मात्र स्वगुणो को प्रकट करने के हेतु से करना, निर्विष राग है। वैसी निर्विष प्रीति करने की मुझमे तो शक्ति है नही, अत यह कार्य कैसे हो ? हे उपकारी पुरुषो ! उसे आप वतलाइये।

प्रीति अनती पर थकी,
जे तोड़े हो ते जोड़े एह।
परम पुरुष थी रागता,
एकत्वता हो दाखी गुण गेह। ऋ० ॥ ५ ॥

अब ज्ञानी पुरुष प्रभु परमात्मा से प्रीति की रीति बना रहे है। अनन्त काल से अनन्त पर-पदार्थो मे, काया, कचन, कुटुम्ब, कीर्ति मे जो जीव की राग भाव रूप प्रीति है, उस राग भाव को जब जीव तोडेगा तब वीतराग अरिहन्त प्रभु के गुणो से प्रीति जोडेगा अर्थात् जो समस्त परभाव रूप राग का त्याग करेगा वही सर्व गुणी के प्रति राग कर सकेगा। यहाँ कोई प्रश्न करे कि अरिहन्तादिक गुणवान व्यक्तियो के साथ गुण से मिला जा सकता है, पर राग तो पाप स्थानक है, वह क्यो किया जाये ? उसका उत्तर है कि, परम पुरुष वीतराग से राग करना और एकत्वता की भावना करना, मात्र गुणो का घर कहा गया है। अत सर्वप्रथम श्री वीतराग के प्रति राग करना ही वीतरागता का कारण है।

प्रभुजी ने अवलम्बतां,
निज प्रभुता हो प्रगटे गुण रास।
देवचन्द्र नी सेवना,
आपे मुझ हो अविचल सुख वास। ऋ० ॥ ६ ॥

इस प्रकार प्रभुजी का अवलम्बन अर्थात् आश्रय लेने से स्वय की अनन्त गुण पर्याय रूप प्रभुता प्रकट होती है, निरावरण बनती है, समस्त गुण व्यक्त होते हैं। अत· चार निकाय के देव अथवा नरदेवा-दिक मे चन्द्रमा के समान श्री अरिहन्त देव की द्रव्य और भाव से भक्ति, सेवना करनी चाहिए। श्री अरिहन्त की वह भक्ति मुझे अविचल सुखो का निवास, अव्याबाध सुख का वास देवे। साराश यह है कि-आस्रव त्याग अर्थात् सयम रूप परिणमन ही अरिहन्त प्रभु की वास्तविक सेवा है। कहा भी है–"**आणाकारो भत्तो, आणाछेइओ सो अभत्तो त्ति**'–जो आज्ञाकारी है, वह भक्त है, जो आज्ञा का छेद/नाश/भग करता है, वह अभक्त है। अरिहन्त प्रभु स्वय तो स्वसेवा के इच्छुक नही है किन्तु, सब जीवो को स्वहित करने के लिए सेवा, भक्ति, असयम का त्याग और सवर की आराधना करनी है। अरिहन्त आज्ञा का अर्थ यह नही है कि अरिहन्त प्रभु आज्ञा देते है। अपितु, अरिहन्त प्रभु ने जैसा द्रव्य का स्वरूप देखा, वैसा ही कहा है। प्रत्येक जीव के अपने दर्शन ज्ञान चारित्र परमानन्द के हेतु है, अतएव जिस रीति से ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्रकट हो, उसी रीति का उपदेश दिया। उसी राति के अनुसार प्रत्येक भव्य प्राणी को अपने ज्ञानादिक गुण प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे मार्गदर्शक वीतराग श्री अरिहन्त देव की सेवा करने से सभी उत्तम जीव निश्चय से मोक्ष प्राप्त करते है, अत प्रभु की सेवा मोक्ष रूप अविचल सुख देती है। सभी भव्य प्राणियो को ससार के सभी कार्यों को छोडकर, सभी परभावो से नि स्पृह होकर एक परमो-पकारी धर्मोपदेशक अरिहन्त देव की सेवा करनी चाहिए।

□

२. श्री अजित जिनेन्द्र स्तवन

(राग—ऐसे श्याम सलोने)

श्री अजितनाथ प्रभु की स्तवना करते हुए श्रीमद् कारण-काय भाव की साधनता दिखाते हैं कि कारण मिलने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। कारण दो प्रकार के होते है—निमित्त कारण और उपादान कारण। उपादान कारण की कारणता निमित्त मिलने पर प्रकट होती है, किन्तु वह निमित्त कारण की पुष्टता पर निर्भर है। मोक्ष के निमित्त कारण श्री वीतराग अरिहन्त देव हैं, जिनके मिलने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध होता है।

ज्ञानादिक गुण सम्पदा रे,
तुझ अनन्त अपार।
ते साँभलता उपनी रे,
रुचि तेणे पार उतार ॥ १ ॥
अजित जिन ! तारजो रे,
तारजो दीनदयाल ॥ स्थायी ॥

श्रीमद् कह रहे है—हे प्रभु ! सकल पचास्तिकाय के गुण पयाय आदि विशेष धर्मो को जानने वाला त्रैकालिक केवलज्ञान, समस्त सामान्य ग्राहक केवलदर्शन, स्वरूप एकत्व रूप परम चारित्र, अरूपी, एव अव्याबाध गुणो की आपकी सम्पदा अनन्त है, अपार है। अनन्तता का विश्लेषण करते हुए श्रीमद् कहते है—सब द्रव्यो से सब द्रव्यो के प्रदेश अनन्त गुणा, सर्व प्रदेश से एक द्रव्य के गुण अनन्त गुणा, सब गुणो से अस्ति-नास्ति रूप स्वपर्याय अनत गुणा है। अस्ति-पर्याय वस्तु का स्वधर्म है तथा नास्ति-पर्याय भी वस्तु का स्वधर्म है। श्री **विशेषावश्यक भाष्य** मे श्रुत ज्ञानाधिकार मे कहा गया है :—

जइ ते परपज्जाया, न तस्स अह तस्स न परपज्जाया ।
जं तम्मिय संबद्धा, तो परपज्जाय ववएसो ।। ४७६।।

शका—यदि वे नास्ति रूप पर-पर्याय हैं, तो वे उस आत्मा के कैसे हो सकते है ?

उत्तर—जो पर-पर्याय है, वे आत्मा से असम्बद्ध है, अत उन्हे पर-पर्याय शब्द से व्यपदेश किया है, अर्थात् बतलाया है, ऐसा नाम दिया है ।

सस्कृत टीका और अर्थ—

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये चामी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, तथाक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनां । ततश्च यदि परस्य पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति विरोधस्तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानाद्यस्मात् कारणात् तस्मिन्नकारेकाराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धास्ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशो अन्यथा व्यावृतेन रूपेण तेऽपि संबद्धा एवेत्यतस्तेषामपि व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकस्वपर्यायत्वं न विरुद्ध्यते । अस्तित्वेन तु घटादिपर्याया घटादिष्वेव प्रतिबद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्याया व्यपदेश्यन्ते इति भाव । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपं, अस्तित्वं नास्तित्वं च । ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन संबद्धास्ते तस्य परपर्याया. प्रतिपाद्यन्ते । इति निमित्तभेदख्यापनपरावेव स्वपरशब्दौ, नत्वेकेषां, तत्र सर्वथा सम्बन्धनिराकरणपरौ ।।

वत्थुसहावं पइ तं पि सपरपज्जायभेयओ भिन्नं ।
तं जेण जीवभावो, भिन्ना य तओ घडाईया ।। ४६५ ।।

वस्तुस्वभावं प्रति यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमाश्रित्य तदपि केवलज्ञानं अकाराद्यक्षरवत् स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव । ननु यथोक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भाव । कुत ? इत्याह—येन कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभावप्रतिनियतो जीवपर्यायो न घटादिस्वरूपं, तत्रापि

घटादयस्तत्स्वभावा किंतु ततो भिन्ना इति ते ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया भवेयुः ? सर्वसंकरैकत्वादिप्रसंगात्तस्मादमूर्त्तत्वचेतनत्वसर्ववेतृत्वाप्रतिपाती च निरावरणत्वादय. केवलज्ञानस्य स्वपर्याया, घटादिपर्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्याया । अन्ये तु व्याचक्षते— सर्वद्रव्यगतान् सर्वानपि पर्यायान् केवलं ज्ञानं जानाति, येन च स्वभावेनैक पर्यायं जानाति, न तेनैवापरमपि, किंतु स्वभावभेदेनान्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसगस्तस्मात् सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्या. स्वभावभेदलक्षणकेवलज्ञानस्य स्वपर्याया, सर्वद्रव्यपर्यायास्तु परपर्याया. इत्येवं स्वपर्यायाः । परपर्यायाश्चोभयेऽपि परस्पर तुल्याः केवलस्येति ।।

अर्थ—यहाॅ स्वपर्यायो को ही उस द्रव्य की पर्यायता कही है, और, जो ये परपर्याय है वे यदि घटादि के है, तो वे अक्षर के नही, तथा जो अक्षर के है तो वे घटादि के नही । अत जो परपर्याय है, वे उसके (ज्ञान या आत्मा के) कैसे हो सकते है ? और यदि है, तो फिर पर के कैसे हुये ? इस प्रकार विरोध हो जाता है ।

उत्तर—आपका कहना युक्त नही, क्योंकि आपने अभिप्राय नही जाना । जिस कारण से है, उन्हे समझिए । अकार इकारादि अक्षर मे घटादि पर्याय अस्तित्व रूप से असम्बद्ध (पृथक्) है । अतएव उन्हे परपर्याय कहा है । अन्यथा वे भी व्यापृत रूप से तो सम्बद्ध (जुडे हुये) हैं ही । इस प्रकार से उनका भी व्यापृत रूप से पारमार्थिक पर्यायत्व मे कोई विरोध नही है । अस्तित्व रूप से घटादि पर्याय घटादि मे ही प्रतिबद्ध है, अत वे अक्षर के परपर्याय कहलाते हैं । यह अभिप्राय है ।

क्योंकि, वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का है–१ अस्तित्व रूप और २ नास्तित्व रूप । जो अस्तित्व रूप से प्रतिबद्ध है वे उसके स्वपर्याय कहे जाते है और जो नास्तित्व रूप से सम्बद्ध है, वे उसके परपर्याय कहलाते है । इस प्रकार स्व-पर शब्द निमित्त भेद के ज्ञापक (बतलाने वाले) हैं, न कि किन्ही के सर्वथा सम्बद्ध निराकरणपरक । जैसा कि कहा है—

वस्तु स्वभाव के प्रति वह भी स्व-पर-पर्याय भेद से भिन्न है। इसी से जीव घटादि से भिन्न है।

वस्तु-स्वभाव के प्रति यथावस्थित वस्तु स्वरूप को आश्रित करके रहता है, तथापि केवलज्ञान अकारादि अक्षरो के समान स्व-पर पर्याय से भिन्न ही है। यदि यथोक्त नीति से स्वपर्याय से ही अन्वित है, ऐसा आशय है, तो पुन. पर-पर्याय उसके कैसे है ? इसे स्पष्टत कहते हैं—

जैसे कि केवलज्ञान जीवभाव प्रतिनियत जीव पर्याय है, घटादि स्वरूप नही। घटादि के स्वभावादि का ज्ञान केवलज्ञान का कार्य है, किन्तु ज्ञान से भिन्न है, अत वे जाने जाते हुए भी केवलज्ञान के स्वपर्याय कैसे हो सकते है ? इससे तो सर्व मिश्रित हो जाने का प्रसंग आ जाता है। केवलज्ञान के अमूर्तत्व, चेतनत्व, सर्ववेत्तृत्व, अप्रतिपातित्व तथा निरावरणत्व आदि स्वपर्याय है। घटादि पर्याय व्यावृत्ति के आश्रय से परपर्याय हैं। अन्य तो ऐसा भी कहते है—सर्वद्रव्यगत सभी पर्यायो को केवलज्ञान जानता है और जिस स्वभाव से एक पर्याय को जानता है, उसी से सभी पर्यायो को जानता है, किन्तु स्वभाव भेद से, क्योकि सभी द्रव्यो का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, अन्यथा सर्वद्रव्य पर्यायो के एकत्व का प्रसग उपस्थित हो जायगा। अत: सर्वद्रव्य पर्यायो के राशि तुल्य स्वभाव भेद लक्षण केवलज्ञान के स्वपर्याय है। सर्वद्रव्यो के पर्याय पर-पर्याय है। इस प्रकार केवलज्ञान के स्वपर्याय और सर्वद्रव्यो के पर्याय दोनो ही परस्पर तुल्य है—इत्यादि सर्व अधिकार **विशेषावश्यक महाभाष्य** से जानना चाहिए। जीव द्रव्य के अस्ति पर्याय अनन्त गुणे है, वे सर्व हे प्रभो ! आपके निरावरण हो गये। आगम मे आपकी उस अनन्त-गुणमयी परमानन्द सम्पदा को सुनते हुए मुझे भी यह रुचि उत्पन्न हुई कि वैसी ही सिद्धता मेरे भी प्रकट हो।

हे परमपुरुष ! कर्मवश पडे हुए मुझ अनाथ दीन को भव समुद्र से पार उतारिये। ससार से पार उतारने की विनती आपके अतिरिक्त अन्य किससे करूँ ? क्योकि, जो भव से पार हो गए, उनके सामने ही भवपार पहुँचाने की विनती की जा सकती है, अत हे

स्वामिन्! इस ससार से मेरा निस्तार करो। भव मे उद्विग्न मोक्षाभिलाषी आतुर होकर ऐसी विनती करता है—हे अजित जिन! मुझे ससार से तारिये, पार उतारिये, क्योकि, हे प्रभु आप तो दीनदयालु है।

अब जिस कार्य का जो कारण है, उस कारण के मिलने पर ही कार्य सिद्ध होता है, यह निरूपण कर रहे है—

जे जे कारण जेहनूं रे,
सामग्री सयोग।
मलता कारज नीपजे रे,
कर्त्ता तणे प्रयोग ।। अजित० ।।२।।

जिस कार्य का जो कारण है, वह कारण तथा वैसी सामग्री दोनों का सयोग मिलने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। कारण दो प्रकार के होते है—उपादान कारण और निमित्त कारण। जैसे घट के निर्माण मे मृत्तिका उपादान कारण है तथा चक्र, दण्ड, सूत आदि निमित्त कारण है और कुम्भकार कर्त्ता है। ध्यान मे रखने की बात है कि जो कार्य अभेद होता है, उसका कर्त्ता भी अभेद होता है; जो कार्य कर्त्ता से भिन्न होता है, उसका कर्त्ता भी भिन्न होता है। जैसे कि घटरूप कार्य कुम्भकार से भिन्न है, क्योंकि कुम्भकार घट से भिन्न है। वैसे ही सिद्धता रूप कार्य आत्मा से अभिन्न है, क्योकि उसका कर्त्ता भी अभिन्न है।

आत्मा रूप कर्त्ता का कार्य सकल स्वधर्म अभिव्यक्ति रूप सिद्धता है। श्री अरिहन्त देवाधिदेव तथा निर्ग्रन्थादि गुरु रूप निमित्त कारण मिलने पर और कर्म-भूमि, मनुष्य-भव, आर्य-कुल, जाति, स्वस्थ शरीर आदि प्राप्त होने पर मोक्ष रूप कार्य की सिद्धि होती है। मेरा कार्य मोक्ष की प्राप्ति है। उसके निमित्त कारण हे वीतराग देव! आप है, अतएव आपका आश्रय लेने पर मोक्ष रूप कार्य की निष्पत्ति हो सकती है। किन्तु, निमित्त और सामग्री आदि सब प्राप्त हो जाएँ और कर्त्ता—जो कि आत्मा है—वह उस प्रकार के प्रयोग/साधन का व्यापार

न करे अथवा पुरुषार्थ न करे तो कार्यसिद्धि नही हो सकती, क्योकि अरिहन्तादिक का निमित्त पाकर भी अनेक जीव आत्मसाध्यावलम्बी तथा साधन परिणत हुए बिना और मोक्ष रूपी कार्य किए बिना अभी तक ससार मे भ्रमण करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे है। इसलिए आत्मा रूप कर्त्ता यदि मोक्ष साधन रूप सामग्री का प्रयोग अर्थात् व्यापार करे तो सिद्धता रूप कार्य की निष्पत्ति होती है अथवा हो सकती है।

कार्य सिद्धि करता वसु रे,
लहि कारण सयोग।
निजपद कारक प्रभु मिल्या रे,
होय निमित्तह भोग ।। अजित० ।।३।।

कार्य सिद्धि कर्त्ता के वश मे है। जिस प्रकार कुम्भकार रूप कर्त्ता दण्ड रूप सामग्री का घट रूप कार्य करने मे प्रवृत्ति करे तो घट रूप कार्य बनता है और वही दण्ड जो घटध्वसादि के लिए प्रयोग करे तो घट का ध्वस करता है। कर्त्ता जिस कार्य को करने के लिए निमित्त की प्रवृत्ति करे—वही कार्य होता है। अत' कार्य की सिद्धि कर्त्ता के वश मे है, किन्तु निमित्तादि कारणों का सयोग मिलने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। यही कार्य-सिद्धि की पद्धति है। अत. परमानन्द महोदय रूप स्व-आत्मिक पद के कारक, मोक्ष के पुष्ट कारण प्रभु अरिहन्त देव रूप निमित्त के मिलने पर भव्य जीव को हर्ष का आस्वादन (भोग) होता है। उसे अत्यन्त आनन्द होता है। अतः कर्त्ता पुष्ट निमित्त कारण की अभिलाषा करता है।

निमित्त प्राप्त करके आत्मा किस प्रकार जागृत हो जाता है—इसे स्पष्ट कर रहे है—

अज कुलगत केसरी लहे रे,
निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ते भवि लहे रे,
आतम शक्ति संभाल ।। अजित०।।४।।

जैसे किसी अरण्य मे एक सिंहनी की प्रसूति होने के पश्चात् मृत्यु हो गई। बकरियाँ चराने वाला एक अहीर बकरियों के साथ उधर मे निकला। उसने मृत सिंहनी एव जीवित सिंह शावक को देखा। वह करुणा से अभिभूत हो, उस सिंहशावक को उठा लाया। बकरियों का दूध पीकर वह बच्चा बकरियों के साथ ही रहने लगा। उनके साथ ही चरने लगा। एकदा चरते-चरते बकरियो ने एक सिंह की गर्जना सुनी और वे भागने लगी। उनके साथ वह सिंह-शावक भी दौडने लगा। सिंह समीप आया तो उसने सिंह को देखा। अपने साथ तुलना की तो उसने जाना कि मैं तो इसके समान ही हूँ, अतः उसने बकरियो का साथ छोड दिया और सिंह के साथ हो गया।

इसी प्रकार हे प्रभु! सासारिक जीव भी आपकी भक्ति करता हुआ अपने विस्मृत आत्म स्वरूप का स्मरण कर लेता है। वस्तु-स्वरूप सत्ता की अपेक्षा से मैं भी वीतराग कर्मरहित शुद्ध स्वरूप हूँ। प्रभु भी पहले मुझ जैसे ही संसारी थे—फिर सिद्ध हुए, वैसे ही मैं भी अभी ससारी हूँ किन्तु यदि साधना करूँ तो सिद्ध रूप हो सकता हूँ। ऐसा आत्म-स्वरूप का भान श्री अरिहन्त की सेवा करते हुए उत्पन्न होता है।

कारण पद कर्ता पणे रे,
करि आरोप अभेद।
निज पद अर्थी प्रभु थकी रे,
करे अनेक उम्मेद ॥ अजित० ॥५॥

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अरिहन्त देव तो अन्य जीवो की मुक्ति के कर्त्ता नही है, तो आप अरिहन्त देव से मुक्ति क्यो माँग रहे है? उसका उत्तर है—कारण पद अर्थात् अरिहन्त आदि पुष्टालम्बन है, अत कारण मे अभेद कर्त्ता का आरोपण करके स्वपद शुद्ध सिद्धता रूप कार्य को प्राप्त करने का इच्छुक भव्य जीव श्री वीतराग तीर्थंकर देव से सम्यक्त्वादि अनेक गुणो की उम्मेद अर्थात् आशा करता है और

निवेदन करता है कि हे प्रभो ! आप मुझे मोक्ष की कारण सामग्री एव मोक्ष दीजिए । यहाँ निमित्त कारण मे कर्त्ता का अभेद आरोप करके स्तुति की गई है । ।।५।।

जिस निमित्त को पाकर उपादान मे जागृति आये अर्थात् उसमे परिवर्तन आ जाये, वह पद्धति अथवा प्रभु परमात्मा का स्वरूप बताते है :—

अहवा परमातम प्रभु रे,
परमानन्द स्वरूप ।
स्याद्वाद सत्ता रसी रे,
अमल अखण्ड अनूप ।। अजित० ।।६।।

आत्मा के तीन प्रकार है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जो औदयिक भाव कर्मजनित शरीर आदि को आत्मा माने–वह बहिरात्मा है । औदयिक भाव कर्मजनित शरीर से आत्मा पृथक् है, आत्मा असख्यात प्रदेशी, चेतना लक्षणयुक्त, ज्ञानादि अनन्त गुण पर्याय सहित अरूपी है । आत्मा अरूपी एव शरीर रूपी, आत्मा सहज अकृत्रिम एव शरीर सयोगीकृत्रिम है कर्म-योग से शरीर मे रही हुई भी भिन्न है । इस प्रकार के भेद-ज्ञानी साधक को सम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त अन्तरात्मा जानना चाहिये । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म जिनके क्षय हो गए—वे सयोगी केवलज्ञानी और चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी केवलज्ञानी एव अष्ट कर्मों से मुक्त सिद्धात्माओ को परमात्मा जानना चाहिए ।

श्री अजितनाथ अरिहन्त एवभूत नय से परमात्मा है, प्रभु है । समस्त सिद्ध वस्तुत स्वय की गुणपर्याय रूप सम्पदा के प्रभु है । कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का स्वामी होता ही नही, जब तक जिस द्रव्य के चिन्तन मे भी पर द्रव्य का स्वामित्व है तब तक वह द्रव्य शुद्ध नही है । अत श्री अजितनाथ अरिहन्त स्व-स्वभाव के प्रभु है । उत्तम जीव स्वय को कर्मवश मोह से मुग्ध जानकर स्वय को रक

समान मानते है तथा जो अमोही, स्वाधीन हो गए उन्हे प्रभु कहते है । उन अमोही प्रभु का अवलम्बन लेने पर साधक स्व-सपदा का स्वामी बन सकता है, अतएव जिस कारण से स्वय का प्रभुत्व पाया जा सकता है वे निमित्त कारण प्रभु है और उन्ही की प्रभु रूप से स्तवना करनी चाहिए ।

जगत् मे पुद्गल-सयोगजन्य सुख सुख कहलाता है, किन्तु वह तो केवल आरोप मात्र है अर्थात् वास्तव मे सुख नही है । **विशेषावश्यक भाष्य** मे कहा है—

जत्तो च्चिय पच्चक्खं, सोम्म ! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं ।
तप्पडियार विभत्त तो पुण्णफलं पि दुक्खति ।।२००५।।

हे सौम्य ! 'प्रभासज्ञानावलोकनेन' अर्थात् स्पष्ट ज्ञान से दृश्यमान सुख सुख नही है । चन्दन, अगनादि सयोग से उत्पन्न सुख भी दु ख रूप ही है । विषय उत्सुकता से उत्पन्न अरति का प्रतिकार मात्र है अर्थात् दु ख को ही तत्त्वज्ञान के अभाव मे सुख-दु ख रूप भेद मान लिया है, पर वास्तव मे वह दु ख रूप ही है । जैसा कि कहा है—

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा, क्लिश्नातिलब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।।

जिस प्रकार कई जीव राज्य पाकर सुख मानते है, किन्तु वास्तव मे यह सुख सुख नही है । राज्य पाने वाला सोचता है कि मेरी प्रतिष्ठा बढेगी, उसकी उत्सुकता मात्र ही चित्त को अशान्त बनाये रखती है । वैभव, ऐश्वर्य, स्वजन, परिजन आदि के परिपालन की वृत्ति ही जीवन मे सक्लेश पैदा करती है, जैसे अपने हाथ मे लिया हुआ भारी भरकम छत्र श्रम दूर करने के लिए नही किन्तु श्रम के लिए हो जाता है ।

पुण्य फल अर्थात् वैभव ऐश्वर्यादि भोग सामग्री तत्त्वतः दु ख रूप है । कहा भी है—

विषय सुहं दुक्खं चिय, दुक्खपडिआरओ तिगिच्छ व्व ।।
तं सुहमुवयाराओ, न योवयारो विणा तच्चं ।।२००६।।

—विशेपावश्यक भाष्य

विषय सुख तत्त्वत: दु ख ही है, जिस प्रकार रोगी को क्वाथ-पान, छेदन, दागना आदि चिकित्सा हितकारी लगती है; किन्तु दु ख तो स्पष्टत: दु.ख ही है, मात्र उपचार से सुख लगता है। और, जो उपचार है वह तथ्य रूप से पारमार्थिक सुख नही है। सुख तो मुक्त आत्मा का निरुपचरित स्वाभाविक निष्प्रतिकार रूप आत्मिक आनन्द है। वही यथार्थ सुख है। साता और असाता दोनो ही दु ख रूप है, क्योकि इनका परिणाम दु ख ही है। इनका उदय कर्म का विपाक है और कर्म का विपाक गुण का रोधक है। स्व-गुण के रोध को सुख भला कौन कहेगा। कहा भी है—

सायाऽसायं दुक्खं तव्विरहम्मि य जओ सुहं तेणं।
देहिंदिएसु दुक्खं, सुक्खं देहिंदियाभावे ॥२०११॥

—विशेषावश्यक भाष्य

साता और असाता दोनो ही दु ख रूप है। वेदनीय कर्म का अभाव हो जाने पर ही सुख है। देह और इन्द्रिया भी दु खरूप ही है। वास्तविक सुख तो देह और इन्द्रिय के अभाव रूप मे है। सर्व परकीयभावो के सग से रहित स्वाभाविक आनन्द परमानन्द है। वह परमानन्द ही श्री अजितनाथ का स्वरूप है।

जगत मे जीवादि षड्द्रव्य है। उसमे पॉच अस्तिकाय ही परमार्थ से द्रव्य हैं और छट्ठा काल उपचार से द्रव्य कहा जाता है। यह चर्चा तत्त्वार्थ भाष्य तथा धर्मसग्रहणी मे देखनी चाहिए। एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण एव अनन्त पर्याय होने के कारण अनेकता जाननी चाहिए तथा एक द्रव्य मे एक समय मे स्याद् नित्य, स्याद् अनित्य, स्याद् एकम्, स्याद् अनेकम्, स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् भिन्न, स्याद् अभिन्न, स्याद् वक्तव्य, स्याद् अवक्तव्य—इन सब के स्वभाव की युगपत् प्रवृत्ति ज्ञानीगम्य है। इतने धर्म समकाल जिसमे प्रवृत्त होते है, उन धर्मो की अनन्त प्रवृत्तियो को स्याद्वाद कहते है। 'स्यात् इति पद अनेकान्त-द्योतक' ऐसी स्याद्वादमयी आत्मा की गुण पर्याय रूप जो सत्ता है, उसके आप रसी अर्थात् रसिक है। आप स्याद्वादमयी आत्म-सत्ता के भोक्ता है। अमल अर्थात् कर्ममल रहित हैं, अखण्ड अर्थात् कभी भी खण्डित नही होने वाले एव अनूप अर्थात् उपमा रहित है। ऐसे प्रभु

अर्थात् आपको देखकर मुझे अपूर्व लाभ हुआ है, अत. उसीका वर्णन कर रहे हैं—

आरोपित सुख भ्रम टल्यु रे,
भास्युं अव्यावाध ।
समयुं अभिलाषी पणूं रे,
कर्त्ता साधन साध्य ।। अजित०।।६।।

उपर्युक्त गुणों से युक्त ऐसे प्रभु आत्मानन्द भोगी, आत्म-स्वरूप मे रमण करने वाले तत्त्व-विलासी है । उनके दर्शन करके मेरा अनादि काल का आरोपित सुख अर्थात् इन्द्रिय-सुखो मे सुख का भासन रूप भ्रम दूर हो गया और अव्यावाध आत्मिक आनन्द सुख 'भास्यो' अर्थात् प्रतीत होने लग गया । जव तक विपय सुखो मे सुख की बुद्धि थी, तव तक विषय मुखो की अभिलाषा थी और अव सर्व विपय–सुखो से रहित अव्यावाध मुख वाले श्री प्रभुजी के दर्शन हुए । इससे भव्य जीव को ऐसा निश्चय हो गया कि वास्तविक सुख तो अव्यावाध मुख है, अत अव्यावाध सुख की अभिलापा का स्मरण हो गया । फलत वह जीव स्वरूपानुयायी हो गया । इतने काल पर्यन्त विपय मुख की अभिलापा से वह आत्मा विषय सुख का कर्त्ता था । उसे जव अव्यावाध सुख की अभिलापा हुई तव वह उसकी कारण सामग्री को प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त हुआ । कर्त्ता को जो कार्य करना होता है, वह वैसी ही कारण सामग्री को एकत्रित करता है । जिसे करना चाहता है, वही कार्य उसका साध्य होता है । अव तक जीव का साध्य विषय सुख था, अत· साधन भी विपय सुख के ही प्राप्त करता था । अव निर्विकार अव्यावाध मुख वाले प्रभु श्री अजितनाथ के दर्शन के अनन्तर दर्शक का साध्य भी अव्यावाध सुख वन गया । साध्य तथा साधन का स्मरण हो गया ।

ग्राहकता स्वामित्वता रे,
व्यापक भोक्ता भाव ।
कारणता कारज दशा रे,
सकल ग्रह्युं निज भाव ।। अजित०।।८।।

अभी तक यह जीव विपय-सुख का ग्राहक था, अव शुद्ध अव्याबाध सुख वाले परमेश्वर को देखकर उस सुख का ग्राहक वन गया। इतने काल पर्यन्त अज्ञान से प्रेरित विपय-सुखो के हेतु धन, स्त्री, वस्त्र, आहारादिक पर-भावो का स्वामित्व कर रहा था; अव ज्ञानादिक अनन्त गुण सम्पत्ति के स्वामी श्री देवाधिदेव को देखकर इस जीव को भी अनन्त ज्ञानादि स्वसम्पदा का स्वामित्व प्राप्त हो गया। अर्थात् ग्राहक भाव तथा स्वामित्व भाव स्मरण मे आ गया। अनन्त काल से जो आत्मा विपयादिक परभाव मे व्यापक था, वह अव आत्मानन्द तथा उसके साधन मे व्यापक वन गया। जो अनादि काल से पर-भाव का भोक्ता था, वह अव स्व-भावभोगी परम प्रभु को देखकर स्वभाव-भोक्ता वन गया अर्थात् व्यापकत्व तथा भोक्तृत्व भी स्मरण मे आ गया। जो आत्मा अव तक अज्ञानवश ससार मे आठ कर्म रूप उपाधि का उपादान कारण था, अव शुद्ध स्वरूपी निष्कर्म देव तत्त्व अर्थात् अरिहन्त के दर्शन से अपने शुद्ध स्वरूप का उपादान कारण वन गया। अब तक यह आठ कर्म रूप कार्य का कर्त्ता था, अव परमदेव के प्रति श्रद्धा होने से सवर-निर्जरा रूप कार्य का कर्त्ता वन गया। अत हे परमेश्वर! हे जगदाधार! हे दीनवन्धो! मेरी चेतना आपकी अनुयायी हो गई। इससे कारण तथा कार्य इत्यादि तथा अन्य भी अनन्त आत्मशक्तियाँ स्मृति मे आने लगी। समस्त आत्म-शक्तियो ने आत्मभाव स्वीकार कर लिया और पर-भाव का त्याग प्रारम्भ कर दिया।

श्रद्धा भासन रमणता रे,
दानादिक परिणाम।
सकल थया सत्ता रसी रे,
जिनवर दरिसण पाम ॥ अजित० ॥६॥

अव तक औदयिक पुण्य प्रकृति का उदय जीव को इष्ट प्रतीत होता था, अत पुण्य के उदय को सुख मानता था; जबकि औदयिक पुण्य प्रकृति सातावेदनीय आदि का उदय गुणो का रोधक एव तत्त्व-विमुख करने वाला है। अब उसे ऐसी श्रद्धा हो गई कि अव्याबाध

निष्कर्म स्वरूप ही मेरा साध्य है। और, वस्तु की यथार्थता का ज्ञान और अर्थात् भासन भी स्मरण मे आ गया। पौद्गलिक वर्ण-गंध आदि मे होने वाली रमणता भी स्वरूपाभिमुख हो गई। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इन पाँचो का क्षयोपशम भी परानुयायी था, पौद्गलिक वस्तुओ को देना—दान, प्राप्त करना – लाभ, भोगना – भोग, एक ही वस्तु का वार-वार उपयोग करना – उपभोग और वीर्य भी वालवीर्य था। मानसिक, वाचिक एव कायिक शक्तियाँ भी कर्म के ग्रहण, वन्धन आदि आठ करण रूप मे प्रवृत्त हो रही थी। हे प्रभो! आपके दर्शन से ये सभी शक्तियाँ सत्ता रूप से अपने जीव द्रव्य के अर्थात् आत्मा के मूल धर्म ज्ञानादि अनन्त गुण पर्याय की रसिक वन गई, अर्थात् पुद्गलानुयायिता का परित्याग करके शुद्ध स्वरूपानुयायी हो गई। स्वसत्ता मेरा धर्म है—ऐसी श्रद्धा हो गई। स्वय के गुण ही भाव निक्षेप रूप सार तत्त्व है—ऐसा ज्ञान हो गया तथा आत्म-धर्म क्षमादि मे रमण हो गया और सहकार रूप दान गुण, गुण प्राग्भाव रूप लाभ, स्वगुण का भोग, स्वपर्याय का उपभोग और वीर्य भी पण्डित वीर्य होकर सवर का हेतु तथा निर्जरा रूप हो गया। हे वीतराग देव! हे जिनेश्वर देव! आपके दर्शन पाकर मेरे गुण स्वसत्ता रसिक वन गये।

तरण निर्यामक माहणो रे,
वैद्य गोप आधार।
देवचन्द सुख सागरू रे,
भाव धर्म दातार ॥ अजित ०॥१०॥

हे प्रभो! आप ससार समुद्र से पार उतारने वाले चारित्र रूप जहाज को चलाने वाले निर्यामक के सदृश हैं। आप स्वय तत्त्व धर्म रूप से परिणत है, द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा से रहित है और परम अहिंसक धर्म के उपदेशक है, अत माहण हैं। (किसी भी जीव को कष्ट मत दो—ऐसा कहने वाले है)। आत्मा की अशुद्धता रूप भाव रोग को नष्ट करने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय औषधि है। इस औषधि को वताने वाले आप ही महावैद्य

है तथा भाव से ज्ञानादि गुण तथा द्रव्य से छ जीव निकाय रूप जीवो को रक्षा करने वाले परम गोप है। भव अटवी मे भ्रमण करते प्राणियो के आप ही परम आधार अर्थात् सार्थवाह है।

सर्व देवो मे चन्द्रमा के समान, स्वय के सुख के सागर—ऐसे श्री अजितनाथ परमेश्वर आप स्व द्रव्य मे व्यापक रूप से रहे हुए सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप भाव-धर्म के दाता है अर्थात् हे प्रभो ! आपके दर्शन करने से भाव-धर्म की स्मृति होती है और आप ही भव्य जीवो के भाव-धर्म के उपदेशक एव दाता है।

□

३. श्री संभव जिनेन्द्र स्तवन

(राग–धणरा ढोला)

श्री सभव जिनराज जी रे, ताहरूँ अकल स्वरूप ।
स्व पर प्रकाशक दिनमणि रे, समता रस नो भूप ।।
जिनवर पूजो रे ! पूजो पूजो रे भविक जन पूजो,
हाँ रे प्रभु पूज्या परमानन्द ।। जिनवर पूजो रे ।।टेर।।

श्री सभव जिनेश्वर की स्तुति कर रहे है–हे सभवनाथ जिनराज ! 'जिन' का अर्थ है, कर्म जीतने वाले श्रुतकेवली । अवधिज्ञानी और मनपर्यव ज्ञानी भी जिन कहलाते है, उन सव मे आप राजा के समान है, अत जिनराज कहलाते है । आप का स्वरूप अकल है, इन्द्रिय-गम्य नही है । स्व को और अन्य भव्य जीवो को सम्बोधित करते हुए कहते है कि, हे भव्यो ! तुम परम पूज्य परमेश्वर की पूजा करो । वे प्रभु कैसे हैं ? स्व-पर-प्रकाशक अर्थात् स्व के ज्ञानादि गुण तथा पर–धर्मास्ति-कायादि के धर्म स्वभाव को प्रकाशित करने के लिए दिनमणि अर्थात् सूर्य है तथा सव वस्तुओ मे राग-द्वेष के अभाव रूप समता रस के राजा है । श्रीमद् भविक अर्थात् मोक्षरुचिसम्पन्न जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, ऐसे तत्त्व-प्रकाशक श्री अरिहन्त भगवान को पूजो । पुन पुन पूजो । तुम ऐसे भगवान की पूजा करो जो स्वरूप भोगी, निर्मलानन्दमय, अज, अविनाशी, अक्षयी, अनाहारी, अशरीरी, अनन्त ज्ञानमय, अनन्त दर्शनमय एव शुद्ध स्वरूपी है । ऐसे देव तत्त्व को पूजने से परमानन्द होता है ।

पौद्गलिक पदार्थो के सयोग से होने वाला सुख औपचरिक सुख है, अत परमानन्द नही है । जो आत्मा का सहज अविनाशी, अप्रयासी स्वरूप सुख अव्यावाध रूप है, उसे परमानन्द कहते है । उस सुख की प्राप्ति अरिहन्त देव की पूजा करने से होती है ।

यद्यपि अरिहन्त देव अन्य जीव के अव्याबाध आदि गुणो के कर्त्ता नही है, किन्तु जो भव्य जीव स्वय के शुद्ध पारिणामिक परम सिद्धत्व स्वरूप को साध्य बनाकर परमात्मा वीतराग की सेवा करता है, अवलम्बन लेता है, वह निश्चय से स्वय के स्वरूप को प्रकट करता है। यह नैश्चयिक कारण है अर्थात् इससे स्वरूप प्रकट होता ही है—ऐसी आस्था रखनी चाहिए।

अविसवादि निमित्त छो रे,
जगत जन्तु सुखकाज।
हेतु सत्य बहुमान थी रे,
जिन सेव्या शिवराज ॥ जिन० ॥२॥

हे प्रभो! आप अविसवाद निमित्त है। विसवाद उसे कहते है, जिसमे निर्धारण अर्थात् निश्चय न हो, किन्तु, प्रभो! आप अविसवाद निमित्त है अर्थात् निश्चय से निर्धारित कार्य को करने वाले है, अत आप अविसवाद निमित्त कारण है। निमित्त का लक्षण है–"कार्य भिन्नत्वे सति कर्तृत्वव्यापारत्वे सति हेतुर्निमित्तमिति।" जहाँ कार्य की भिन्नता हो वहाँ कर्तृत्व व्यापार होने पर वही हेतु निमित्त है। अत हे प्रभो! जगत के जीवो का आत्म-सुख रूप कार्य निष्पन्न करने मे आप प्रधान निमित्त कारण है। ऐसे सत्य हेतु अर्थात् कारण का बहुमान पूर्वक सेवन करते हुए मै मोह के वशीभूत हुआ, तृष्णा से ग्रस्त, पुद्गल का रागी, असयमी, मिथ्यात्व मे भूला हुआ निराधार अशरण हूँ। आप जैसे त्रैलोक्यपति परमेश्वर तीर्थकर का योग मुझे मिला, अत मेरा यह समय, यह घडी धन्य है। आप के असख्यात आत्म-प्रदेश कर्मरहित है, आप नि सगी है, स्वरूप भोगी है—ऐसे आप सदृश देवतत्त्व का बहुमान करते हुए जो जिन अर्थात् वीतराग की सेवा करता है वह जीव स्वय परम कल्याणमय बन जाता है। यहाँ सत्य शब्द दोनो के साथ ही जोडना चाहिए। हेतु सत्य अर्थात् अरिहन्त देव अपने मोक्ष रूप कार्य के हेतु हैं, वे सत्य है, उनका सच्चा बहुमान करना भी सत्य है। द्रव्य बहुमान—प्रभु के अद्भुत वर्ण, गध, सस्थाना-

तिशय, वचनातिशय, प्रातिहार्य प्रमुख सभी शुद्ध है और वहुमान के कारण है, अत इहलौकिक एव पारलौकिक इन्द्रिय-सुख की आशसा छोडकर उनका वहुमान करना चाहिए। वे वहुमान करने योग्य है। भाव वहुमान अर्थात् अरिहन्त के शुद्ध अनन्त ज्ञानादि गुणो का, सकल पुद्गलातीत आतम-तत्त्व का, परम अरूपी अतीन्द्रियत्व का वहुमान भाव वहुमान कहलाता है, क्योकि जिनशासन मे नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीनो ही निक्षेप कारण रूप है और चौथा भाव निक्षेप कार्य रूप है, अत जो प्रभु के अतिशयादिक के योग विकल्प हैं—वह द्रव्य वहुमान है। दर्शन गुण से प्रभुता का ज्ञान होने पर तत्त्व प्रादुर्भाव का जो वहुमान है—वह भाव वहुमान है। नामादि तीन निक्षेप भाव के कर्त्ता है, ये भावाभिलापी है, अत ये भी वहुमान है। ऐसे सत्य वहुमान से की गई सेवना अर्थात् प्रभु की आज्ञानुसार परभाव का त्याग और स्वभाव का ग्रहण ही वास्तविक सत्य वहुमान है। ऐसा वहुमान करने पर शिवराज अर्थात् निरुपद्रव स्थान, सिद्धत्व रूपी राज्य प्राप्त होता है। सासारिक शिव औपचारिक और अल्पकालिक है, सासारिक जीवो द्वारा मान्य है, किन्तु वास्तविक शिव तो निरुपद्रव स्थान सिद्धत्व है, जो अविनाशी और शाश्वत है।

उपादान आतम सही रे,
पुष्टालम्बन देव।
उपादान कारण पर्णे रे,
प्रकट करे प्रभु सेव ॥ जिन०॥३॥

यद्यपि स्वरूप प्राप्ति मे उपादान कारण ही मूल कारण है; तथापि निमित्त कारण की भी विशेषता है, उसी को वता रहे है—जो कारण उसी कार्य रूप मे अभेद परिणत हो जाये, उसे उपादान कारण जानना चाहिए। जो कर्त्ता के व्यवहार से कार्य को उत्पन्न करने मे सहकारी हो, उसे निमित्त कारण कहते है। कर्त्ता के व्यापार को करने मे यह निमित्त कारण उस कारण से भिन्न होता है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि उपादान कारण मे तथा निमित्त कारण मे जो कारण

धर्म है—वह वस्तु मे सत् पर्याय है अथवा असत् है अर्थात् उत्पन्न होता है। इसका उत्तर है कि जो कारण पर्याय वस्तु धर्म मे हो तो सिद्ध भगवान मे भी उपादान कारण प्राप्त होना चाहिए, किन्तु वह तो दिखाई देता नही है। और, यदि कारण दिखाई देता है तो कार्य भी दिखाई देना चाहिए, वह कार्य तो उनका सम्पूर्ण हो चुका है। यदि निगोदावस्था मे भी उपादान कारण माने, तो उनका भी आत्मसिद्धि रूप कार्य होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नही है। कारण नियम से कार्य करता है और कारण काल तथा कार्य काल नियम से अभेद है। इस विषय को विशेषावश्यक के मतिज्ञानाधिकार मे देखना चाहिए। अत. कारण पर्याय उत्पन्न होती है तथा कार्य सम्पूर्ण होने पर कारणता का अभाव हो जाता है। जिसकी सादि है, उसी का अन्त होता है, अत कारण पर्याय सादि-सान्त है। यहाँ कोई कहे कि जो उत्पन्न पर्याय है, वह कब उत्पन्न हुई ? तो उत्तर है कि जब कर्त्ता को कार्य की रुचि हो, उस समय कारणता उत्पन्न होती है अर्थात् भव्य तथा अभव्य सभी जीव सम्पूर्ण सिद्धता के उपादान तो हैं, किन्तु सभी सिद्धता उत्पन्न नही करते, क्योंकि उनके उपादान मे कारणता नही है। यदि कारणता प्रकट हो तो कार्य उत्पन्न हो सकता है, अत सर्व आत्मा अपने - अपने गुण प्राग्भाव रूप सिद्धता कार्य के उपादान अवश्य है, किन्तु श्री जिनेश्वरदेव रूप शुद्ध तत्त्व के आलम्बन से उपादान कारणता प्रकट होती है। अत पुष्ट अर्थात् नियम से महान आलम्बन श्री अरिहन्त देव है, क्योकि उस आलम्बन के बिना आत्मा अनादि दोष से निवृत्त होकर उस महान तत्त्व का आश्रय नही ले सकता। तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न अरिहन्त देव के आश्चर्यजनक अतिशय समवसरणादि का आलम्बन लेकर ससारी जीव अपने आत्म-धर्म को समीप करता है। जगत के आधार श्री तीर्थंकर की ज्ञानादि गुण रूप स्वरूप सम्पदा का आलम्बन लेने पर आत्म-धर्म अवश्य उत्पन्न होता है। अतएव अरिहन्त देव उस भव्य जीव के स्वय की शुद्ध सत्ता मे प्राग्भाव से मुख्य आलम्बन हैं।

अव श्री वीतराग देव पुष्ट आलम्बन किस प्रकार है ? इसका हेतु वताते है कि यद्यपि आत्मा मे उपादानत्व अनादि-कालीन

है, परन्तु वह आत्मा का सिद्धता रूप कार्य नही करता है, क्योकि उसका उपादान कारणत्व प्रकट नही हुआ। उपादान कारणत्व को प्रकट करने वाली वीतराग की सेवा, भक्ति, उपासना, पूजा आदि आत्मा को उपलब्ध नही हुयी। वीतराग अरिहन्त देव की द्रव्य भाव से भक्ति करता हुआ ससारी भव्यात्मा मोक्ष का साधक बनता है। जगद्दयालु, कर्मरोग के भाववैद्य, मिथ्यान्धकार नाशक दिवाकर, ममत्वभाव रहित श्री वीतराग अर्हन्त महाप्रभु की आराधना करने से आत्मा का उपादान कारणत्व प्रकट होता है और मोक्ष रूप कार्य सिद्ध होता है, अत वे पुष्टालम्वन है।

कारज गुण कारण पणे रे,
कारण कार्य अनूप।
सकल सिद्धता ताहरी रे,
म्हारे साधन रूप ॥ जिन०॥४॥

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को शरीर, इन्द्रियाँ, विषय, कषाय रूप कार्य करते हुए अनन्त काल व्यतीत हो गया। जीव को जब सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हुआ तब उसे ऐसा ज्ञान हुआ कि रत्नत्रय गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र को विकसित करना स्वय आत्मा का कार्य है। तत्पश्चात् श्री वीतराग अर्हन् की सेवा पूजा भक्ति, आगम श्रवणादि निमित्त कारण पाकर ज्ञानादिक कर्मो के क्षयोपशम से यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा, तत्त्व-भासन और तत्त्व-रमण अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र विकसित हुये। परभाव त्याग रूप भेद रत्नत्रयी की सम्प्राप्ति हुई – यह प्रथम कार्य हुआ। तदनन्तर क्षायिक अभेद रत्नत्रयी रूप स्वकार्य करने को कारण रूप से प्रवृत्ति करे। तब जो कार्य रूप थी, वही कारण रूप बन गई। वही भेद रत्नत्रयी का कारण रूप बनकर क्षायिक भाव मे कार्य रूप से परिणत होती है। अत जो कारण होता है, वही कार्य बन जाता है। यह उपादान कारण कार्य रूप पद्धति है। अब इसेही निमित्त रूप से कहते है —

हे भगवन्! आपका जो शुद्ध स्वरूप है, वही आपका कार्य गुण है, किन्तु वही भव्य मोक्षरुचि जीव के लिए कारण रूप है, क्योकि

उस आत्मा को अपना उपादान शुद्ध करना है, आपके शुद्ध गुणयुक्त उपादान का आलम्बन लेकर उस उपादान को आपके जैसी सत्ता प्रकट करनी है। यह कार्य है अर्थात् जो कारण है, वैसा ही करने के सकल्प से कार्य है। अत हे प्रभो ! आपकी सकल सम्पूर्ण सिद्धता, सर्व प्रदेश निरावणता, सर्वस्व धर्म प्राग्भावता मेरे लिए साधन रूप है। हे प्रभो ! परम प्रभुता रूप सम्पदा को जानकर जब मेरी आत्मा आपकी शुद्धता के साधनो का अवलम्बन लेगी तव परभाव त्यागी वनकर स्वरूपावलम्वी बनेगी। और, ऐसा होने पर मेरा सिद्धता रूप कार्य सम्पन्न होगा। अत आपकी सिद्धता मेरे लिए कारण रूप है। उससे मैं अपना स्वरूप प्रकट करूँ, वह आपका उपकार है। अत हे देव ! मेरे तो मात्र आप ही आधार, त्राण, शरण, सर्वस्व है।

एक बार प्रभु वन्दना रे,
आगम रीते थाय ।
कारण सत्ये कार्यनी रे,
सिद्धि प्रतीत कराय ।। जिन०।।५।।

अत श्री अरिहन्त अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनयुक्त, शुद्ध चारित्रवान, अविकारी, अकषायी, स्वरूपभोगी, स्वरूपरमणकर्त्ता, स्वरूपविलासी, त्रैलोक्यपूज्य, त्रैलोक्योपकारी, जगमभाव सूर्य, कर्मरोग, के महावैद्य, परमेश्वर, परमोपकारी आदि अनन्त गुणशाली भगवान को आगम/सिद्धान्तानुसार विधि से एक;बार भी वन्दन हो जाय अर्थात् अन्य सर्व कार्य छोडकर मात्र वन्दन रूप कार्य गुण वहुमान पूर्वक हो। प्रभु के अद्भुत स्वरूप महाप्रातिहार्य, समवसरणादि आश्चर्यकारी अतिशयो से युक्त तीर्थकरत्व की महानता के प्रति हार्दिक विनम्रता, अहोभाग्य का गौरव हो तथा साक्षात् दर्शन के विरह मे कातरतापूर्वक वन्दन हो तो मेरा मोक्ष रूप कार्य सिद्ध होगा—ऐसी प्रतीति अर्थात् विश्वास हो जाता है। कारण की सत्ता होने पर या कारण के सत्य होने से कार्य की सिद्धि का विश्वास होता ही है। साराश यह है कि श्री अर्हत् महाप्रभु को विधि पूर्वक वन्दन करते हुये आत्मा रूप उपादान गुणानुयायी वन गया तो निमित्त तथा उपादान दोनो कारण सत्य हो गये

और दोनो की सत्यता के सद्भाव मे कार्य की सत्यता भी निश्चित है। जैसे स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, ऐश्वर्यादि अशुद्ध निमित्तो के सद्भाव मे उपादान कारण रूप आत्मा भी अशुद्ध बना रहता है, जिससे ससार भ्रमण रूप अशुद्ध कार्य होता है, वैसे ही श्री वीतराग का शुद्ध निमित्त सप्राप्त होने पर आत्मा रूप उपादान कारण भी शुद्ध परिणतिमय बन जाता है और उससे शुद्ध सिद्धता रूप कार्य की सिद्धि हो जाती है। अनादि काल से ससार-भ्रमण करते जो भाव कभी न आया, ऐसा वीतराग के प्रति बहुमान का भाव यदि एक बार आ जाय तो कार्य सिद्ध होने की प्रतीति अवश्य हो जाती है।

जो शुद्ध सत्ता वाले है, अन्य जीवो को ससार-भ्रमण कराना और सिद्ध बनाना जिनका कार्य नही है, ऐसे वीतराग भगवान तो वस्तुत अकर्त्ता हैं। यही उनका वास्तविक स्वरूप है। इसे बताते है :—

प्रभु पणे प्रभु ओलखी रे,
अमल विमल गुण गेह ।
साध्य दृष्टि साधक पणे रे,
वन्दे धन्य नर तेह ।। जिन०।।६।।

प्रभु श्री अरिहन्त देव की सेवा, आराधना, उपासना करने से सिद्धि प्रकट होती है। श्री वीतराग भगवान कर्ममल से सर्वथा रहित है, राग-द्वेषादि सर्व दोषो से मुक्त है, विमल अर्थात् विगतमल है—उज्ज्वल है, गुणगेह अर्थात् ज्ञानादि गुणो के गृह / आवास है। प्रभु की ऐसी प्रभुता को पहचान कर साध्यदृष्टि अर्थात् स्वय की आत्मा भी प्रभु के जैसी ही है—उपर्युक्त अमल विमल ज्ञानादि गुणो से युक्त है। उस सर्व आत्म-सम्पत्ति को प्रकट करने रूप साध्य पर दृष्टि रखते हुए अर्थात् आत्म-तत्त्वरूप कार्य का आलम्बन लेकर, साधक रूप होकर स्वय के क्षयोपशम वाले ज्ञानादि गुणो को क्षायिक—सर्वथा निर्मल करने रूप कार्य मे प्रवृत्ति करते हुए शुद्धानन्दमय परमज्ञानी निर्मोही देव श्री अर्हन्त वीतराग देव परमात्मा को जो इस प्रकार वन्दन करता है, वे नर / प्राणी धन्य है। कृतपुण्य है ! ऐसा जाने, ऐसा विचार करे। कहा भी है —

जे पुण तिलोयनाहं, भत्तिब्भर-पूरिएण हिअयेण ।
वंदंति नमंसंति ते धन्ना पुण्णकयत्था य ।।

अर्थ—जो त्रैलोक्यनाथ भगवान को भक्ति से भरे पूर्ण हृदय से वन्दन नमस्कार करते है, वे धन्य है, वे पुण्यशाली है, वे कृतार्थ है ।

जन्म कृतारथ तेहनो रे,
दिवस सफल पण तास ।
जगत शरण जिन चरण ने रे,
वदे धरिय उल्लास ।। जिन०।।६।।

उन जीवो का जन्म कृतार्थ है और दिवस भी वे ही सफल है, जब वे जगच्छरण अर्थात् जगत के शरण रूप अर्थात् मोहमुग्ध जीवो को भवारण्य मे भटकते हुये, मिथ्यात्व रूप दस्युओ के द्वारा लूटे जाते हुए प्राणियो के शरण त्राण और आधारभूत श्री जिन वीतराग देव के चरणो की उल्लासपूर्वक अर्थात् अत्यन्त हर्षपूर्ण हृदय से वन्दना अर्थात् गुण-स्मरण व गानपूर्वक नमस्कृति करते है ।

निज सत्ता निज भाव थी रे,
गुण अनन्तनु ठाण ।
देवचन्द्र जिनराज जी रे,
शुद्ध सिद्ध सुख खाण ।। जिन०।।७।।

वे भगवान वीतराग महाप्रभु निजसत्ता अर्थात् अनन्त गुण पर्यायात्मक आत्मा का अस्तित्व, निज भाव अर्थात् स्व ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि भावो से अनन्त गुणो के स्थान है । सर्व देवो मे चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ श्री जिनराज जो सामान्य केवली जिनो की अपेक्षा, जिनो मे राजा है । वे शुद्ध स्वरूप वाले तथा सिद्ध है । उनकी आत्मा पूर्ण सिद्ध एवं सर्वथा कर्मबन्धन से मुक्त है, वे सुख की खान/आकर है ।

□

४. श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

(तर्ज —ब्रह्मचर्य पद पूजिये)

क्यूँ जाणु क्युँ वनी आवशे,
अभिनन्दन रस रीत हो, मित्त ।
पुद्गल अनुभव त्याग थी,
करवी जसु परतीत हो, मित्त ॥क्यूँ०॥१॥

श्री अभिनन्दन प्रभु की स्तुति करते हुए कहते है कि किसी भव्य जीव को श्री वीतराग देव से एकत्व रूप से मिलने की अभिलाषा हुई, किन्तु मिलने की शक्ति स्वय मे न जानते हुए विचार करता है कि न जाने प्रभु के साथ मिलना कैसे होगा ? उन परमप्रिय प्राणेश्वर प्राणवल्लभ से मिलने की मेरो अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी ? मिलन की दुर्लभता विचारता हुआ कहता है—हे श्री अभिनन्दन प्रभो ! हे सवरनृपनन्दन ! हे सिद्धार्था राजी के पुत्र ! आपके साथ मेरा प्रेम सम्बन्ध कैसे होगा ? उस सर्वोत्तम रस का आस्वादन कैसे कर सकूँगा ? वह कौन सा उपाय है ? उसे प्राप्त करने की कौन सी रीति है ? मैं तो पौद्गलिक / भौतिक वर्ण गन्ध रस स्पर्श का अनुभव करता रहा हूँ । इन्ही विषय सुखो मे रस का आस्वादन करता रहा हूँ। शास्त्र मे पढा एव सुना है कि इन भौतिक सुखो का त्याग करने पर ही वीतराग से राग किया जा सकता है । अनादि काल के परिचित भोगोपभोगो से विरक्ति होने पर ही प्रभु परमात्मा से राग होता है और तब प्रतीति अर्थात् विश्वास होता है कि मै शुद्ध आत्मा से प्रेम कर सकता हूँ। और, जब तक आत्मा शुद्ध स्वरूप का भोगी नही बने तब तक आत्म तत्त्व वाले परमात्मा से प्रीति नही कर सकता । प्रीति के विना रसास्वादन नही होता । रस के विना आनन्द नही । नीति का कथन है कि समान स्वरूप रगरूप आचार-विचार वाले ही पारस्परिक सम्बन्ध से सुखी हो

सकते है। स्वय को ही श्रीमद् कहते है कि मित्र ! यह तू ही विचार कर।

परमातम परमेसरू,
वस्तुगते ते अलिप्त हो, मित्त।
द्रव्ये दव्य मले नही,
भावे ते अन्य अव्याप्त हो, मित्त ।। क्यू ० ।।२।।

भगवान् श्री अभिनन्दन प्रभु तो परमात्मा है, परमेश्वर सर्वोत्कृष्ट ईश्वर है, अर्थात् अपने असंख्यात प्रदेशो मे पारिणामिक रूप से रहे हुये अनन्त गुण पर्यायो के ईश्वर है। अथवा सर्व प्रकार से स्वाधीन एव निर्दोष है, अत. परमेश्वर है। वे वस्तुगते अर्थात् मूल वस्तु आत्म स्वभाव से ही अलिप्त है अर्थात् सभी द्रव्य अपने स्वरूप मे ही रहते है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे नही मिलता। आत्मा भी एक द्रव्य है और वे आत्माएं अनन्त है, एक दूसरे मे नही मिलती। सभी जीव-द्रव्य शुद्ध सग्रह नय की अपेक्षा से अलिप्त है, वे किसी अन्य रागादि द्रव्य से लिप्त नही होते। श्री अभिनन्दन प्रभु तो सर्व नयो से विशुद्ध हो गये है, टंकोत्कीर्ण न्याय से प्राग्भावधर्मी वन गए है। वे सर्वथा परद्रव्य से अलिप्त है अर्थात् किसी द्रव्य से लिप्त नही हो सकते। वे कैसे मिल सकते है ?

लोक में छह द्रव्य हैं—१, धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय, ५. जीवास्तिकाय, ६ काल।

१ धर्मास्तिकाय—असख्यात प्रदेशी, अक्रिय, अचल, अचेतन, अजीव है, चतुर्दश लोक प्रमाण, अनादि अनन्त है, अरूपी है, जीव और जड पुद्गल की गति मे सहायक है। अजीव है।

२ अधर्मास्तिकाय—असख्यात प्रदेशी, चतुर्दश लोक प्रमाण, अक्रिय, अचल, अचेतन, अरूपी है, जीव और जड–पुद्गल की स्थिति मे सहायक है। अजीव है।

३ आकाशास्तिकाय—अनन्तप्रदेशी, लोकालोकप्रमाण, अनादि अनन्त, अक्रिय, अचल, अचेतन, अरूपी, अजीव है। जड़ एव चेतन को अवकाश (स्थान) देता है।

४ पुद्गलास्तिकाय—अनन्तानन्त परमाणु, लोक प्रमाण, अनादि अनन्त, रूपी, अजीव, सक्रिय, अचेतन, वर्ण गध रस स्पर्श युक्त एक-एक परमाणु वाला—ऐसे अनन्त परमाणु है। पूरण गलन स्वभाव वाला है।

५ जीवास्तिकाय—असख्यात प्रदेशी, लोक प्रमाण, अनादि अनन्त, अरूपी, चेतनागुण युक्त, ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्ययुक्त, सक्रिय, चेतना लक्षण वाले अनन्त जीवद्रव्य है।

ये पाँचो द्रव्य सप्रदेशी है, अत· अस्तिकाय कहलाते है।

६. काल—अप्रदेशी, अरूपी है, वर्त्तना रूप है। निश्चय नय से, पचास्तिकाय की वर्त्तना रूप और व्यवहारनय से उपचार से ज्योतिष् चक्र—सूर्य चन्द्रादि के चार से अढाई द्वीप मे उपलक्षित होता है। दिन, रात्रि-समय, आवलिका, मुहूर्त, घटी, पल-विपल, पक्ष, मास, वर्ष, आदि का बोध कराने वाला है।

इन छह द्रव्यो मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार द्रव्य अपरिणामी है, किसी अन्य द्रव्य से नही मिलते अर्थात् परस्पर एक नही होते। अन्य द्रव्य रूप मे परिणत नही होते। जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी है, परस्पर मिल जाते है। जो जीव कर्म पुद्गल सहित है, उसी से अन्य पुद्गल मिल सकते है। जो सर्वथा कर्मरहित शुद्ध—सिद्ध हो गया है उससे पुद्गल का सम्वन्ध नही रहता। वे परस्पर पुन· एक नही होते। पुद्गल परमाणु तो परस्पर मिलते है। परमाणुओ से स्कन्ध बनते है, वे स्कन्ध सख्यात, असख्यात और अनन्त परमाणुओ से बनते बिखरते रहते हैं। इस बनने-बिखरने का नाम ही पूरण गलन है। ये स्वभाव से भी बनते बिखरते है और प्रयोग से भी।

किन्तु जीव सकर्मा होने पर ही पुद्गल से मिलता है। वह जब

तक परानुयायी—कर्म परवश रहता है, स्वरूप को नही जानता, तब तक पुद्गल का अनुयायी रहता है । स्वरूप—आत्मरूप का भान हो जाने पर अर्थात् तत्त्व श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन हो जाने पर परानुयायिता क्रमश घटती जाती है। पुद्गल को विभाव मानकर उसके प्रति हेय बुद्धि हो जाती है। फिर क्रमश त्यागता हुआ, एक समय सर्वथा त्याग कर शुद्ध आत्मा—परमात्मा बन जाता है। प्रत्येक जीव अपनी ही सत्ता मे रहता है, अन्य जीव से तद्रूप नही बनता। सब जीव अपनी सत्ता मे रहे हुए स्वकृत कर्मों का सुख-दु.ख अनुभव करते हैं। एक दूसरे के सुख-दु ख का विनिमय नही होता।

मेरे भगवान् श्री अभिनन्दन प्रभु तो सिद्ध हो गये हैं, सर्व कर्मो से और कर्मबन्ध के हेतुओ से सर्वथा मुक्त बन गये हैं। उन्हे कोई पुद्गल स्पर्श नही कर सकता। द्रव्य, द्रव्य से मिलता नही—यह भी नियम है। शुद्ध आत्मा अशुद्ध आत्मा से नही मिल सकती, किन्तु शुद्ध से शुद्ध आत्मा भी तो नही मिल सकती अत द्रव्य रूप से मिलन ही असम्भव है। उसमे भी अन्य जीवो तथा पुद्गल का अव्याप्तित्व है अर्थात् अव्याप्त ही रहते है, क्योकि पर व्यापकता भी उपाधि है। प्रभु श्री अभिनन्दन देवाधिदेव का भाव धर्म अत्यन्त निर्मल हो गया है, स्वभावानुयायी बन गया है अर्थात् कर्त्तव्य, भोक्तृत्व, ग्राहकता, व्यापकता, आधारता, रमणता, अवस्थानत्व इत्यादि सभी स्वरूप मे परिणत हो गए हैं। वे अन्य द्रव्य को कैसे दे सकते है? अत. प्रभुजी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी शुद्धधर्मी हो गए हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का स्वरूप बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

"दव्वं गुण समुदाओ, खित्तं ओगाह वट्टणा कालो ।
गुण पज्जाय पवित्ति, भावो निअ वत्थु धम्मो सो ॥"

अर्थात् गुण पर्याय का समुदाय द्रव्य, जितने क्षेत्र मे प्रदेशो की अवगाहना हो वह क्षेत्र, द्रव्य मे पर्यायो का उत्पाद व्यय वर्तता है—वह काल है तथा द्रव्य के स्वय के गुण पर्याय की प्रवृत्ति—वह भाव है। इस

प्रकार द्रव्यादि चार की परिणति–वह वस्तु धर्म है। अत जो प्रभु परमात्मा चारो ही अपेक्षा से भिन्न है, वे मुझ से कैसे मिल सकते है ?

शुद्ध स्वरूप सनातनो,
निर्मल जेह निःसंग हो मित्त ।
आतम विभूते परिणम्यो,
न करे तेह परसंग हो मित्त ।। क्यूँ० ।।३।।

वीतराग देव तो शुद्ध–निर्दोष स्वरूप वाले है, ऐसा स्वरूप जिनका सनातन–नित्य है। यद्यपि पर्याय से अनित्य है, किन्तु यहाँ कूटस्थ नित्यता को अपेक्षा से नित्य कहा है। निर्मल–ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित है। नि सग–सर्वसग से मुक्त है, जिनके असख्यात आत्म प्रदेशों मे द्रव्य से किञ्चिद् भी अन्य द्रव्य का कोई अश नही है अर्थात् पुद्गल द्रव्य का एक परमाणु मात्र भी नही है, भाव से भी जिनकी परिणति मे राग-द्वेषादि नही है, अत निस्सग है। वे परमेश्वर आत्मविभूते–स्वय की शुद्ध स्याद्वादरूप अनन्त, अज–अजन्मा, अविनाशी अखण्ड स्वधर्म ज्ञानादि मे परिणत हो चुके है। वे वीतराग परसग–अन्य किसी द्रव्य का सग नही करते अर्थात् सत्ता से कोई जीव द्रव्य परसगी नही है। सकर्मा होने से जीव विभाव मे परिणत होता है किन्तु श्री अभिनन्दन भगवान की आत्मा तो सर्वथा निष्कर्म–आठ कर्मो से पूर्ण मुक्त हो चुकी है। मात्र रत्नत्रय–ज्ञान दर्शन चारित्र और अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध स्वरूप हो गये है। वे किसी प्रकार भी परसग नही कर सकते, तो ऐसे प्रभु से कैसे मिलन हो ? हे भगवन् ! आप से मिले बिना मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ ? हे मेरे आत्मन् ! मित्र ! क्या उपाय है ?

पण जाणूँ आगम बले,
मलवू प्रभु तुम साथ हो मित्त ।
प्रभु तो स्वसम्पत्तिमयी,
शुद्ध स्वरूप नो नाथ हो मित्त ।।क्यूँ०।।४।।

उपर्युक्त विचार करते हुए विवेक हुआ कि–अहो ! आगम-शास्त्र, "**आप्तवचनादाविर्भूत आगमः**" श्री वीतराग तीर्थंकर भगवान् के वचन से प्रकट हुये वाक्य, आगम–शास्त्र कहलाते है। उनके श्रवण अध्ययन आदि से अर्थात् श्री गुरु महाराज के मुखारविन्द से श्रवण किया है और स्वय भी पढा है कि मेरी आत्मा का स्वरूप भी सिद्ध आत्माओ के जैसा ही है, मै भी भव्य / मुक्त होने योग्य हूँ। अत. प्रभु से मिलने योग्य हूँ। मैं मिल सकता हूँ, किन्तु मै भी अपने आत्मा को कर्ममल रहित बनाऊँ, तभी मिल सकूँगा, क्योकि प्रभु तो स्वसम्पत्ति–अनन्त ज्ञानादिमय है। उनके असख्यात प्रदेश सर्वथा शुद्ध हो चुके है। उनके सभी प्रदेशो मे ज्ञानादि गुण व्याप्त हैं। उनके साथ मिलने की रुचि वाले को भी वैसा ही बनना पडे, तभी मिलन हो सकता है। वे स्वय शुद्ध स्वरूप वाले हैं तथा आत्मस्वरूप के नाथ–स्वामी रक्षक हैं। वे अशुद्ध आत्मा के साथ कैसे मिल सकते हैं ? और मै अशुद्ध आत्मा हूँ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किसी भी द्रव्य मे अन्य पर-द्रव्य से मिलने की सामर्थ्य नही है, न वैसा स्वभाव है, तव साधक का आत्म द्रव्य भी वस्तु धर्म स्वभाव से शुद्ध स्वरूप वाला है। उसकी सत्ता मे भी तो अन्य द्रव्य–अन्य आत्मा से मिलने का स्वभाव नही है तो फिर किस प्रकार मिल सकता है ? इसका समाधान आगे की गाथा मे पढिये—

पर परिणामिकता अछे,
जे तुझ पुद्गल योग हो मित्त।
जड चल जग नी ऐठ नो,
न घटे तुझने भोग हो मित्त ॥क्यूँ०॥५॥

हे आत्मन् ! मित्र ! सुनो–अनादि अतीत काल से संसारी जीव का स्वभाव–आत्मिक सुख ज्ञानावरणादि कर्मो से आवृत्त–ढँका हुआ है। भोग धर्म क्षयोपशम है अर्थात् कर्मो के क्षयोपशम से भोगा जाता है। कुछ न कुछ सुख रूप या दु ख रूप भोग आत्मा को भोगना ही पडता है। जव तक आत्मा स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है, सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान नही होता, तब तक पौद्गलिक भौतिक वर्ण गन्ध-रस-स्पर्श जो वास्तव मे आत्मा के लिए अयोग्य है, उन्हे भोगता हुआ परपरिणामी—परभावभोगी बना हुआ है। यह परपरिणामिकता जीव का अनादि स्वभाव सा बन गया है। पर, वास्तव मे यह आत्म स्वरूप नही है। अज्ञानवश आत्मा परभाव-कर्त्ता, परभाव का ही भोक्ता बना रहता है, परभाव मे ही रमण करता है, परभाव का ही ग्रहण करने वाला है। इस प्रकार परभावमय बना हुआ है। यहाँ प्रश्न होता है कि जो शुद्ध आत्म द्रव्य है, वह परभाव का कर्त्ता-भोक्ता कैसे बना ? उत्तर—उसकी चेतना अनादि से पुद्गलो के सयोग से पुद्गलावलम्बी बनी हुयी, पर की कर्त्ता-भोक्ता हो रही है। यही कह रहे है कि, हे चेतन ! पुद्गल के सयोग से जो तेरी चेतना परपरिणामी बनी हुई है, वह अनादिकाल की अशुद्धता विजातीय है, दोष स्वरूप है और आत्मा के लिए अयोग्य है। परवस्तु का भोग, ग्रहण आदि स्तेन—चौर्यवृत्ति है। यह तेरे लिए योग्य नही, क्योकि सभी भोग्य वस्तुएँ पर जड द्रव्य है, चल है। जगत् के जीवो द्वारा भोगकर परित्यक्त की गयी झूँठन है।

जड पुद्गल द्रव्य द्रव्य रूप से परमाणु रूप से तो ध्रुव है, किन्तु पर्याय रूप से स्कन्धावस्था मे अध्रुव—अनित्य है। वर्णादि स्कन्धादि सभी पर्याय अवस्थाए पलटती है और सभी परमाणु ससारी/सकर्मा सभी जीवो के द्वारा शरीर रूप मे, भाषा रूप मे, मन रूप मे, आहार रूप मे, श्वासोच्छवास रूप मे, अनन्त-अनन्त बार ग्रहण करके भोग कर छोडे गए झूँठन स्वरूप है। आत्म द्रव्य तो स्वरूप भोगी है, अत हे चेतन ! इन पुद्गल जड वस्तुओ का भोग तेरे लिए उचित नही, क्योकि हस मोती को छोडकर अन्य वस्तु को अन्य वस्तु—अन्य कीच, कूडा-कर्कट आदि मे कभी अपनी चोंच तक नही डालता। तुम्हे भी जड वस्तुओ का भोग करना छोड देना चाहिए।

शुद्ध निमित्ती प्रभु ग्रहो,
करी अशुद्ध परहेय हो मित्त।
आत्मालम्बी गुण लयी करी,
सहु साधक नो ध्येय हो मित्त ॥क्यूँ०॥६॥

इस कारण अशुद्ध निमित्त रूप पर–जड वस्तुओ के भोग का परित्याग कर शुद्ध निमित्ती कर्मरहित पूर्णानन्द रूप प्रभु का आलम्बन लो। अर्थात् इस आत्मा मे जो पर–पुद्गल जड की अनुयायिता है, उसे दूर करने के लिए अशुद्धालम्बन का परित्याग कर श्री वीतराग अर्हन्त देव का आलम्बन लेना चाहिए। अत शुद्ध निमित्ती प्रभु का ग्रहण करो अर्थात् प्रभु को भजो, उन्ही की सेवा करो, किन्तु इससे पूर्व पर-वस्तु जो हेय है, उसका परित्याग कर श्री वीतराग अर्हन्त देव की उपासना करो। वे प्रभु आत्मालम्बी अर्थात् भाव आत्मा का ही आलम्वन ग्रहण करने वाले एव उसी मे तन्मय हो जाने वाले है। गुणलयी अर्थात् आत्म गुण–ज्ञान-दर्शन चारित्रादि मे तल्लीन रहते है। वे वीतराग कैसे है ? मोक्ष तत्त्व के सभी साधक सम्यग्दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति, श्रेणी–उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी पर आरूढ शुक्ल ध्यान मे लीन सभी आत्माओ के लिए ध्येय है अर्थात् श्री सिद्ध भगवान् सभी के ध्येय है।

ध्यान के दो प्रकार है—१. सालम्बन २ निरालम्बन। श्री अरिहन्तादि का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, वह सालम्बन ध्यान है और आलम्बन रहित जो मात्र आत्मा का ध्यान होता है वह निरालम्वन ध्यान कहलाता है। श्री अभिनन्दन भगवान् का ध्यान सालम्बन ध्यान है। वे ही सर्व साधको के ध्येय हैं।

जिम जिनवर आलम्बने,
वधे सधे एकतान हो मित्त।
तिम तिम आत्मालम्बनी,
ग्रहे स्वरूप निदान हो मित्त ॥क्यू०॥७॥

अर्थ—ऐसा करते हुए ज्यो-ज्यो साधक आत्मा श्री जिनेश्वर देव के तत्त्वालम्बन मे बढता है अर्थात् सर्व कर्मो के क्षयोपशम से, चेतना की सम्पूर्ण शक्ति से अरिहन्त की शुद्धता मे तन्मय हो जाने पर प्रभु के साथ एकतान–एकत्व का अनुभव सधे अर्थात् समस्त परभाव की रमणता नष्ट होकर आत्मा परमात्म स्वरूप से व्याप्त हो जाती है,

चेतना उसी मे तन्मय होती है; त्यो-त्यो यह साधक आत्मा का जो साध्य स्वरूप प्राप्ति है, उसका आलम्बन लेने वाला होता है और उपादान का स्मरण–चिन्तन ध्यान रूप हो जाता है तथा स्वरूप का निदान–मूल कारण ग्रहण अर्थात् अगीकार कर लेता है।

स्व स्वरूप एकत्वता,
साधे पूर्णानन्द हो मित्त।
रमे भोगवे आतमा,
रत्नत्रयी गुणवृन्द हो मित्त ॥क्यूँ०॥८॥

अर्थ—वह साधक जव निज स्वरूप एकत्वता–ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय की एकता को ग्रहण कर लेता है, तव पारिणामिक परम तत्त्व आत्मा मे एकत्व, शुद्ध स्वरूप रमण कर्त्ता, शुद्ध स्वरूप भोगी हो जाता है और पूर्णानन्द–सम्पूर्ण आत्यन्तिक एकान्तिक अनन्तातिशय अवाधक केवल निरावाध स्वाधीन आत्मसुख की सम्प्राप्ति हो जाती है। फिर यह आत्मा स्वय के रत्नत्रयी गुणवृन्द–ज्ञानादि गुणो के समूह मे रमता है, उन्ही का भोग करता है। तन्मय तद्-विलासी स्वाभावानन्दी वन जाता है अर्थात् सिद्ध होकर सादि अनन्तकाल स्वपारिणामिक रूप से सिद्धशिला पर विराजमान हो जाता है।

अभिनन्दन अवलम्बने,
परमानन्द विलास हो मित्त।
देवचन्द्र ! प्रभु सेवना,
करि अनुभव अभ्यास हो मित्त ॥क्यूँ०॥९॥

अर्थ—इस प्रकार अभिनन्दन प्रभु का अवलम्वन लेने पर परम आनन्द का विलास सम्प्राप्त होता है। सर्व देवों मे चन्द्रमा के समान हे श्री अभिनन्दन भगवन् ! आपकी सेवना, पूजा, उपासना, आराधना जो करे, वह अनुभव के अभ्यासपूर्वक करे। यही साधना आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति मे अव्यर्थ कारण है। इसी प्रकार आत्मा को

अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीमद् देवचन्द्र स्वय को ही प्रभु स्तुति व्याज से सम्बोधित करते हुए कहते है—हे देवचन्द्र ! ऐसे प्रभु की सेवा अनुभव के अभ्यासपूर्वक करो, जिससे परमानन्द के विलास की अनुभूति हो। प्राय सभी स्तवनो मे स्वनाम का निवेश युक्तिपूर्वक किया है।

□

५. श्री सुमति जिनेन्द्र स्तवन

(राग—कडखा—धार तरवार नी०)

अहो ! श्री सुमति जिन ! शुद्धता ताहरी,
स्वगुण पर्याय परिणाम रामी ।
नित्यता एकता अस्तिता इतर युत,
भोग्य भोगी थको प्रभु अकामी ।।अहो०।।१।।

अर्थ—अहो ! श्री सुमतिनाथ भगवन् ! आपकी शुद्धता आश्चर्य स्वरूप है। आपके स्वगुण—ज्ञान दर्शन चारित्रादि, तथा पर्याय—१ द्रव्य पर्याय, २ गुण पर्याय, ३. द्रव्य व्यञ्जन पर्याय, ४. गुण व्यञ्जन पर्याय, ५ स्वभाव पर्याय है। सहभावी धर्म को गुण कहते है और क्रमभावी को पर्याय कहते है। जैसा कि श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वासिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ निस्सिया भवे ।।

अर्थ—गुणो का आश्रय द्रव्य है। उस द्रव्य के गुण उसी द्रव्य का आश्रय लेकर रहते है। लक्षण और पर्याय दोनो द्रव्य और गुण के आश्रित रहते है।

ऐसी शुद्धता के अर्थात् गुण और पर्याय के परिणमन मे ही रमने वाले है। अर्थात् परभाव—पौद्गलिक शरीरादि से निवृत्त होकर स्वधर्म स्वभाव मे ही रमण करने वाले है। आपकी शुद्धता कैसी है ? नित्यतायुक्त है—"**तद्भावाव्ययत्वं नित्यत्वम्**" उस द्रव्य के भाव से दूर न होना ही नित्यत्व है। तथा एकता अर्थात् एकत्व, अस्तिता—अस्तित्व और इनसे इतर—अनित्यत्व अनेकत्व नास्तित्व धर्मयुक्त भी है, क्योकि

जो नित्य है, वही अनित्य भी है–अन्यापेक्षा से। जो एक है–अन्य अपेक्षा से अनेक भी है। और, जहाँ अस्तित्व है वहाँ अन्य अपेक्षा से नास्तित्व भी है। यही आश्चर्य का विषय है। स्वय के गुण पर्याय ही आपके भोग्य है, उन्ही के आप भोगी है। इन स्वगुणादि के भोग की कामना रहित होने से आप अकामी है, अर्थात् स्वरूपभोगी कामनारहित (वाञ्छा अभिलाषामुक्त) होता है–अत. अकामी है। स्वआत्मक्षेत्र से पृथक् पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के भोग की वाञ्छा को कामना कहते हैं। इन वर्णादि का भोग आत्मा के नही, जो अशुद्ध आत्मा है, मिथ्यात्व मोहनीयादि कर्मसहित आत्मा है, उसी के इनका भोग है। शुद्ध आत्मा तो ज्ञानादि गुण जो स्वक्षेत्र व्यापक हैं, पूर्ण व्यक्त हो गए है उन्ही के भोगी हैं। मेरे जैसे सामान्य के लिए तो यह भी आश्चर्यकारक है।

अब नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मो को समझाते है–

ऊपजे व्यय लहे तदपि तेहवो रहे,
गुण प्रमुख बहुलता तहवि पिण्डी।
आत्मभावे रहे अपरता नवि ग्रहे,
लोकप्रदेशमित पण अखण्डी ॥अहो०॥२॥

अर्थ—जगत् मे छह द्रव्य हैं, उसमे से काल उपचार से द्रव्य है, अर्थात् अन्य द्रव्यो के अतीत, वर्तमान और भविष्य का बोध कराने मे काम आता है। शेप पाँच द्रव्य अस्तिकाय है। उनमे से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय–ये तीन एक-एक द्रव्य है। जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य अनन्त है। द्रव्य के अगुरु लघु पर्याय मे गुण हानि-वृद्धि रूप चक्र एक साथ जल के आवर्त्तवत् चलता रहता है, वह एक द्रव्य है। जिसका चक्र भिन्न हो, वह भिन्न द्रव्य है। उन सभी द्रव्यो मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है, अत वे नित्यानित्य है। द्रव्य में ध्रौव्य सदा रहता है और पर्यायो मे उत्पाद व्यय होता रहता है। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है—

"तं जइ जीवो नासे तण्णासो होइ सव्वसो नत्थि ।
जं सो उप्पाय-व्यय-धुव धम्माणंतपज्जाश्रो ।।५४३।।
सव्वं च्चिय पइसमयं उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।
एवं चेव य सुह-दुक्ख-बंध-मोक्खाइ सब्भावो ।।५४४।।

अर्थ—यदि जीव का व्यय–नाश होता है, तो वह सर्वथा नही होगा, क्योकि उत्पाद व्यय धर्मी अनन्त पर्याय हैं, द्रव्य तो ध्रुव है ।

वे पर्याय ही नित्य–प्रति समय उत्पन्न और नष्ट होते है और इसी कारण सुख दु ख मोक्षादि का सद्भाव है । यहाँ युक्तिया जानने के लिए महाभाष्य पढना चाहिए—

इस प्रकार जीव का नित्यानित्य स्वभाव है, उसे बताते है – पूर्व पर्याय का व्यय (नाश) और अभिनव पर्याय का उत्पाद (उत्पत्ति) होता है । यथा—एक प्रदेश मे अगुरु लघु पर्याय अनन्त गुण है, दूसरे प्रदेश मे उससे अनन्तभाग हीन हैं । तृतीय प्रदेश मे असख्यात गुण-वृद्धि है, चतुर्थ पर्याय मे सख्यात गुण-वृद्धि है । इस प्रकार असख्य विभाग है । वे प्रति-समय परावर्त्त रूप है । वे जहाँ अनन्त गुण है, वहाँ असख्यात गुण हो जाते है । इस कारण जिस प्रदेश मे अनन्त गुण हट गया, उसमे उसका व्यय हो गया और असख्यात गुण उत्पत्ति हुई वह उत्पाद हो गया । उसमे जो अगुरु-लघुत्व था, वह ध्रुव / निश्चल रहा । सत्रूप से ही रहा । ज्ञेय का ज्ञान करना यह ज्ञान का धर्म–स्वभाव है । ज्ञेय के परिवर्तन होने पर ज्ञान भी पलट जाता है । यदि ज्ञान नित्य हो तो उसमे परिवर्तन नही हो सकता, अत विवक्षित समय मे केवल-ज्ञान के अनन्त अतीत धर्म स्वभाव हो गये, उन्हे जानता है । वर्त्तमान मे अनन्त धर्म है, उन्हे भी जानता है तथा अनागत काल मे अनन्त होगे–उन्हे भी जानता है । यद्यपि हो चुके और भविष्य मे होगे–वे सभी ज्ञेय के धर्म है, किन्तु उन्हे जानने का गुण–धर्म ज्ञान मे है । परज्ञेय का ज्ञातृत्व भी (जाणपणा) परानुयायी नही होता ।

विषयभेदाद् विषयिणोऽपि भेदः, ज्ञेयभेदाद् ज्ञानभेदः, पुनः ज्ञानभेदः, यावन्तो हि ज्ञेयस्य पर्यायास्तावन्तस्तदेव भासकत्वेऽस्याप्येष्टव्या इति बृहद्भाष्ये ।

अर्थ—विषय भद से विषयी का भी भेद होता है। ज्ञेयभद से ज्ञान का भी भेद हो जाता है। फिर ज्ञान भी ऐसा ही है। जितने ज्ञेय के पर्याय हैं, उतने ही भासकत्व रूप से ज्ञान के भी इष्टव्य है अर्थात् ज्ञान के पर्याय भी उतने ही होते है।

जो ज्ञान वर्तमान रूप से जानता है, वही ज्ञेय को अतीत रूप से जानता है और जो अनागत है, उसे भी वर्तमान मे जानता है। ज्ञान के ये पर्याय भासकत्व और वेतृत्व रूप मे परिर्वातित होते रहते है। इससे पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद और ज्ञान रूप से ध्रुवत्व रहता है। इसी प्रकार दर्शन चारित्रादि गुण भी जानने चाहिए। अत हे सुमतिनाथ जिन ! आपकी शुद्धता कैसी है ? जिस समय उत्पन्न होती है, उसी समय व्यय हो जाती है, फिर भी वैसी ही रहती है अर्थात् मूल ध्रुव धर्म—जो नित्यता है, वह नष्ट नही होता। पर्याय पलटते हैं, उन्ही मे उत्पाद-व्यय होता रहता है। तथा एक ही आत्मा मे ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, वीर्यगुण, दानगुण, लाभगुण, भोगगुण, उपभोगगुण, अरूपीगुण, अगुरुलघुगुण, अव्याबाधगुण, आदि अनन्तगुण है। वे सर्वगुण भिन्न-भिन्न है अत. अनेकता है। वे सभी गुण समुदाय रूप है और प्रत्येक आत्मा मे रहते है। वे आत्मा को छोड़कर कभी भिन्न क्षेत्री—अन्य द्रव्यो मे नही रहते। उन अनन्त गुण-पर्यायो का पिण्ड रूप आत्मा है, अत एक रूप है। पुन हे प्रभो ! आप अस्तित्व रूप है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव रूप मे अस्तित्व है। वह अस्तित्व भाव कभी नष्ट नही होगा। अत हे भगवन् ! आप सदा आत्म-भाव मे ही रहते हैं। अपर—दूसरे द्रव्य का भाव कभी ग्रहण नही करते। इस कारण स्यात् अस्तित्व रूप है। स्वय के धर्म मे ही आत्मभाव मे रहते है और कदापि परभाव मे नही जाते; पर द्रव्य के धर्म का आप मे स्यात् नास्तित्व है। आप कभी पर द्रव्य का धर्म-भाव ग्रहण नही करते, कभी पररूप मे परिणत नही होते, अत. स्यात् अस्ति-नास्ति रूप है। यहाँ सप्तभगी उत्पन्न होती है, उसे बताते है—

१ स्यादस्ति—आपका स्वद्रव्य अर्थात् आत्मा अपने गुण पर्याय का समुदाय है। आत्मा का अगुरुलघु गुण विभागीकृत असख्य प्रदेशो

मे रहता है, वही स्वक्षेत्र है। उत्पाद व्यय रूप प्रवर्त्तना स्वकाल है और ज्ञान के अनन्त पर्याय, दर्शन के अनन्त पर्याय, चारित्र के अनन्त पर्याय, अगुरुलघु गुण के अनन्त पर्याय स्वभाव है। इन सर्व की अपेक्षा से 'अस्तित्व' भी आप में हैं।

२ स्यान्नास्ति—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की अपेक्षा से आपमे 'नास्तित्व' है।

३ स्याद्स्ति स्यान्नास्ति—ये दोनो भी वस्तुधर्म से आप मे विद्यमान है। अत. 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' है।

४. स्यादवक्तव्य—ऐसे उपर्युक्त धर्म-स्वभाव एक द्रव्य मे एक समय मे है, अथवा वस्तु मे अनन्त धर्म हैं, जो वचन द्वारा अगोचर है, ऐसे धर्म 'अवक्तव्य' है।

५. स्यादस्ति अवक्तव्य—यह 'अवक्तव्य' अस्ति धर्म का भी है।

६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य—यह 'अवक्तव्य' नास्ति धर्म का भी है।

७ स्यादस्ति नास्ति युगपद् अवक्तव्य—वह अस्ति नास्ति धर्म एक साथ नही कहा जा सकता।

इस प्रकार सामान्य से सप्तभगी का स्वरूप कहा। इसी प्रकार नित्य अनित्य की, एक अनेक की, वक्तव्य अवक्तव्य की, गुण पर्याय की, द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक की सप्तभगी होती है। इस प्रकार अनन्त सप्तभगी हो सकती हैं। इस सप्तभगी से सर्व पदार्थ अपने स्वभाव मे ही रहते हैं; परिवर्तन नही होता। इसी कारण आप अस्ति नास्ति स्वरूप है। स्वधर्म रूप से ही रहते है, परधर्म को ग्रहण नही करते। पुन हे प्रभो! लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, आप उतने ही असख्य प्रदेश वाले है। उन असख्य आत्म प्रदेशो का स्वरूप—षड् गुण हानि-वृद्धि रूप, अगुरुलघु पर्याय का तरतमयोग, विभाग रूप से उनकी स्थिति, शृंखला की कड़ियो के समान ज्ञानादि गुणो का अवस्थान क्षेत्र, क्षयोपशम काल मे कार्याभ्यास मे तरतमता, इनका स्वरूप **कम्मपयडी** प्रकरण के योग स्थान अधिकार मे तथा

बृहत्कल्पभाष्य मे सयम श्रेणी अधिकार मे है, वहाँ से जानना चाहिए। तथा क्षायिक भाव मे सर्वगुणो की समानता रहती है किन्तु अगुरुलघु पर्याय का तारतम्य (कमीवेशी) सर्वदा रहता है, अत प्रदेश धर्म है। अथवा सर्वगुण पर्याय तुल्य विभाग मे विभाजित होते है, किन्तु किसी भी समय पृथक्-पृथक् खण्डित नही होते अत. अखण्ड रूप है अर्थात् असख्यात प्रदेश रूप अवयवता है; फिर भी वह भिन्न नही होती। यह भी विस्मयकारक है।

कार्य कारण पणे परिणमे तहवि ध्रुव,
कार्य भेदे करे पण अभेदी।
कर्त्तृता परिणमे नव्यता नवि रमे,
सकल वेत्ता थको पण अवेदी ।।अहो०।।३।।

अर्थ—जीव द्रव्य मे जितने गुण हैं, वे सब स्वय का कार्य करते हैं और जो उपादान कारण रूप है, वही कार्य बन जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि जो पूर्वकाल मे कारण है और उत्तरकाल मे कार्य बन जाता है, तब यह तो जमाली का मत है। यदि कारण-काल और कार्य-काल भिन्न हो तो कारण-काल का विनाश होने पर कार्यकाल मे कारण बिना कार्योत्पत्ति होगी और कारण बिना कार्य मानने पर अनेक दोषों की उत्पत्ति होगी। जैसे घट से पट कार्य और पट से घट कार्य। अत कारण बिना कार्य नही हो सकता। इस कारण, कारण भाव तथा कार्य भाव दोनो ही एक समय होते है। यह जैन दार्शनिक मान्यता है। इस विषय का वर्णन **'विशेषावश्यक भाष्य'** मे विस्तार से है। जबकि बाह्य कृत्रिम उत्पत्ति कारण कार्य मे एक-कालता है तब सहज अकृत्रिम कारण-कार्यता एक काल मे ही होती है; अत जीव का केवलज्ञान गुण सर्व विशेष व सामान्य को जानता है। इसमे सर्व का ज्ञान रूप कार्य है और ज्ञान गुण जानने रूप कार्य मे प्रवृत्त होता है—यह कारण है तथा उसी समय कारण कार्य रूप मे परिणत होता है। ज्ञान गुण भी सदा ध्रुव है। ऐसे ही दर्शनादि अनन्त गुण है, वे भी सब इसी रीति से परिणत होते है। जहाँ कारणता का व्यय—वही कार्य का

उत्पाद और कार्यता का व्यय–वही कारणता का उत्पाद। इस प्रकार सर्व द्रव्यो मे उत्पाद, व्यय और ध्रुव धर्म है। यहाँ कोई कहे कि उत्पाद और व्यय स्वत नही होते, पर-प्रत्ययी हैं अर्थात् परनिमित्त से होते है। ऐसा कहना भूल है, क्योकि परप्रत्ययी धर्म वस्तु का लक्षण नही होता। लक्षण तो स्वधर्म का ही होता है। इस विषय मे तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार की साक्षी उद्धृत करते है–

अथ यौ व्याचक्ष्येते व्ययोत्पादौ न स्वतो व्योम्नः किन्तु परप्रत्ययाज्जायेतेऽवगाहकसन्निधानायत्तावुत्पादव्ययाविति तेषां कथमलोकाकाशेऽवगाहकाभावात् अर्द्धवैशसं च सतोलक्षण लक्षणस्य साध्याऽव्यापित्वं चेष्यते स्थित्युत्पादव्ययत्रयमिति। अत्रोच्यते–य एवं महात्मानस्तर्कयति स्वबुद्धिबलेन पदार्थस्वरूपं तेऽत्र निपुणतरमनुयोक्तव्याः, कथमेतत् वयं तु विस्रसापरिणामेन सर्ववस्तूनामुत्पादादित्रयमिच्छामः, प्रयोगपरिणत्या जीवपुद्गलानामित्थं तावदस्मद्दर्शनं विशुद्धसिद्धान्तसद्भावं अस्मदुक्तार्थानुगुणमेव च भाष्यकारेणाप्युच्यते।

अर्थ–अब जो दोनो ऐसा कहते है कि व्यय और उत्पाद आकाशद्रव्य के स्वत. नही होते, अवगाहक की सन्निधि के स्वाधीन उत्पाद व्यय होते है। उनके मन मे अलोकाकाश मे जहाँ अन्य द्रव्य का अभाव है वहाँ अवगाहक के अभाव मे उत्पाद व्यय कैसे होंगे? और, अर्द्ध वैशस् अर्थात् आधी विशिष्टता सत् का लक्षण नही होता, हमे लक्षण का साध्य से व्यापी होना इष्ट है। अर्द्ध व्यापितत्व लक्षण नही होता। स्थिति, उत्पाद, व्यय तीनो ही सद्वस्तु के लक्षण हमे इष्ट है। यहाँ कहते है जो महात्मा स्वबुद्धि बल से ऐसा तर्क करते है, पदार्थ का स्वरूप ऐसा मानते है, उन्हे निपुणता से ऐसे समझाना चाहिए कि महानुभावो! ऐसा कैसे हो सकता है? हम तो विस्रसा–स्वभाव परिणाम से सर्व वस्तु द्रव्यो मे उत्पाद, व्यय और ध्रुवता मानते है तथा जीव और पुद्गलो का प्रयोग परिणति से। इस प्रकार पहले हमारे सिद्धान्त की अविरुद्धता और सद्भाव को समझो। हमारे कहे सिद्धान्त के अनुसार ही भाष्यकार श्री **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** ने भी कहा है। ऐसे वचन देखकर श्रद्धा को यथार्थ और दृढ करना चाहिये।

हे भगवन् ! आपके गुण कार्यरूप से परिणत होते है । इससे उनमे उत्पाद व्यय है और गुण का अभाव नही होता, वह ध्रुव धर्म है, अतः स्यान्नित्यम्, स्यादनित्यम् ऐसा स्वरूप है । यह भी आश्चर्य-जनक है, जो काल को इसमे परत्व कहते है, उन्हे उत्तर देना चाहिए कि काल तो पचास्तिकाय से भिन्न नही है तो फिर परत्व क्यो कहते हैं ? और, आत्मद्रव्य मे जितने-जितने गुण हैं, वे सब भिन्न रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं । ज्ञान जानने का, दर्शन देखने का, सम्यक्त्व वस्तु-निर्द्धारण का, चारित्र स्थिरता रूप कार्य करता है और अमूर्त्तगुण अरूपित्व कार्य का कर्त्ता है । इस प्रकार सर्व गुण स्व-स्व कार्य के कर्त्ता है । ऐसा कार्यभेद होने से वस्तु मे अनेकता का स्वभाव है, अत भेद स्वभाव है, किन्तु उस कार्य धर्म का कारण किसी द्रव्य से या क्षेत्र से पृथक् नही होता—इस कारण अभेद रूप है । जैसे सुवर्ण मे पीतत्व, गुरुत्व और स्निग्धता । कार्य भेद से ये तीनो धर्म प्राप्त होते हैं, परन्तु ये कभी सुवर्ण से पृथक् नही होते । ऐसे ही आत्मा के अनन्त गुण भी भिन्न-भिन्न कार्य करते है, परन्तु वस्तुधर्म—आत्मधर्म से भिन्न नही हैं । कार्य तो भेदे अर्थात् भिन्न रूप से करते है । परन्तु, अभेदी हैं अर्थात् भेद रहित अभिन्न हैं । प्रति समय कर्त्तृत्व रूप से है ।

यद्यपि पचास्तिकाय मे चार द्रव्य अजीव भी अस्तित्व रूप है, पर वे अकर्त्ता है, एक मात्र जीवास्तिकाय स्वतन्त्रकर्त्ता है, स्वाधीन रूप से कारणावलम्बी होकर कार्य की निष्पत्ति करता है—अत वह कर्त्ता कहलाता है । जैसे घट निर्माण रूप कार्य, उसका कर्त्ता कुम्भकार । वैसे ही ज्ञानादि कार्य का कर्त्ता आत्मा है, अत कर्त्तृत्व रूप से परिणत होता है, किन्तु कोई नवीन रूप मे रमण नही करता अर्थात् प्रति समय पर्याय मे परिणत होता हुआ भी कुछ नया नही करता । उसका अस्ति धर्म वैसा ही रहता है । पुन सकल अर्थात् सर्व छह द्रव्य है, उनके गुण पर्याय स्वभाव इनके उत्पाद रूप, व्यय रूप, ध्रुव रूप के अतीत अनागत वर्त्तमान काल—तीनो ही काल के आप वेत्ता है, इन सबको जानते है । फिर भी आप अवेदी अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुसक वेद से रहित हे । अत वेत्ता होते हुए भी आप अवेदी है । यह भी आश्चर्य ही है ।

शुद्धता बद्धता देव ! परमातमता,
सहज निज भाव भोगी अयोगी ।
स्व-पर उपयोगी तादात्म्य सत्ता रसी,
शक्ति प्रयुञ्जतो न प्रयोगी ।।अहो०।।४।।

अर्थ—पुन हे देव ! शुद्धता—सकल पुद्गल/कर्मादि जड से मुक्त सकरता अर्थात् मिश्रता रहित है। बुद्धता—केवलज्ञान, केवलदर्शन की सम्पूर्णता से युक्त पूर्ण बोध स्वरूप हैं, पूर्ण ज्ञाता द्रष्टा हैं। देव—'दीव्यति इति देव' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रमणशील हैं। अर्थात् स्वय के विशुद्ध स्वरूप मे ही क्रीडा करते है अथवा देवजयी कान्तिवाले पूर्ण हर्ष वाले है। परमात्मा—आपकी आत्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मो से मुक्त हैं, अत. परम श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण रूप से परमात्म स्वरूप के भोक्ता है। परमात्म-भाव को प्राप्त हो गये है। परमात्म-भाव के ही समस्त रूप से स्वामी हैं। सहज अर्थात् अकृत्रिम भाव तथा स्वय के ज्ञानादि अनन्त धर्म के भोगी हैं—आस्वादन करते हैं। तथापि अयोगी—मन, वचन, काय रूप योगो से रहित है। जिनका क्षयोपशमी वीर्य है, उनके मन, वचन, काया की प्रवृत्ति है। आप तो क्षायिक वीर्य वाले है अर्थात् पॉच प्रकार के अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो गया है। जो मनोवर्गणा, भाषावर्गणा और शरीर वर्गणा योग के अवष्टम्भ के हेतु है—उन्हे द्रव्य योग कहते है। अवष्टम्भग्राहक वीर्य परिणाम—प्रथम परिणमन, दूसरा अवलम्बन, तीसरा ग्रहण रूप—इन तीन शक्तियो को भाव योग कहते हैं। ऐसा योग परिणमन आपके नहीं है, कारण कि योग से आस्रवकर्म का आत्मा मे आगमन होता है—वह आपके होता नही, आप सम्पूर्ण रूप से कर्म रहित आत्मा है। योग—आत्मा के साथ कर्मो का योग-सयोग कराने वाले है। वे आप मे नही है, आप अयोगी है। पुन आप स्व-पर उपयोगी है। स्व—आत्म तत्त्व, पर—अन्य सर्व अनन्त आत्मा—सिद्ध व ससारी दोनो प्रकार के जीवात्मा तथा धर्मास्ति अधर्मास्ति आकाशास्ति पुद्गलास्तिकाय स्वरूप द्रव्य और छठा काल रूप द्रव्य—इन सबके ज्ञाता द्रष्टा हैं। (ज्ञान दर्शन को जैन परिभाषा मे उपयोग कहते है) आप सर्व तत्त्वों तथा द्रव्यो की त्रैकालिक परिणति

के ज्ञाता द्रष्टा हैं, तथापि तादात्म्य सत्ता ज्ञान दर्शनादि अनन्त गुणो की सत्ता रूप तादात्म्य के रसी–रसिक है। उन्ही का आस्वादन करते है अर्थात् स्व-पर के ज्ञाता-द्रष्टा होने पर भी भोगी तो स्वरूप के ही है। तन्मय रूप से रहे हुए स्वसत्ता स्वरूप के ही भोगी है। प्रश्न होता है कि ज्ञाता-द्रष्टा तो स्व-पर दोनो के हैं तो भोगी भी दोनो के क्यो नही ? उत्तर—पर के ज्ञाता - द्रष्टा होना, ज्ञान गुण व दर्शन गुण का कार्य है और भोग चारित्र का कार्य है। स्वक्षेत्र–आत्मा मे रमण को ही चारित्र कहते हैं। वह रमण तो स्व आत्मा मे ही होता है, पर मे नही। अत भगवान् तादात्म्य रसिक है। परक्षेत्रवर्ती धर्म जाना देखा जा सकता है, भोगा नही जा सकता। भोग–रमण तो स्वक्षेत्र मे ही हो सकता है। दूर की वस्तु का जो आत्मा से अतिरिक्त है, उसका भोग नही हो सकता, वह तो मात्र जानी व देखी जा सकती है। आपकी शक्ति अनन्त है। जो कर्म सहित जीव हैं, उनकी शक्तियाँ ज्ञानावरणादि कर्मो से आच्छादित हैं। आपने साध्य साधक भाव से सर्व कर्मो को नष्ट कर दिया और फलस्वरूप अनन्त शक्तियाँ संप्राप्त हो गई। उन शक्तियो की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है। जैसे ज्ञान की प्रवृत्ति सर्व जानने की, दर्शन की प्रवृत्ति देखने की है वैसे ही सर्व शक्तियो की स्व-स्व कार्य की प्रवृत्ति है। उन सर्व शक्तियो का प्रयोग तो आपके होता है। यद्यपि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञापकत्व, पारिणामिकत्व, ग्राहकत्व, आधारत्व आदि शक्तियो की प्रवृत्ति होती रहती है, कोई भी बिना प्रवृत्ति के नही है तदपि आप प्रयोगी नही है, क्योकि आपको किसी भी शक्ति की प्रवृत्ति करने का प्रयोग/प्रयास नही करना पडता, कोई विकल्प या उद्यम नही होता। स्वत. ही सहज प्रवृत्ति होती रहती है। अत प्रयुञ्जन–पूर्ण प्रयोग होने पर भी आप तो प्रयोगी नही हैं।

वस्तु निज परिणते सर्व पारिणामिकी,
एहले कोई प्रभुता न पामे।
करे जाणे रमे अनुभवे ते प्रभु,
तत्त्व स्वामित्व शुचि तत्त्व धामे ॥अहो०॥५॥

अर्थ—प्रभु श्री सुमतिनाथ मे १ नित्य २. अनित्य ३ एक ४. अनेक ५ अस्ति ६ नास्ति ७ भेद ८ अभेद आदि अनन्त धर्म है, अत उनमे परमेश्वरत्व है। उसका अभिज्ञान (पहचान) कैसे हो ? उसी को बतलाते है—नित्यानित्य धर्म तो सभी द्रव्यो मे है। वस्तु जीव और पुद्गल, निज परिणते–स्वपरिणति से सर्व नित्यानित्यादि स्याद्वाद परिणति से पारिणामिक भाव वाले है अर्थात् नित्यानित्यादि धर्म रूप से सभी द्रव्य परिणत होते रहते हैं। किन्तु, इससे सभी द्रव्य प्रभुता को प्राप्त नही करते। प्रभुता अर्थात् पारमैश्वर्य तो अनन्त जीवो मे से कोई विरल आत्मा ही प्राप्त कर सकता है। शेप धर्मास्तिकायादि द्रव्य तो अजोव है। उनमे तो प्रभुता करने की शक्ति है ही नही, क्योकि वे पारिणामिक नही है। जो द्रव्य 'करे जाणे रमे' अर्थात् कर्त्ता हो, ज्ञाता हो, भोक्ता हो–जो स्वधर्म का कर्त्तादि हो। क्योकि, शेप अजीव–धर्मास्ति अधर्मास्ति पाँचो द्रव्य–वे सभी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से परिणत तो होते है, परन्तु कर्त्तृत्व उनमे नही है, वह तो मात्र जीव मे ही है। इसका कारण यह है कि सभी अजीव द्रव्यो मे द्रव्यता प्रति प्रदेश मे है। और, वह प्रत्येक प्रदेश मे प्रवृत्ति करती है, प्रत्येक प्रदेश मे रहती है। परन्तु, एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश की सहायता होकर एक साथ प्रवृत्ति होती हो, ऐसा नही है। जीव के तो प्रत्येक प्रदेश मे अनन्त-अनन्त धर्म है। वे प्रत्येक प्रदेश मे रहे हुए प्रवृत्ति करते है, परन्तु सर्व प्रदेशो का समुदाय मिलकर साथ प्रवृत्ति करता है, अत जीव कर्त्ता है और इसी कारण वे अनन्त धर्म स्व-स्व धर्म को करते है। यह कर्त्तृत्व भाव ही प्रभुता है। यद्यपि अजीव द्रव्यो मे अनन्त गुण पर्याय है, फिर भी वे द्रव्य अपने गुणादि के ज्ञाता नही, क्योकि अजीव मे ज्ञानादि गुण नही होते। आत्मा तो ज्ञानादि अनन्तागुणशाली है। वह स्व के अनन्त गुण तथा अन्यान्य अनन्त जीवो के, तथा पर–धर्मास्ति आदि के अनन्त गुणो को जानता है, क्योकि आत्मा का असाधारण गुण–धर्म ज्ञान है। स्व-चारित्र गुण से आत्मा स्वरूप मे ही रमण करता है, अजीव द्रव्य स्व मे नही रमण कर सकते, तथा आत्मा स्वधर्म को भोगता है। इसी कारण स्वधर्म को ही अनुभवे अर्थात् अनुभव करता है, क्योकि जो कर्त्ता है, वह भोक्ता भी है ही, जो कर्त्ता

नही है वह भोक्ता भी नहीहै। अत आत्मा ही स्वरूप मे रमण-कर्ता और अनुभवी है। अतएव जो कर्त्ता है वही भोक्ता, ज्ञाता, अनुभव-कर्त्ता भी है। अनुभव धर्म भी आत्मा मे ही है, अन्य पदार्थो मे नही, अत वही प्रभु–समर्थ परमेश्वर है, जो उपर्युक्त कर्त्ता ज्ञाता भोक्ता अनुभवकर्त्ता है। अन्य दर्शनी कोई परमेश्वर को अकर्त्ता कहते हैं। कोई परभाव–जगत्-कर्त्ता कहते है, वे भी मिथ्या कहते है, क्योकि परमेश्वर कर्म–ज्ञानावरणादि आठ कर्म सहित अनन्त जीव और सिद्ध–कर्मो से मुक्त, अनन्त जीव परमेश्वर है, ऐसा मानना पडेगा। इसका उत्तर है–'तत्त्व स्वामित्व शुचि तत्त्व धामे' अर्थात् तत्त्व–वस्तु का मूल धर्म, यथा आत्मा का मूल धर्म–ज्ञान दर्शन ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व आदि गुणो का स्वामित्व, प्रभुत्व अर्थात् परमेश्वरत्व तो सर्वथा कर्मो से मुक्त पूर्ण शुचि–पवित्रता युक्त सर्वथा शुद्ध पूर्ण आत्मा के सिद्धावस्था मे ही होता है। शेप सभी ससारी जीवो मे परमेश्वरत्व नही हैं। यद्यपि सभी जीवो मे सत्ता रूप से परमेश्वरत्व है, परन्तु जिनके ज्ञानादि गुण पूर्ण अभिव्यक्त हो गए वे ही परमेश्वर–पूज्य हैं। महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी म० ने भी ऐसा ही कहा है :—

"जे जे अ शे रे निरुपाधिक पणु, ते ते कहिये रे धर्म।
सम्यग् दृष्टि रे गुणठाणा थकी, जीव लहे शिव शर्म॥"

अर्थ—आत्माओ के जितने-जितने अ शो के रूप मे आत्मा-निरुपाधिक–कर्ममल रहित वनता है, उतने-उतने अ शो मे आत्म धर्म प्रकट होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा गुणस्थान से ऊपर चढते-चढते अयोगी गुणस्थानक तक कर्ममल से मुक्त बनता जाता है और अन्त मे सर्वथा सिद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है। अत जो अर्हन् और सिद्ध है, वे परमेश्वर परमात्मा पूज्य है।

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा,
पुग्गलाधार नही तास रगी।
पर तणो ईश नही अपर ऐश्वर्यता,
वस्तु धर्मे कदा न परसगी ॥ अहो० ॥६॥

अर्थ—अब जीव का जो मूल धर्म श्री सुमतिनाथजी के प्रकट हो गया है, उसे कहते है। जीव नवि पुग्गली–जीव कभी पुद्गल नही बना, अनन्त काल से पुद्गल के साथ रहने पर भी कभी पुद्गल रूप नही बना। न ही जीव पुद्गल का आधार बना, क्योकि आधार तो क्षेत्र होता है और सभी द्रव्यो का आधार–क्षेत्र आकाश है। धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल–ये सभी आकाश द्रव्य मे रहते है। परन्तु, जीव के प्रदेशो मे पुद्गल का निवास जीव के भावो की अशुद्धता से हुआ है, कारण कि सभी ससारी जीवो के भोग तथा उपभोग गुण सदा क्षायोपशमिक रहता है अर्थात् अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जीव की वीर्य शक्ति मनो वाक् काय रूप योग सम्बन्ध से अपना कार्य करती है, जिससे भोगोपभोगादि भी पौद्गलिक–भौतिक वस्तु का ही होता है, स्वात्मगुणो का का नही, अत परभोगी बना रहता है। वीर्य भी परानुयायी रहता है। मनो वाक् काय शक्ति भी सम्यग्दर्शन के अभाव मे तथा सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र के अभाव मे पर-पौद्गलिक–भौतिक वस्तुओ के भोगोपभोग मे भी व्यय होती रहती है। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, ग्राहकत्व, व्यापकत्व गुण सदा निरावरण रहते है और स्वकार्य–ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व, स्वगुणरमणता, स्वगुण-ग्राह्यता, स्वगुण-भोक्तृत्व पर-आवरण है। इससे पुद्गल ग्राह्यता पुद्गलानुयायी प्रवृत्ति रूप कार्य होता रहता है, उसी का कर्त्तृत्व एव भोक्तृत्व भी है। पुद्गल भोग रूप से पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श मे व्यापक बना रहता है। अत व्यापकत्व भी उन्ही मे रहा, उन्हे ही ग्रहण करता रहता है। जिन्हे भोगा है, उन्हे ही पाने की इच्छा–भोगने की प्रबल आकाक्षा उत्पन्न होती रहती है। पुद्गल के वर्णादि का भोग किया है, उन्हे ही बार-बार भोगना अच्छा लगता है, अत उन्हे ही पुन -पुन ग्रहण करता और भोगता है, अत एव आत्म प्रदेशो मे पुद्गलो का निवास हो रहा है। यद्यपि आत्मप्रदेश स्वगुण पर्याय के क्षेत्र है, पुद्गल के नही। मूल वस्तु धर्म से आत्मा पुद्गल का रगी–रमण करने वाला नही है, किन्तु स्वधर्म का आस्वाद कभी हुआ नही, अत पुद्गलास्वादी और पुद्गल का ही रगी बना हुआ है। वास्तविक विचार करते हुए आत्मा तथा पुद्गल का क्या और कैसा सम्बन्ध है ? आत्मा इन पर-भावो का पुद्गलो का स्वामी भी नही है,

न परभाव से इसका ऐश्वर्य है, न प्रभुता है, वस्तुधर्म से कदापि पर वस्तु का संगी भी नही है। आत्मा का सत्ताधर्म तो ज्ञानादि गुणमय है। अतः मेरे सुमतिनाथ भगवान परमेश्वर तो शुद्ध देवाधिदेव है। वे पुद्गल के आधार और रगी-पुद्गल मे रमने वाले नही है। वे तो सर्वथा पुद्गलातीत है।

संग्रहे नही आपे नही परभणी,
नवि करे आदरे न पर राखे।
शुद्ध स्याद्‌वाद निज भाव भोगी जिके,
तेह परभाव ने केम चाखे ।। अहो० ।।७।।

अर्थ—मेरे श्री सुमतिनाथ भगवान् तो सर्वथा शुद्ध सिद्ध बुद्ध मुक्त हो चुके है। वे परवस्तु पुद्‌गलादि को 'सग्रहे नही' अर्थात् सग्रह नही करते कि यह मेरी है, न पर वस्तु–धन कलत्र पुत्रादि किसी को देते हैं। वे न पर-भाव या वस्तु को 'करे' अर्थात् करते है, न उसे ग्रहण करते है। न पर-वस्तु–धन वैभव आदि को 'राखे' अर्थात् रखते है, न रक्षा करते है, क्योकि वे शुद्धात्मा है। शुद्ध धर्म वाले परमात्मा शुद्ध स्याद्‌वाद धर्म निजभाव के भोगी हैं, अपने ज्ञानदर्शनादि अनन्त गुणो के भोक्ता है, उन्ही का आस्वादन करते है। वे परभाव–पौद्‌गलिक वर्ण गन्ध रस स्पर्शादि तथा कर्म रूप राग-द्वेषादि का आस्वादन कैसे कर सकते हैं, कदापि नही। अत परमात्मा परभाव को कैसे चाखे अर्थात् कैसे आस्वादन करे ? वे तो स्वरूप के भोगी है।

ताहरी शुद्धता भास आश्चर्य थी,
ऊपजे रुचि तेणे तत्त्व ईहे।
तत्त्वरंगी थयो दोष थी ऊभग्यो,
दोष त्यागे ढले तत्त्व लीहे। अहो० ।।८।।

अर्थ—अब साधन धर्म बताते है। कोई प्रश्न करे कि भगवान् श्री सुमतिनाथ प्रभु तो स्वय मुक्त होकर कृतकृत्य हो चुके है, वे अन्य आत्माओ के मुक्ति के कर्त्ता ही नही है, तो उनकी स्तवना क्यो करते हो ? इस से क्या लाभ है ? उन्हे उत्तर देते हुए कवि ने स्तुति से होने वाला लाभ स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वे प्रभु से कहते है कि हे भगवन्! आपकी शुद्धता, निष्कर्मता, अनन्त गुणो की अभिव्यक्तितादि का जिस समय भासन–ज्ञान होता है और ज्ञानादि गुणो का ज्यो-ज्यो उद्घोष करता है, गायन करता है, त्यों-त्यो गुणो का भासन–ज्ञान होता है और भक्तिलीन आत्मा आश्चर्यान्वित होता है कि, अहो! प्रभु का कैसा अनन्त अनुपम ज्ञान है। लोकत्रयवर्ती षड्द्रव्यो को, उनकी त्रिकालवर्ती प्रवृत्ति को एक समय मे जानते है। वैसे ही प्रभु का अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, सकल पुद्गलो का अभोगित्व है। अहो! प्रभु का परमानन्द! इत्यादि विस्मयकारिता वाले अद्भुत गुणो से आश्चर्य होना स्वाभाविक है और इससे स्वय की शुद्ध परमात्म दशा प्रकट करने की रुचि होती है तथा तत्त्व–आत्मतत्त्व को शुद्ध बनाने की ईहा–चेष्टा करता है अथवा ईहा–इच्छा करता है। मोक्ष रुचि जीव विचारता है कि मेरी आत्मा कब कर्मो से मुक्त बने ? कब मेरा शुद्ध पारिणामिक भाव प्रकट हो ? कब मै अपने ज्ञानादि गुणो का भोग करूं और अनन्त जीवो द्वारा भुक्त पौद्गलिक भोगोपभोगो का परित्याग कर स्वधर्म का कब भोग करूंगा ? ऐसी रुचि उत्पन्न होती है। फिर वह वैसी रुचि वाला जीव तत्त्व की ईहा करता हुआ समय व्यतीत करता है। वह ज्यो-ज्यो तत्त्व की ईहा–इच्छा अभिलाषा करता है, त्यो-त्यो तत्त्व का रग विकसित होता है और ज्यो-ज्यो तत्त्वरगी बनता है त्यो-त्यो राग-द्वेषादि अठारह पाप स्थानक आदि दोषो से 'ऊभग्यो' अर्थात् उकता कर दोषो का परित्याग करता है। 'दले' अर्थात् आत्म तत्त्वाभिमुख होकर, 'लीहे' शुद्ध स्वरूप का आस्वादन करता है। स्वभाव परिणामी बनता है। यह सर्व कार्य प्रभु का अवलम्बन लेने पर होते है।

शुद्ध मार्गे वध्यो साध्य साधन सध्यो,
स्वामि प्रतिछन्दे सत्ता आराधे।
आतम निष्पत्ति तेम साधना नवि टके,
वस्तु उत्सर्ग आतम समाधे ॥ अहो० ॥९॥

अर्थ—इस प्रकार पारिणामिक रूप से स्मरण किया आत्मा शुद्ध मार्ग की ओर अग्रसर हुआ, साध्य–स्वय का परमात्म भाव, उसके साधन का उपाय प्राप्त हो गया। अव आत्मा को 'स्वामि प्रतिच्छन्दे' भगवान श्री सुमतिनाथ के जैसी ही मेरी सत्ता है अर्थात् मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, ऐसा निश्चय हो गया। और, मेरी आत्मा स्वसत्ता की शुद्धि के कार्य को 'आराधे' अर्थात् पूर्ण रूप से साधना मे तत्पर हो जाएगी। प्रभुजी जैसी सत्ता अपनी भी प्रकट कर लेगा। कर्म-मुक्त होकर निर्मल शुद्ध आनन्द का उपभोग करेगा। इससे पूर्व जैसे-जैसे आत्म-विशुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे सावना अर्थात् प्रभु रूप वनने का कार्य ध्यान, साधना, प्रभु भक्ति, स्मरणादि भी कम होगे और आत्मलीनता वढती जायेगी। नियम है कि ज्यो-ज्यो कार्य पूर्ण होने लगता है त्यो-त्यो कारणो/साधनो की आवश्यकता मे कमी होती जाती है। क्योकि कारण कार्यान्वयी है, वस्तु या कार्य का धर्म नही। जो वस्तु कार्य मे अनिवार्य हो वह कारण है और जव कार्य पूर्ण हो जाए, तो कारण की आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार आत्म कार्य स्वरूप सिद्धि/सिद्धत्व प्राप्त हो जाने पर, उत्सर्ग रीति से पूर्ण समाधि परमानन्द होने पर कारणता भी नही रहती है।

माहरी शुद्ध सत्ता तणी पूर्णता,
तेहनो हेतु प्रभु तू ही साँचो।
देवचन्दे स्तव्यो मुनिगुणे अनुभव्यो,
तत्त्व भक्ते भविक सकल राचो ॥ अहो० ॥१०॥

अर्थ—अत. हे प्रभो ! मेरी शुद्ध निर्मल आत्म सत्ता की पूर्णता-कर्मो से सर्वथा मुक्त होने की अवस्था अर्थात् सिद्धावस्था की सम्प्राप्ति के सत्य हेतु–कारण/निमित्त आप ही है। आप सदृश शुद्ध देव का निमित्त समुपलब्ध हुये बिना मेरी आत्मा निर्मल–कर्ममल से सर्वथा मुक्त कैसे बने ? क्योकि सभी मुक्त होने वाले जीवो की यही परिणति है कि निमित्त का अवलम्बन लेकर ही उपादानावलम्बी होते है। श्री वीतराग देव निमित्त कारण हैं और स्वय की आत्मा आदान कारण है। जैसे सुवर्ण रूपी उपादान कारण को शुद्ध करने के लिए रसायन शास्त्री और तेजाब अग्नि आदि निमित्त कारण हैं, वैसे ही श्री वीतराग अर्हन्त, सिद्ध और सयमतपादि भी आत्मोपादान की शुद्धि के लिए निमित्त कारण है। ऐसे श्री अरिहन्त देवाधिदेव की, चतुर्निकाय–भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी एव वैमानिक देवो मे चन्द्र श्रेष्ठ सदृश देवचन्द्र ने स्तवना की अर्थात् उनके आन्तरिक गुणो का वर्णन करते हुये स्तुति की। श्री देवचन्द्र जी कहते है कि मै मुनि/साधु निर्ग्रन्थ/सर्वत्यागी होने से मैने भी उन गुणों का आशिक अनुभव किया। आपके ज्ञानादि आत्मिकगुणो का किञ्चिद् अनुभव होने से उन गुणो की थोडी महत्ता मेरे भी समझ मे आयी कि अहो ! मुझ मे आशिक शुद्धि होने से कितनी अधिक समाधि का परमानन्द का मुझे अनुभव हो रहा है, तो जिन के ज्ञानादि गुण सर्वथा शुद्ध निर्मल हो गए है, उनके परमानन्द का तो कहना ही क्या ? वे तो पूर्णत कर्ममल का क्षय हो जाने से केवल विशुद्ध आत्मा बन गये है, भविष्य मे कदापि मलिन होने वाले नही। उनका आनन्द तो कभी नष्ट होगा नही, सदा एकरूप ही रहेगा। श्रीमद् कहते है–हे भव्यजनो ! आप भी सात्त्विक भक्ति मे श्री सुमतिनाथ भगवान के आन्तरिक–अनन्त ज्ञानादि गुणो मे 'राचो' अपने आत्मा मे भी उन गुणो का रग चढाओ अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणो के प्रति बहुमान पूर्वक उन गुणो का स्मरण करते हुए हे मोक्षार्थी बन्धु जनो ! उन्ही गुणो मे रमण करते हुए प्रभु मे लीन बनो। मग्न हो जाओ।

□

श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

(राग—हुं तुझ आगल शी कहुं केशरिया लाल)

श्री पद्मप्रभ जिन गुणनिधि रे लाल,
जगतारक जगदीश रे, वाल्हेसर ।
जिन उपकार थकी लहे रे लाल,
भविजन सिद्धि जगीश रे, वाल्हेसर ।१।
तुझ दरिसण मुझ वालहो रे लाल,
दरिसण शुद्ध पवित्त रे, वाल्हेसर ।
दरिसण शब्द नये करे रे लाल,
सग्रह एवभूत रे, वाल्हेसर । तुझ० ।।२।।

अर्थ—अब श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र के निमित्त कारण की कारणता का यथार्थ रूप से स्तवन करते हैं—

श्री पद्मप्रभ जिनेश्वर गुणो के निधान है । जगत् मे जो मोक्षार्थी जीव है, उनके तारक—तारने वाले है । सर्व-श्रेष्ठ गुणो के धारक हैं, अत जगत् के ईश/स्वामी सर्व से महान् है । हे वाल्हेसर ! प्रियतम ! जिन उपकारो से ही भव्यजन सिद्धि लहे—प्राप्त करते है । जगीश—जगत् की सभी सर्व श्रेष्ठ सम्पदाएँ उन्हे प्राप्त हो जाती है और वे अन्त मे सिद्धि/मोक्ष मे निवास करते हैं । हे प्रभो ! आपका दर्शन मुझे अत्यन्त वालहो अर्थात् वल्लभ है, अथवा हे भगवन् ! आपके दर्शन मे कारण रूप आपकी मोहन मुद्रा के दर्शन, वही उत्कृष्ट निमित्त कारण रूप से आपका दर्शन-शासन—दार्शनिक मान्यताएँ और सयम रूप एव तप रूप

आचरण तथा उपादान कारण रूप दर्शन—सम्यग्दर्शन वह मुझे अत्यन्त 'वालहो' वल्लभ/प्रिय/इष्ट है। हे प्रभो ! आपका दर्शन सम्यक् तत्त्व रुचि रूप है वही शुद्ध व पवित्र है, वही आत्मा का स्वरूप निर्धारण रूप, स्वरूप रुचि रूप प्रकट हो जाये तो आत्मा मोह मल्ल पर विजय प्राप्त कर ले और सर्व कर्मबन्धन से मुक्त होकर सिद्ध बन जाये। अत वही शुद्ध पवित्र मार्ग है। आपका निरूपित दर्शन—जीव, जगत का यथार्थ वर्णन, स्वरूपादि ही वास्तव मे सत्य आत्म हितकारी है। कहा भी है—

सम्मत्तेणं सुद्धो सच्च सुंकिच्चो हवइ सिवहेऊ।
संवर वुड्ढी तह निज्जरा य धम्ममूलं च सम्मत्तं ।१।

मूलदारं पइट्ठाणं आहारो भायणं निहि।
दुसुक्कं सावि धम्मस्स सम्मत्तं परिकित्तियं ।२।

अर्थ—सम्यक्त्व से शुद्ध सत्य रूप से किया गया सुकृत्य ही मोक्ष का हेतु बनता है। सवर-सयम की वृद्धि तथा कर्मो की निर्जरा रूप धर्म का मूल सम्यक्त्व ही है।

प्रतिष्ठान—आत्मा मे स्थित रहने या प्रवेश का मूल द्वार भी सम्यक्त्व है। आत्मनिधि ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुण सम्पत्ति का आधार या भाजन—पात्र भी सम्यक्त्व है और विधर्म—पौद्गलिक भावो को प्रवेश नही देने वाला भी सम्यक्त्व ही कहा गया है।

पुन हे प्रभो ! आपका दर्शन अथवा शुद्ध तत्त्व श्रद्धा रूप दर्शन-सम्यग्दर्शन जो जीव शब्द नय से करता है वह जीव (क्योंकि सग्रहनय की अपेक्षा से सभी जीव समान है) जब स्वय के सर्व आवरण—कर्मो का आवरण क्षय करके सम्पूर्ण रूप से सिद्ध बुद्ध मुक्त वन जाता है तव एवभूत नय से सिद्ध बन जाता है।

यहाँ नयो का स्वरूप सक्षेप से वतलाते है—

१ नैगम नय—योगो की चञ्चलता हो, उपयोग भी अन्य कार्य मे लगा हो, मात्र चक्षु इन्द्रिय से प्रभु मुद्रा को देखना, वह नैगम नय से प्रभु दर्शन है।

२. सग्रह नय—'सत्ताग्राही सग्रह ·' वस्तु की सत्ता का सग्राहक सग्रह नय है। सभी प्रभु है, सभी मे भगवान् है। सर्व जीव परमात्मा स्वरूप है। सब दर्शन करे। उसने सग्रह नय से किये।

३. व्यवहार नय—विधि से वन्दन-नमन करे, आशातना का वर्णन करे और प्रभु मुद्रा, प्रभु के पूर्ण शरीर को नयनो से देखे, वह व्यवहार नय से दर्शन कहलाता है।

४. ऋजुसूत्र नय—मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पूर्वक, प्रभ् के गुणो मे उपयोग रखता हुआ सर्वतोभाव से सर्व इन्द्रियो से अर्थात् शरीर से विनम्रतापूर्वक कर-जोड योग-मुद्रा से स्थित, रसनेन्द्रिय/जिह्वा से गुणगान करता हुआ चक्षुरिन्द्रिय से एकाग्र दर्शन करता हुआ, श्रोत्रेन्द्रिय/कानो से प्रभु-गुण-पूर्ण स्तवन स्तुति आदि सुनता हुआ, घ्राणेन्द्रिय से प्रभु के मूल देह की कमलगन्ध को मन से सूँघता हुआ और मन को मात्र प्रभु मे मग्न रखता हुआ हर्ष व प्रशस्त राग से दर्शन करे, वह ऋजु सूत्र नय से दर्शन करना है।

५. शब्द नय—अ तरग परिणामो की परिणति, चेतना का उधर ही आकर्षण तथा वीतराग की वीतरागता मे मन का योग, सर्व इन्द्रियो का प्रभु की मुद्रा व प्रभु के शरीर से ही ध्यान लगा हुआ है। अन्तरंग आत्म-सत्ता विकसित करने रूप साध्य रुचि सहित बना हुआ प्रभु के तत्त्व-सम्पदा रूप का अवलोकन/दर्शन करे, वह शब्द नय से दर्शन कहलाता है।

६. समभिरूढ नय—सम्यक् प्रकार से अर्थ पर्याय, वचन पर्याय आदि भिन्न-भिन्न नाम लिग गुणादि से वस्तु के पर्याय पृथक्-पृथक् है, उनका सभी का ग्रहण इससे होता है। प्रभु के भी अनन्त गुण हैं। उनका उसी रूप मे स्मरण करता हुआ प्रभु के दर्शन करे, वह समभिरूढ नय से दर्शन है।

७ एवभूत नय—समस्त गुण पर्याय पारिणामिकता रूप परिणत, प्रकट रूप से सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है। श्री पद्मप्रभ

भगवान जो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, शुद्ध परमात्मा है, उनके उसी भाव का स्मरण करते दर्शन करना, एवभूत नय से दर्शन है।

इस प्रकार प्रभुजी के दर्शन करने वाला नियमा—निश्चय से स्व-सत्ता को प्रकट करता है। अतः प्रभु दर्शन निमित्त कारण रूप जानना चाहिए।

ऐसे ही सम्यक्त्व को भी सप्त नय से विचारना चाहिए और शब्द नय से जो शुद्ध श्रद्धा रूप है, वह सम्यक्त्व ससारी भव्य जीव की सत्ता मे प्रागभाव रूप से विद्यमान है और विकसित होता है।

बीजे वृक्ष अनन्तता रे लाल,
पसरे भूजल योग रे, वाल्हेसर।
तिम मुझ आतम सम्पदा रे लाल,
प्रकटे प्रभु संयोग रे, वाल्हेसर। तुझ० ।३।

अर्थ—अब कारण कार्य भाव बताते है। जैसे बीज मे अनन्त वृक्षरूप बनने की योग्यता है, किन्तु 'पसरे भूजल योग' अर्थात् पृथ्वी—उर्वरा भूमि मे बीज का वपन किया जाए, जल-सिञ्चन किया जाए, रक्षा की जाए, आसपास मे उगने वाले अन्य झाड-झखाड घासफूस उखाड दिये जाएँ, धूप लगने दी जाए, बर्फ—पाला पडने पर ढँक दिया जाए, तो फिर वह वृक्ष रूप बनता है। उससे हजारो और लाखो की सख्या मे बीज प्राप्त होते है। परम्परा से अनन्त वृक्ष हो जाते है। इसी प्रकार आत्म उपादान का धर्म भी निमित्त के बिना प्रकट नही होता। मेरी आत्म-सम्पदा यद्यपि सत्ता रूप से मुझ मे ही है, तथापि बिना प्रभुजी रूपी निमित्त मिले प्रकट नही हो सकी थी। वीतरागदेव का शुद्ध स्व-रूपी निमित्त मिलने पर आत्मा की ज्ञान-दर्शनादि सम्पत्तियाँ प्रकट होती है। श्री अरिहन्तदेव की पूजा सेवा भक्ति रूप आलम्बन लेने से और सर्व प्रकार की भक्ति से आत्मा मे सम्यक्त्व रूपी बीज के अकुर का स्फोट होता है, उस बीजाकुर की सिञ्चन क्रिया प्रभु-भक्ति रूप जल से करे। राग द्वेष कषाय आदि दुर्गुण रूप झाड-झखाड़ आदि को दूर करता रहे,

सर्व प्रकार से तत्त्व श्रद्धा की रक्षा करता हुआ, व्रत नियम तप त्याग की रक्षा-पंक्ति वनाकर रक्षित आत्मा एक समय अवश्य आत्मसम्पत्-केवलज्ञान केवलदर्शनादि रूप प्राप्त करता है और कर्मों से पूर्ण मुक्त होकर सिद्ध बन जाता है।

जगत जन्तु कारज रुचि रे लाल,
साधे उदये भाण रे, वाल्हेसर।
चिदानन्द सुविलासता रे लाल,
वाधे जिणवर झाण रे, वाल्हेसर। तुझ० ।४।

अर्थ—जिस प्रकार विश्व मे रहे हुए सभी ससारी जीव, चराचर प्राणी पशु पक्षी वृक्षादि एव मनुष्य, 'उदये भाण सूर्योदय होने पर ही आहार एव भोग सामग्री—भोग प्राप्ति के साधन स्वरूप धन-प्राप्ति की इच्छा से, रुचि से, कार्य—सेवा परिश्रमादि उद्यम मे प्रवृत होते है। यद्यपि रुचि तो सर्वदा वनी रहती है, पर प्रवृत्ति सूर्यादि का उद्योत होने पर ही होती है, सूर्योदय का निमित्त पाकर—प्रकाश होने रूप निमित्त पाकर ही सभी प्राणी कार्य करने लगते है। यह नियम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। उसी प्रकार मेरी आतमा मे चिद्—ज्ञान, आनन्द—अव्यावाध मुख, अथवा सकल ज्ञेय की ज्ञायकता रूप ज्ञान, जरा जन्म मरण सुख-दु ख राग-द्वेषादि से अतीत अव्यावाध सुख आनन्द की सुविलासता—शुद्ध आत्म स्वरूप का भोग यद्यपि आत्म-सत्ता मे स्वा-भाविक रूप से विद्यमान है, तथापि जव जिनेश्वर का वर—श्रेष्ठ धर्मध्यानादि रूप झाण—ध्यान सर्व दोषो से—अनुष्ठान दोष, एकान्त दोष तथा अर्थापत्ति दोष रहित ध्यान—चिन्तन करने पर ही आत्मानन्द प्रकट होता है। उपादान रूप मेरी आत्मा तो है, किन्तु हे प्रभो! आप सदृश वीतराग रूप निमित्त मिलने पर ही आत्मा मे अवस्थित ज्ञानादि गुणो का प्रकटीकरण होता है। अत आपके समान मेरा कोई उपकारी नही है। आपका दर्शन मुझे अत्यन्त वालहो—वल्लभ, प्रिय, इष्ट है। अनन्त काल से ससार मे भ्रमण करते हुए जीव को वीतराग का दर्शन मिलना अति दुर्लभ है। वह मिल जाय तो मेरा अनन्तानन्त काल

का दारिद्र्य दूर हो जाय और मै आत्मधन–ज्ञानादि से सम्पन्न हो जाऊँ। कल्याणमन्दिर नामक पार्श्वनाथ स्तोत्र के रचयिता कहते हैं—

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत् प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥३७॥

अर्थात् हे विभो ! मोहान्धकार-आवृत लोचनो (आँखो) से आज से पूर्व मैंने वास्तव में आपको एक बार भी नही देखा। अन्यथा वे मर्म को भेद देने वाली, बाँधने मे तत्पर ये अनर्थो की गतियाँ कैसे होती ? अर्थात् प्रभु का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। वह तो दर्शन के अभिलाषी जनो को ही इष्ट होता है, उन्हे ही इस दर्शन को सम्प्राप्ति होती है।

लब्धि सिद्धि मन्त्राक्षरे रे लाल,
उपजे साधक सग रे, वाल्हेसर।
सहज अध्यातम तत्त्वता रे लाल,
प्रकटे तत्त्वी रग रे। वाल्हेसर। तुझ० ।५।

अर्थ—पुन दृष्टान्त पूर्वक सिद्धि की प्राप्ति का मार्ग बतलाते है। जैसे आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकार की लब्धियो (शक्तियो) की सिद्धि, यद्यपि मन्त्राक्षरो मे है, किन्तु वे मन्त्राक्षर सुयोग्य उत्तर साधक मिलने पर ही सिद्ध होते है। वैसे ही सहज—स्वाभाविक अध्यात्म तत्त्वता—आध्यात्मिक सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनादि जो आत्मा मे तन्मय रूप से रही हुई है, स्याद्वाद रूप ज्ञान-दर्शनादि आत्मपरिणति रूप तत्त्वता यद्यपि वस्तु धर्म मे रही है, तथापि वह जब पूर्ण शुद्ध स्वरूप आत्मा सर्वथा घातिकर्मो के आवरण से मुक्त आत्मस्वरूपभोगी आत्मरमणी आत्माश्रयी असख्यात आत्मप्रदेश ज्ञानावरणादि कर्म चतुष्टय सश्लेप रहित ऐसे देवाधिदेव श्री अरिहन्त प्रभु के आलम्बन द्वारा उनके साथ एकरगता हो, एकत्वता हो तब निरावरण ज्ञानादि का प्रकटीकरण होता है।

लोह धातु काञ्चन हुवे रे लाल,
पारस फरसन पाम रे, वाल्हेसर।
प्रकटे अध्यातम दशा रे लाल,
व्यक्त गुणी गुण ग्राम रे, वाल्हेसर। तुझ० ।६।

अर्थ—अब द्वितीय दृष्टान्त से और स्पष्ट करते है। यद्यपि लोह धातु मे स्वर्ण बनने की सत्ता है; तथापि पारस पाषाण का स्पर्श पाकर ही स्वर्णत्व व्यक्त होता है अर्थात् स्वर्णरूप बन जाता है। तथैव भव्यात्मा मे भी शुद्धात्म दशा सत्तारूप से तो है ही, किन्तु व्यक्त तो कर्मावरण से रहित, गुणी—अरिहन्त देव के गुण-ग्राम का चिन्तन मनन स्मरण गायन करने पर ही भक्त आत्मा गुणानुयायी होकर सम्पूर्ण रूप से तन्मय हो जाय तभी सत्ता मे रहे हुये ज्ञानादि गुणो की अभिव्यक्ति हो पाती है, और तब आत्मा सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाती है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि निमित्त बिना ही सिद्धत्व की अभिव्यक्ति क्यो नहीं होती ? उत्तर है कि अनादि काल से पुद्गल—कर्मादि जड पदार्थो से सम्बद्ध रहा आत्मा उसी सम्बद्धता के निमित्त से अभिनव कर्मो का आस्रव-बन्ध करता रहता है। बन्ध के निमित्त मिथ्यात्व अविरति कषायादि जो पुद्गल कर्म रूप हैं उन्ही निमित्तो से नवीन कर्मो का बन्ध होता है। आत्मा जब इन मिथ्यात्वादि रूप निमित्तो का परित्याग करे तो मुक्त होता है। इन पुद्गल कर्म रूप निमित्तो का त्याग श्री वीतराग अर्हन् शुद्धात्मा का आलम्बन लिए बिना होता नही, अत श्री वीतराग देवाधिदेव का अवलम्बन लेने पर ही आत्म-सत्ता मे रहे हुये ज्ञानादि गुण प्रकट होते है।

आत्म सिद्धि कारण भणी रे लाल,
सहज नियामक हेतु रे, वाल्हेसर।
नामादिक जिनराज ना रे लाल,
भवसागर महासेतु रे, वाल्हेसर। तुझ० ।७।

अर्थ—पूर्व गाथाओ मे कहे गए उपादान व निमित्त का संयोग होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है। अत आत्मसिद्धि–आत्मा को शुद्ध पवित्र बनाने का कार्य होने के लिए, सहज–स्वाभाविक नियामक–निर्द्धार हेतु–कारण श्री वीतरागदेव की सम्प्राप्ति होने पर ही निश्चय से भव्य जीव को मोक्षरूप कार्य की सिद्धि हो। यह निर्द्धार–निश्चय हुआ। नामादिक–नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव-चार निक्षेप हैं, श्री जिनेश्वर देव के नामादि–नाम व गुण का उच्चारण श्रवण स्मरण चिन्तन ध्यान करने पर अनेक जीव नाम-गुणादि के आलम्वन से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि प्राप्त करके सिद्ध हो गए। तथा स्थापना रूप जिनेन्द्र भगवान की आकृति–मुख, पद्मासन, नासाग्रदृष्टि, प्रशान्त मुख, समता का साक्षात् मूर्त्त रूप, विपयविकार वर्जित अतिशय रूप सम्पन्न प्रतिमा का अवलोकन कर मनो वाक् काय योग स्वत. स्तम्भित, स्थिर व तन्मय हो जाते है। गुणी–रत्नत्रय गुण सम्पन्न भगवान् वीतराग का अवलम्वन लेकर स्वगुणो को अभिव्यक्त करते हुए अनेक जीव स्व-स्वरूप स्थित हो गए है। ऐसे ही द्रव्य निक्षेप–श्री तीर्थ कर अर्हन् देव का पूर्व भव, जन्म एव गृहस्थावस्था से आरम्भ कर छद्मस्थ दशा, केवलज्ञान प्राप्त्यनन्तर देवागमन, देवकृत अद्भुत समवसरण रचना, अष्ट महा प्रातिहार्य, चतुर्दिक–पूर्वाभिमुख स्वय तीर्थ कर एव दक्षिरण पश्चिम उत्तराभिमुख देवकृत प्रतिविम्बो के दर्शन, भगवान का सदुपदेश, पैंतीस गुणातिशय युक्त वाणी श्रवण कर अद्भुत दृश्य से प्रभावित अनेक भव्य-जन गुणावलम्वी होकर स्वसम्पदा–अनन्त ज्ञानादिक का वरण कर सिद्धावस्था सम्प्राप्त करते है तथा श्री अरिहन्त देव का भाव-निक्षेप-अरिहन्त के ज्ञानादि गुण और अनन्त गुणो के पर्याय–अगुरुलघुतादि गुणो की अनन्त परिणति का भासन, श्रद्धान और रमण अर्थात् अनन्त शक्तियो का विचार करते अनन्त जीव मोक्ष रूपी लक्ष्मी का वरण कर चुके है, कर रहे है और भविष्य मे भी करेगे। अत अरिहन्त श्री तीर्थ कर देव के चारो ही निक्षेप भव रूप महासागर मे सेतु/पुल पार होने के साधन स्वरूप है, अथवा बडे वन्दरगाह जैसे है, जहाँ से यात्री मोक्ष जाने वाले सयम रूपी महायान मे वैठ कर स्व के इष्ट स्थान सिद्ध-शिला पर जाते है। अतएव प्रभु के नामादि चार निक्षेपो का अव-लम्वन लेकर आत्मसिद्धि करनी चाहिए।

स्तम्भन इन्द्रिय योग नो रे लाल
रक्त वर्ण गुणराय रे । वाल्हेसर ।
देवचन्द्र वृन्दे स्तव्यो रे लाल,
आप अवर्ण अकाय रे । वाल्हेसर । तुझ० ।८।

अर्थ—तीर्थंकर भगवान् श्री पद्मप्रभ देव का परमौदारिक शरीर रक्तवर्णी है। वह आत्मधर्म-साधक भव्य जीव के लिए स्तम्भन कार्य करने वाला है। विद्या-साधक को यदि स्तम्भन कार्य करना हो तो वह रक्त वर्ण के सभी साधनो का उपयोग करता है। आसन, जपमाला, पूजा सामग्री आदि सभी रक्त वर्ण के लेता है; जिससे उसे सिद्धि मिलती है। ऐसे आत्म-साधक स्वरूप-प्राप्ति के आकाक्षी भव्य जीव के लिये भी रक्त वर्ण वाले श्री पद्मप्रभ भगवान् का अवलम्बन सभी इन्द्रियो–श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इन्द्रियो को बाह्य विषयो से विमुख कर देता है और उन्हे योग–मन वचन काया की प्रवृत्ति को भी सब पौद्गलिक भावो से हटा कर स्वभाव के अभिमुख कर देता है। अर्थात् भव्य जीव प्रभु के वर्ण अवलम्बन से अपनी इन्द्रियो–मनादि को स्तम्भित कर लेता है। अथवा रक्त वर्ण के प्रभाव से वे इन्द्रियाँ और मन स्वय स्तम्भित हो जाते है। 'देवचन्द्र वृन्दे' देव अनेक प्रकार के है–मनुष्यो के देव राजा, चक्रवर्ती नरदेव, पृथ्वी का पति–नृप, भूदेव–विप्र, अर्हन्तो मे देव श्री तीर्थंकर भगवान्, धर्म देव–आचार्य (गणधरादि) चतुर्विध सघ के सञ्चालक, भाव देव–भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव और इनके अपने-अपने अधिपति, सुरदेव–इन्द्र इन सर्व के 'वृन्दे' समूह के द्वारा, 'स्तव्यो' उनके द्वारा स्तुत हुये भगवान् श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र है, जो अब सिद्धावस्था मे अवर्ण अगन्ध, रसरहित, स्पर्श विहीन है, क्योकि ये वर्णादि तो पुद्गल-जड पदार्थो के शरीरादि के होते है और भगवान् तो शरीररहित हो गये हैं। द्रव्य कर्म–ज्ञानावरणादि, भाव कर्म–राग-द्वेषादि, नो कर्म–शरीर, इन सर्व कर्म पुद्गलो से मुक्त हैं, पुद्गलातीत हैं। वे ही मेरे परम

वल्लभ प्रियतम है, मेरे आधार है, परम शरण है। ऐसे गुण निधान श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र के निमित्त द्वारा मेरा कार्य—आत्म-स्वरूप की प्राप्ति अवश्य सिद्ध होगी।

□

७. श्री सुपार्श्व जिनेन्द्र स्तवन

अब श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु के सहज-स्वाभाविक धर्म रूप तात्त्विक सम्पदा–ज्ञानादि अनन्त गुणों की स्तवना करते हैं। जगत् के जीव पुद्गलानन्दी है अर्थात् भौतिक भोगोपभोग के साधनो की प्राप्ति के उपाय और मिले हुए भोगों का भोग करने तथा नवीन भोग सामग्री पाने मे आनन्द की अनुभूति करते है, किन्तु ये सारे भौतिक-पुद्गल सयोगजन्य सुख और दु ख आत्म-सुख नही है; क्योकि वे सर्व विभाव है और आत्मा का सहज सुख तो स्वात्मरमणता है, ऐसा आगम-शास्त्र वचन है, वही यहाँ बतलाते है। आत्मा के अनन्त गुण है, उन गुणो का पृथक्-पृथक् स्वभाव और सुख है। 'एक अव्याबाध सुख रूप गुण आत्म-धर्म सब से पृथक् है' ऐसी व्याख्या है। 'आत्मा के ज्ञान दर्शन रूप गुण, ये मूल गुण है और वीर्यादि सर्व उन गुणों की प्रवृत्ति रूप धर्म हैं, स्वभाव हैं' एक ऐसी भी व्याख्या है। और, १. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४ दान ५ लाभ ६. भोग ७. उपभोग इत्यादि अनन्त गुण आत्मा मे है। विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है—

क्षायिकसम्यक्त्व - केवलज्ञान - केवलदर्शन - सिद्धत्वादि पुनः सिद्धावस्थायामपि भवन्ति। अन्ये तु दानादि लब्धिपञ्चकं चारित्रं सिद्धस्यापीच्छन्ति तदावरणस्य तत्राप्यभावात्। आवरणाऽभावे पि च तदसत्त्वे क्षीणमोहादिष्वपि तदसत्त्वप्रसंगात्, ततस्तन्मते चारित्रादीनां सिद्धावस्थायामपि सद्भावः, पुनस्तत्त्वार्थे पुनरप्यादि ग्रहणं कुर्वन् ज्ञापयति।

अत्रानन्तधर्मात्मकतयाऽशक्याः प्रस्तारयितुं, सर्वे धर्माः प्रतिपदं प्रवचनज्ञेन तु पुंसा यथा सम्भवमायोजनीया, क्रियावत्त्वं पर्यायोप-

योगिता प्रदेशाष्टकनिश्चलता एवं प्रकाराः सन्ति भूयांसः। अपि समुच्चये एवं प्रकारा अनादिपारिणामिका भवन्ति जीवस्य भावाः।

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, केवल दर्शन, सिद्धत्वादि धर्म तो पुन. सिद्धावस्था मे भी होते है। अन्य आचार्य तो दानादि लब्धि-पचक—दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य तथा चारित्र सिद्धो के भी होता है, ऐसा उन्हे इष्ट है। क्योकि, इन गुणो पर आवरण का वहाँ भी सर्वथा अभाव है। अन्यथा आवरण के अभाव मे इन गुणो का न होना क्षीण मोहदि गुण-स्थानो मे भी इनके असत्त्व का प्रसग उपस्थित हो जायगा। इस कारण उनके मत मे चारित्रादि का सिद्धावस्था मे भी सद्भाव है। पुन **तत्त्वार्थाधिगम सूत्र** मे भी पुनरपि आदि ग्रहण करते हुए ज्ञापित किया है, बताया है। यहाँ अनन्त धर्मात्मक रूप से सभी धर्मो को विस्तृत रूप से बतलाना अशक्य है। प्रवचन/शास्त्र जानने वाले महानुभाव यथासम्भव इनका-आयोजन करे कि क्रियावत्त्व, पर्यायोपयोगिता, अष्ट रुचक प्रदेशो की निश्चलता, निरावरणता आदि बहुत से गुण इस प्रकार के है। इस प्रकार के अनादि पारिणामिक भाव जीव के होते है। इनमे जीव के पृथक्-पृथक् अनन्त धर्म कहे है और **प्रमाणनयतत्त्वालोक** की **रत्नाकरावतारिका** नामक टीका मे भी ऐसा ही उल्लेख है। वह सप्त भगी के अधिकार मे है। उसी ग्रन्थ की **स्याद्वादरत्नाकर** नामक **वृहट्टीका** मे भी ऐसा ही कहा है—

"एकत्रवस्तुन्येकैकधर्मपर्यायानुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोग. सप्तभंगीति। नन्वेकस्मिन् जीवादिवस्तुन्यनन्तविधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्माः स्याद्वादीनां भवेयुः। वाच्येयता यत्तत्त्वाद् वाचकेयतायास्ततो विरुद्धैव सप्तभंगीति ब्रुवाणं निरस्यति। एकत्रवस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्माऽभ्युपगमेनानन्तभंगी प्रशान्त्वेव सप्तभगीति चेतसि न निधेयमिति। अत्र हेतुमाह—विधि - निषेध-प्रकारापेक्षया प्रति-पर्याये वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभंगीनामेव सम्भवादिति। तथाप्येकैकपर्यायमाश्रित्यविधिनिषेधविकल्पाभ्यां व्यस्त-समस्ताभ्यां सप्तैव भङ्ग्यः सम्भवन्ति न पुनरनन्तारतत्कथमनन्तसप्त-

भंगो प्रसंगादि संगतत्वं सप्तभंग्याः समुद्भाव्यते ? कुतस्तथैव भंगाः सम्भवतीत्यत्राहुः। प्रतिपर्याय प्रतिपद्य तु पर्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवादिति, अनन्तधर्मापेक्षया सप्तभंगीनामानन्त्यं यदा यान्ति तदभिमतमेव।

एक ही वस्तु मे एक-एक धर्म और पर्याय की व्याख्या मे बिना विरोध के व्यस्तरूप–विकीर्ण रूप मे और समस्त रूप मे तथा विधि निषेध रूप मे स्यात्कार से लक्षित सात प्रकार के वाक् प्रयोग से सप्तभगी हो जाती है। यहाँ शका करने वाला कहता है कि स्याद्-वाद दर्शन की मान्यता वालों के मत मे एक ही जीवादि वस्तु मे विधीयमान निषिध्यमान अनन्त धर्म होते हो, परन्तु कथन की अपेक्षा 'अनन्त धर्मो को कहने के लिये सप्तभगी ही है' ऐसा मानना उनके कथन मे ही विरुद्ध है। उत्तर–किन्तु ऐसा नही है कि एक ही वस्तु मे विधीयमान और निषिध्यमान अनन्त धर्म स्वीकार करने पर अनन्त भगी होगी, सप्त भंगी ही नही रहेगी, ऐसा चित्त में सन्देह नही करना चाहिये। इस विषय मे हेतु कहते हैं–विधि-निषेध प्रकार की अपेक्षा से वस्तु के प्रति पर्याय मे अनन्त सप्त भगी ही होना सम्भव है। तथापि एक-एक पर्याय को लेकर विधिनिषेध विकल्पो से और व्यस्तता समस्तता से सप्तभगी हो सकती है न कि अनन्त भगी। अनन्त भगी कैसे हो सकती है ? और, पुन प्रश्न–जब अनन्त भगी का सगतत्व ठीक है फिर सप्तभगी की उद्भावना क्यो करते हैं ? वहाँ सात ही भगी कैसे हो सकती है ? क्योकि वस्तु के धर्म अनन्त है, ऐसा आप ही कहते है। उत्तर है कि अनन्त धर्मों की अपेक्षा से अनन्त सप्त भगी हमे अभिप्रेत ही है, भले अनन्त सप्त भगी हो। इस कारण वस्तु मे अनन्त धर्म है। कोई कहे कि वस्तु मे धर्म और गुण पृथक्-पृथक् है, वे अनभिज्ञ है, क्योकि नाम-भेद और अ श-भेदत्व तो शब्दादि सभी नय सम्मत है अर्थात् मान्य हैं। घट कुम्भादि मे एक वस्तु के स्वपर्यायवाची शब्दो मे नामभेद से भेद है ही। इस रीति से गुण शब्द और धर्म शब्द मे नामभेद है, किन्तु विशेष रीति से गुण और धर्म ये दोनो एक ही है।

श्री **विशेषावश्यक** मे कहा है—

"जह सो विसेस धम्मो चेयरण तह मया किरिया" । जैसे वह विशेष धर्म चेतना है, वैसे ही जीव की सारी क्रिया चेतनामय है। यहाँ चेतना गुरण को धर्म शब्द से अभिहित किया है। पुनः भाष्य में कहा है–**"ननु गुरणस्वभावयोरभेद एव तद्भेदनिबन्धनधर्मभेदाभावात्"** गुरण और स्वभाव का तो अभेद ही है, क्योकि दोनो मे धर्म भेद का कोई कारण नही है, उसका अभाव है। कहा भी है—

"हवे भेद गुरण ना भाखीजे, तिहाँ आस्तिकता लहिये री" ।

यह पाठ **द्रव्य गुरण पर्याय रास** मे है। इस प्रकार महोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज ने भी आस्तिकता धर्म को गुण नाम से अभिहित किया है तथा आगम-सिद्धान्त मे भी उपयोगादि एवं अव्याबाध अवन्ने आदि अनेक गुणो का कथन है तथा श्री **तत्त्वार्थाधिगम सूत्र** मे मुक्त आत्मा **"निष्क्रियस्तथा क्षायिकसम्यक्त्व-वीर्यसिद्धत्व-दर्शन-ज्ञानैरात्यन्तिकैः संयुक्तो निर्द्वन्द्वेनापि सुखेन तथाऽस्तिकायत्व-गुरणवत्त्वानादित्वाऽसंख्येयप्रदेशत्व-नित्यत्वादयः सन्त्येव जीवस्य ।"** सिद्धावस्था प्राप्त मुक्त आत्मा निष्क्रिय होता है तथा क्षायिक सम्यक्त्व, वीर्य, सिद्धत्व, दर्शन ज्ञान से अत्यन्त सयुक्त, निर्द्वन्द्व सुख से युक्त तथा अस्तिकायत्व, गुरणवत्त्व, अनादित्व, असख्य प्रदेशत्व, नित्यत्वादि जीव के हैं ही।

यद्यपि श्री **भगवती सूत्र** में सिद्ध भगवन्त को अवीर्यी तथा तथा अचारित्री हैं, ऐसा कहा है। तदपि वहाँ करण रूप चल वीर्य अर्थात् मन वचन काय की शक्ति रूप वीर्य वहाँ नही है, न इन तीन योग से करना, कराना और अनुमोदन रूप करण है। उसे ही श्री **अनुयोगद्वार सूत्र** मे क्षायिक लब्धि के अधिकार मे तथा **प्रज्ञापना सूत्र** मे 'वीर्य जीव का लक्षरण है' ऐसा कहा है तथा चारित्र प्रवृत्ति रूप मे नही, किन्तु स्थिरता रूप मे है, वहाँ से देखिये । **वसुदेव हिण्डी** और **श्रीपाल चरित्र** मे भी सिद्ध स्तुति के अधिकार में कहा है :—

"जे रणंत गुरणा दुगुरणा इगतीस गुरणा य अहव अट्ठ गुरणा ।
सिद्धा रणंत चउक्का ते सिद्धा दिंतु मे सिद्धिं ॥ ॥

अर्थ—जो सिद्ध अनन्त गुण वाले, दो गुण वाले, इकत्तीस गुण वाले अथवा अष्ट गुण वाले और अनन्त चतुष्क वाले है, वे मुझे सिद्धि प्रदान करें तथा **बृहत्कल्प भाष्य** मे भी कहा है—

"दव्वेरण जीव दव्वं संखातीतपदे समो गाढं ।
काले अरणाइरिणहरणे भावेरणाराणाइयारणंता ।।"

अर्थ—द्रव्य से जीव द्रव्य अनन्त हैं, क्षेत्र से असख्य प्रदेशो के स्थान में अवगाहना करके रहे हुए है, काल से अनादि अनन्त है और भाव से अनादि अनन्त अरूपी हैं।

इसी प्रकार **द्रव्यार्णव** तथा **आप्तमीमांसादि** अनेक ग्रन्थो मे कहा है। अतः जब आत्मा की भेद व्याख्या करे तब अनन्त जीव है, एक-एक जीव के अनन्त गुण है, एक-एक गुण मे अनन्त अविभाग है, एक-एक अविभाग में अनन्त पर्याय हैं। **कम्मपयड़ी** प्रकरण मे भी ऐसी ही व्याख्या दृष्टिगोचर होती है और श्री **भगवती सूत्र टीका** मे भी यही अविभाग तथा पर्यायो का एकत्व बताया है। सक्षिप्त व्याख्या मे दोनो गुण-पर्याय को पर्यायास्तिक नय कहा है। इस प्रकार के विचार-मति-विभ्रम का परित्याग करके श्रद्धावान बनना चाहिये। इसी कारण श्री सप्तम भगवान् श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु की स्तवना मे श्री अरिहन्त देव का परिचय कराने के लिए गुणो की पृथक्ता से व्याख्या करके उनकी पृथक्ता का ज्ञान कराने को और स्व आत्मसत्ता की रुचि उत्पन्न करने के लिये गुणो का पृथक् धर्म कहते हुए स्तवना करते है—

(राग—हो सुन्दर तप सरिखु जग को नही)

श्री सुपास आनन्द मे,
गुण अनन्त नो कन्द हो, जिनजी।
ज्ञानानन्दे पूरणो,
पवित्र चारित्रानन्द हो, जिनजी।श्री सु०।१।

श्री सुपार्श्वनाथ भगवान तो आनन्दमय हैं। शुद्ध आनन्द इन मे है, क्योकि इन के आनन्द मे किसी प्रकार का मल या दोष नही,

अपितु स्वरूप का सुख है, परवस्तु की अन्य द्रव्य के संयोग की आवश्यकता नही। वे भगवान अनन्त गुण के कन्द है–मूल हैं। गुण सहभावी होते है। कहा भी है–'सहभावी गुणा' अथवा 'द्रव्याश्रया गुणाः' अर्थात् गुण द्रव्य का आश्रय लेकर रहते हैं। वे गुण उसी द्रव्य के है, अन्य द्रव्य के नही। गुणों मे पर्याय है, क्योकि **कल्पभाष्य** मे कहा है–**'सव्वे सपज्जवा गुणा'** अर्थात् सर्व गुण पर्याय सहित है। **आवश्यक निर्युक्ति** का वचन है–**'अपज्जवे जाणणा नत्थिः** पर्याय रहित गुण मे ज्ञान नही है। अत. गुण मे पर्याय है, किन्तु गुण मे अन्य गुण नही है। **श्री नयचक्र प्रकरण** मे कहा है कि यदि गुण मे अन्य गुण हो तो गुण द्रव्यत्व प्राप्त कर ले; अत गुण निर्गुण है। सुपार्श्वनाथ भगवान एक जीव द्रव्य है,वे अनन्त गुणो के कन्द हैं अर्थात् अनन्त गुण युक्त है। जैसे कन्द–वनस्पति काय का कन्द–मूली आदि अनन्त जीवो का कंद है, भगवान् भी अनन्त गुणों से युक्त है। उनमे ज्ञान जो आत्मा का गुण है, वह विशेष अवबोध स्वरूप है। सकल पदार्थों के विशेष धर्म गुण पर्याय और उनकी अनन्त परिणति के ज्ञायक होने से नित्यानित्यादि अनन्त धर्मों का ज्ञायकत्व, वेतृत्व, अगुरुलघुत्व, अनन्त पर्यायो का पिण्ड, ऐसा ज्ञान गुण है; यह लोकालोक सकल प्रत्यक्ष रूप है, सर्व प्रदेश निरावरण रूप उसके आनन्द से पूर्णपावन-पवित्र है तथा कषाय–क्रोधादि, नोकषाय–हास्यादि नव से रहित और पुद्गल जड़ पदार्थ के भोग तथा प्राप्ति की आशा से रहित, निर्दोष स्वरूप स्थिरता रूप चारित्र, अनन्त पर्यायात्मक अकषायता,अवेदता–स्त्री पुं नपुंसक वेद रहितता,असगता, परम क्षमा, परम मार्दव, परम निर्लोभता रूप, स्वरूप एकत्व रूप, हे सुपार्श्व प्रभो! ऐसा चारित्र आपमे है अर्थात् आप चारित्रानन्दमयी है; अत. आप पवित्र एवं निर्मल हैं।

संरक्षण विन नाथ छो,
द्रव्य विना धनवन्त हो, जिनजी।
कर्ता पद किरिया विना,
सन्त अजेय अनन्त हो, जिनजी। श्री सु० ॥२॥

अर्थ—पुन हे प्रभो ! आप 'सरक्षण बिन' किसी की शस्त्रादि वारण कर रक्षा नही करते तथापि नाथ है, रक्षक है अर्थात् किसी अन्य जीव की या धन-सम्पत्ति, स्वजन-परिजन, राष्ट्र, देश, नगर, ग्राम, आराम, क्षेत्र, राज्य आदि का सरक्षण कर चक्रवर्ती, नृपति, सेनापति, गृहपति या सामान्य द्वारपालादि का कार्य नही करते हैं। तथापि सर्व के त्राता शरणदाता और आधार-आश्रयदाता है। सर्व भव्य जीवो की मुक्ति के हेतु हैं और द्रव्य—बाह्य परिग्रह धन-वैभव, गज, अश्व, रथ, प्रासाद, हर्म्य, स्वजन, परिजन, वस्त्र, अलकार, दास-दासी आदि सर्व प्रकार के धन से रहित होने पर भी आप स्वसम्पत्ति-ज्ञानादि स्वगुण पर्याय रूप अनन्त धन आपके पास है, अत. आप धनवन्त हैं। पुन हे भगवन् ! कर्त्तापद भी आप मे है। तन द्वारा गमनागमन, भोजनपान, आरोहण-अवरोहण, मन द्वारा होने वाले चिन्तन ध्यान मनन सङ्कल्प विकल्प आदि एव वचन द्वारा की जाने वाली भाषण सम्भाषण प्रवचन गायन आदि किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति का अभाव होने पर भी स्वभाव स्वरूप स्वगुणो का कर्त्तृत्व तो आप मे है ही। 'मुक्त आत्मा निष्क्रिय होते है' ऐसा **तत्त्वार्थ सूत्र** मे कहा है। हे पुन स्वामिन् ! आप सन्त—उत्तम है, अजेय अर्थात् आपको कोई जीत नही सकता, पराभव नही कर सकता। राग द्वेषादि शत्रु और उपसर्ग परिषह आदि पर आपने विजय प्राप्त की है, वे ही पराभूत हुये, आप तो सदैव अजेय ही रहे। पुन आप अनन्त हैं। सिद्धावस्था का कभी अन्त होता नही। और अनन्त गुण पर्याय वाले है अत आप अनन्त हैं।

अगम अगोचर अमर तू,
अन्वय ऋद्धि समूह हो जिनजी।
वर्ण गन्ध रस स्पर्श विन,
निज भोक्ता गुण व्यूह हो जिनजी। श्री सु० ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपका स्वरूप सामान्य ज्ञानी नही जान सकते। सामान्य मतिश्रुतादि ज्ञान के द्वारा आप गम्य—जानने योग्य नही हैं, न विशेष ज्ञानी—श्रुतकेवली अवधिज्ञानी आदि के गम्य—जानने योग्य

है। अगोचर इन्द्रियो द्वारा भी गोचर नही है, अर्थात् देखे नही जा सकते। अमर हैं, अर्थात् मरते नही, क्योकि आयु कर्म का क्षय ही मृत्यु है, आप तो सर्व कर्मो से पूर्ण मुक्त है। प्राणो का वियोग मरण है, आप सर्व द्रव्य प्राणों से रहित है। हे भगवन् ! आप अन्वय अर्थात् आत्मा के सहज स्वाभाविक ज्ञायकादि गुण और उनकी प्रवृत्ति-ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्यादि अन्वयी गुण है, उसी ऋद्धि सम्पदा के समूह है और कषायादि दोषो के हट जाने से अकषायादि गुण उत्पन्न हुये, वे व्यतिरेक गुण है। ऐसा होने पर भी, उनका सद्भाव होने पर भी जो गुण प्राप्त होते हैं, वे अन्वयी गुण हैं, उनके आप समूह है अर्थात् सर्वगुण रूप है। पुन वर्ण गन्व रस स्पर्श ये पुद्‌गल के धर्म-स्वभाव है, उससे रहित है। फिर भी निज-स्वय का स्वरूप-ज्ञान-दर्शनादिमय स्वरूप उसके भोक्ता है। आप तो गुणो के व्यूह रचना विशेष है। गुण रूप ही आत्मा है।

अक्षय दान अचिन्तना,
लाभ अयत्ने भोग हो जिनजी।
वीर्य शक्ति अप्रयासता,
शुद्ध स्वगुण उपभोग हो जिनजी ।श्रीसु०॥४॥

अर्थ—पुन. हे विभो ! आपके अनन्त गुणो की प्रवृत्ति किस रीति से होती है ? उसे ही बताते हैं। आपका वीर्य-शक्ति गुण वह अन्य गुणों को सहकार/सहायता देता है। वैसे ही ज्ञान गुण के उपयोग विना वीर्य का स्फुरण नही होता, अत वीर्य गुण को भी ज्ञान की सहायता है। ज्ञान मे रमण चारित्र गुण की सहायता से होता है। पर मे रमण न होना चारित्र को ज्ञान की सहायता है। इस प्रकार एक गुण को अनन्त गुणो की सहायता है। सभी गुण परस्पर सहायक है। यह सहाय गुण ही आत्मा का दान गुण है। अत. हे प्रभो ! इस प्रकार आप प्रति समय अनन्त स्वगुण सहाय रूप अनन्त दान देते है, तब भी आप अक्षय रहते हैं। अन्य दानदाता तो किञ्चित् समयानन्तर क्षय या सर्वथा नष्ट हो जाते है अर्थात् यम के अतिथि बन जाते है या उनका

घन घट जाता है, परन्तु आप तो सादि अनन्त काल पर्यन्त स्वाधीन रूप से स्वगुण रूप पात्र को अनन्त दान अक्षय रूप से देते रहते है; फिर भी आपकी गुण सम्पत्ति कभी क्षीण नही होती, अत आप अक्षय रहते हुए दान देते रहते है। और, जो गुण की पारस्परिक सहायता रूप शक्ति (वीर्य) का लाभ होता रहता है, वह भी निरन्तर होता है। अन्य प्राणियो को जो लाभ होता है, उसका निश्चय नही कि सदा होता ही रहेगा। किन्तु, आपके तो न चाहते हुए भी अनन्त लाभ होता ही रहता है, अर्थात् आपको कभी ऐसा मनोविकल्प होता नही कि मुझे कुछ लाभ हो; क्योंकि आप अयोगी–मनो वाक् काय मुक्त है। अतः अचिन्त्य लाभ के स्वामी है। ऐसा आपका लाभ गुण है। पुन हे नाथ! आप स्वय के गुण-पर्याय के भोक्ता हैं। विना प्रयत्न के ही प्रतिसमय गुणो का भोग होता रहता है तथा उपभोग भी होता रहता है। आत्मा के सर्व गुणो की प्रवृत्ति का सहायक वीर्य (शक्ति) वह अनन्य सहाय अनन्त प्रतिक्षण स्फुरित होता रहता है। किन्तु, उस वीर्य की स्फुरणा विना प्रयास ही होती रहती है तथा शुद्ध स्वगुण–स्वाभाविक दोषरहित निर्मल स्वगुण ज्ञानादि का आप उपभोग करते रहते हैं।

इस प्रकार अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से ये पाँच गुण प्रकट हो गये हैं—दान–स्वरूप का दान, स्वरूप स्वगुणो का लाभ, स्वपर्याय का भोग, स्वगुणो का उपभोग, सर्व स्वपरिणति सहकार शक्ति (वीर्य) इस प्रकार से प्रकट हो गये हैं।

एकान्तिक आत्यन्तिको,
सहज अकृत स्वाधीन हो जिनजी।
निरुपचरित निर्द्वन्द्व सुख,
अन्य अहेतुक पीन हो जिनजी। श्रीसु०॥५॥

अर्थ—पुन हे भगवन्! आपके जो सुख आविर्भूत हुआ है वह एकान्तिक सुख है। दुःख रूप मे कदापि परिवर्तित नही होगा।

वह सुख आत्यन्तिक है, उससे अधिक अन्य सुख नही है अर्थात् सर्वाधिक है। वह भी सहज–स्वाभाविक, अकृत–विना किया हुआ, किसी का किया हुआ नही, कृत्रिम नही, स्वाभाविक है। स्वाधीन–अर्थात् स्वय के ही आधीन है, परवश नही। वह सुख निरुपचरित–उपचार से होने वाला नही है। 'असत् मे सत् का आरोप उपचार कहलाता है।' वह आपके स्वाभाविक सुख मे है ही नही। ससार मे सातावेदनीय का सुख, औपचारिक सुख है। उस सुख को ज्ञानीजन सुख नही कहते। जो भवाभिनन्दी, मोहमूढ, परमार्थ से अनभिज्ञ, विषय गृद्ध वना हुआ प्राणी है, वह इन्द्रिय देह-जनित सुख को सुख मानता है। वह स्वाभाविक सुख नही।

कहा है **विशेषावश्यक भाष्य मे**—

"विसयसुहं दुक्खं चिय दुक्खपडियारओो तिगच्छं व्व।
तं सुहमुवयाराओ न योवयारो विणा तच्च ॥२००६॥"

अर्थ—विषय-भोग-जन्य सुख दु ख रूप ही है। कष्ट पीडा का प्रतिकार करने वाली चिकित्सा के समान है। वह औपचारिक–अन्य सयोग से होने वाला सुख है, अन्य सयोग के विना वह नही होता। और, जहॉ सयोग है वहॉ वियोग अनिवार्य है तथा वियोग-जन्य दु.ख भी अवश्यम्भावी है ही।

तथा साता का उदय भी स्व-आत्म धर्म का अवरोधक है और कर्म के विपाक रूप है, अत सुख नही।

"सायासायं दुक्खं तव्विरहंमि य जओ सुहं तेणं।
देहिंदिएसु दुक्खं सोक्ख देहेंदियाऽभावे ॥२०११॥"

साता असाता दु ख है। उनके विरह मे जो सुख है, वही यथोक्त वास्तविक सुख है। देह व इन्द्रियो मे जो सुखानुभव है या दु खानुभूति है, वह शरीर व इन्द्रियो का भाव है।

इस प्रकार औदयिक सुख वह सुख है ही नही। और, जो सिद्धो का निरुपम अनन्त आत्म-स्वभाव प्राग्भाव भोक्ता रूप से भोगा जाता

है, वही वास्तविक सुख है। पुन. निर्द्वन्द्व है अर्थात् जिसमे किसी भी जीव या अजीव का सयोग नही, परवस्तु का मिश्रण नही, कदापि परवस्तु का कारण पाकर उत्पन्न नही हुआ। अतएव कहा है कि वह सुख अहेतुक है, पीन अर्थात् पुष्ट है, प्रवल है। अत श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् का आत्मिक सुख महानन्द स्वरूप है।

एक प्रदेशे ताहरे,
अव्याबाध समाय हो जिनजी।
तसु पर्याय अविभागता,
सर्वाकाश न माय हो जिनजी। श्री सु० ॥६॥

अर्थ—पुन हे जिनेन्द्र देव! आपके आत्मा के एक प्रदेश मे अनन्त गुण एव अनन्त पर्याय है। अत आपके एक प्रदेश मे जो अव्याबाध गुण समाया हुआ, रहा हुआ है, वह अनन्त है। उस अव्याबाध सुख के अनन्त पर्याय है, उनकी अविभागता है, केवलज्ञानियो की प्रज्ञा मे भी जिसके एक खण्ड/विभाग के दोखण्ड/दो विभाग नही होते, उसको अविभाग कहते है। वह अविभाग सुख लोकाकाश और अलोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे रखा जाय तब भी सर्वाकाश मे उसका समावेश नही हो सकता अर्थात् सर्वाकाश प्रदेशो से भी आपके एक प्रदेश मे रहा हुआ अव्याबाध सुख उसका अविभाग अनन्त गुणा है, क्योकि कहा है—

"खित्ताओ भाव धम्मा अनतगुणा।"

अर्थ—क्षेत्र से भाव धर्म अनन्त गुणा है।

एम अनन्त गुण नो धणी
गुण गुण नो आनंद हो जिनजी।
भोग रमण आस्वाद युत
प्रभु तू परमानन्द हो जिनजी। श्री सु० ॥७॥

अर्थ—इस रीति से आप अनन्त गुणो के धणी-मालिक स्वामी हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, अव्यावाध, अमूर्तता, अगुरु लघुत्व, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पारिणामिकता, अचल, अविनाशी, अनन्त, अज, अनाश्रयी, अशरीरी, अनाहारी, अयोगी, अलेशी, अवेदी, अकषायी, असख्य प्रदेशी, अक्रिय, शुद्धसत्ता प्राग्भाव रूप, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्, भेद-अभेद, भव्यत्व, सामान्य-विशेष इत्यादि अनन्त गुणो के स्वामी है। उन गुणो का पृथक्-पृथक् आनन्द है। यहाँ दृष्टान्त से समझाते है कि जैसे ससारी गृहस्थ जीवन मे धन का सुख भिन्न है। रूप का सुख भिन्न है। भ्राता, पत्नी, पुत्रादि का सुख भिन्न है। भोजन-पान वसन अलकारादि का सुख भिन्न है। रूप-दर्शन, ज्ञानादि के श्रवण, सुरभिगन्ध, अनुकूल स्पर्शनादि का सुख, सुन्दर सुविधाजनक निवासस्थान, वाहनादि का सभी प्रकार का सुख भिन्न-भिन्न रूप मे अनुभव होता है। वैसे ही सिद्ध भगवान् की आत्मा को भी प्रत्येक स्वगुणो का अनुभव भिन्न-भिन्न आनन्द के रूप मे है, अत: उनको अनन्त गुणो का आनन्द भी अनन्त रीति से होता है। इतने सर्वगुणो का जैसा आनन्द है वैसा ही उन गुणो के भोग भी है, क्योकि भोगे विना आनन्द नही आता। अनन्त गुणो का भोग का आनन्द भी अनन्त है। सर्व गुणो मे रमण भी अनन्त है वैसे ही सर्व का आस्वादन भी अनन्त है, क्योकि अनन्त गुणो का आस्वादन करके उनका भोगी आत्मा आनन्द मे विलास करता है। अत हे प्रभो! आप परमानन्दमय है। यहाँ गुण-गुणी का उपचार से भेद सूचित किया है। जो परमानन्दमयी है, वे ही परमानन्दमय देव है।

अव्यावाध रुचि थई,
साधे अव्यावाध हो जिनजी।
देवचन्द्र पद ते लहे,
परमानन्द समाध हो जिनजी।श्रीसु०॥८॥

अर्थ—ऐसा परमानन्द रूप अव्यावाध सुख श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु का है। ऐसा मुझे निर्धार/निश्चय हुआ कि जैसा सुख श्री वीतराग देव

को है, वैसा ही सुख मेरी आत्मा मे भी है। ऐसा ज्ञान हुआ तब उस भव्यात्मा को भान हुआ कि "मैं भी ज्ञानादि अनन्त गुणशाली हूँ।" अब मेरे शुद्धानन्द का भोग कैसे प्रकट हो ? इस प्रकार के विचार वाला जीव उस पपीहा के सदृश है जो ज्येष्ठ मास मे तृषातुर होकर मेघवर्षण की प्रतीक्षा मे आकाश के अभिमुख हुआ समय व्यतीत करता है। अव्याबाध सुख की रुचि वाला, उसी सुख की प्राप्ति की अभिलाषा मे पौद्गलिक–भौतिक भोगजन्य सुख को विषभक्षणवत् आत्म स्वरूप का घातक जान उससे विरक्त हुआ, आत्मानन्द प्राप्ति कैसे हो ? इसी चिन्तन मे प्रवृत्त होता है। आत्मा के साधक मुनिवरो की शरण मे जाकर वह आत्मा अव्याबाध सुख की प्राप्त्यर्थ स्वय जगत् के भोगो से उदास बना हुआ, साधना करने लग जाता है और उस अव्याबाध सुख को सम्प्राप्त कर आनन्दमय बन जाता है। कहा भी है—

"पंचासवविरत्ता विसयविजुत्ता समाहिसपत्ता।
रागदोषविमुत्ता मुणिणो साहंति परमत्थ ॥"

अर्थ—पचास्रव–हिसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्त–त्यागी तथा विषयो से वियुक्त-सयोगरहित, समाधि को सम्प्राप्त, राग-द्वेष से विमुक्त मुनिजन परमार्थ–मोक्ष की साधना करते है।

"आउस्स क्खीणमाणस्स पाणविओगे वि जे समाहि पया।
सावय दड्ढवया वि हु गिहिणो साहंति परमत्थ" ॥

अर्थ—दृढ व्रती गृहस्थ श्रावक भी आयु के क्षीण होने और प्राणों का वियोग हो जाने के समय भी समाधि मे ही रहते है, वे भी परमार्थ–मुक्ति की साधना करते है।

इस प्रकार उत्तम भव्य जीव स्याद्वाद स्वरूप शास्त्र प्रकरणादि का श्रवण कर, पचास्रव का त्याग कर, विषयो से विरक्त होकर, शुद्ध सयम का पालन कर, देह से नि स्पृह हो मोक्ष की सिद्धि कर लेते है।

ऐसे मुनिराज और गृही श्रावक, विषयो की त्रिकाल मे भी वाञ्छा नही रखने वाले तत्त्वगवेषक तत्त्वरसिक, तत्त्वानन्द रुचि

अनादि काल से कर्मो द्वारा आक्रान्त स्व-आत्म-स्वरूप को प्रकट करने के लिये समस्त पौद्गलिक—भौतिक पदार्थों से विरक्त हो निज स्वरूप को प्रकट करता है। वह साधक आत्मा, निमित्त–श्री अर्हन्तो का अवलम्बन लेकर स्वरूप का भी आलम्बन करता है और स्वरूप मे एकत्व प्राप्त कर, क्षपक श्रेणी पर आरुढ हो, घनघाती कर्मो का क्षय करके सयोगी केवलज्ञानी व केवलदर्शनी बन जाता है। आयु पूर्ण होने पर शैलेशी-करण द्वारा सर्व कर्मो से मुक्त हो, देवचन्द्र—देवो मे सर्वोत्कृष्ट धर्मदेव केवली भगवान् उन सर्व मे चन्द्र समान श्री तीर्थकर पद प्राप्त कर लेता है। जिसमे परम समाधि है, वैसे स्वरूपधारक श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् की सेवा सदा करनी चाहिये। यही भव्य जीव साधक का आधार/त्राण/शरण रूप है।

□

श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र स्तवन

(राग—नन्दीश्वर बावन जिनालय)

श्री चन्द्रप्रभ जिनपद सेवा,
हेवाये , जे हलिया जी ।
आतम गुण अनुभव थी मलिया,
ते भव भय थी टलिया जी । श्री० ॥१॥

अर्थ—अब श्री चन्द्रप्रभ भगवान का स्तवन करते है और सेवना क्या है ? इसे भी नय रूप से विस्तृत वर्णन कर हृदयगम कराते है ।

श्री चन्द्रप्रभ भगवान के पद–चरणो की सेवा अर्थात् अरिहन्त पद की सेवा की 'हेवा' जिनके स्वभाव मे सेवा करने का भाव स्थिर हो जाता है, सेवा किये बिना शान्ति नही मिलती है । ऐसी सेवा करने मे जे हलिया अर्थात् जिनकी आदत पड गई है । उनका सारा समय प्रभु सेवा मे ही व्यतीत होता है, एक क्षण भी व्यर्थ नही जाता है । जिनके असख्य आत्म-प्रदेशो मे परम पूज्य श्री वीतराग देव आराध्य रूप से विराजमान है, वे भव्यात्मा चेतना-लक्षण असख्य आत्म-प्रदेशो मे स्वधर्म के कर्त्ता, स्वभाव के भोक्ता, स्वय के ज्ञानादि अनन्त गुणो के अनुभव के द्वारा मलिया अर्थात् मिल गये है, अर्थात् गुण रूप ही हो गये हैं, आत्म-गुण भोगी बन गये हैं, वे ही जीव भव–चतुर्गति रूप ससार का भय–जन्म-मरण, स्वरूपरोधक कर्मो की आधीनता एव परतन्त्रता के भय से टलिया अर्थात् बच गये हैं, रक्षित हो गये हैं, उन्हे जन्म-मरण का भय नही रहता है । यथार्थ रीति से जो परमात्मा की सेवा करे वह अवश्य असमारी–मुक्त बनता है । अत॰ जो भव-भय

से मुक्त होने योग्य बन गये उनका ससार-भ्रमण शेष नही रहा। यह आन्तरिक हर्ष से उद्भूत वाक्य है। कारण मिलने पर अवश्य कार्य सिद्ध होता है। अरिहन्त सेवा मे परिणत हुये उत्तम जीव प्रभु मिलन के पश्चात् ससार-सागर को गोपद–गाय के पॉव से बने हुए पृथ्वी के छोटे से खड्डे के समान मानते है।

द्रव्य सेव वन्दन नमनादिक,
अर्चन वलि गुण ग्रामो जी।
भाव अभेद थवा नी ईहा,
परभावे निष्कामो जी। श्री० ॥२॥

अर्थ—वह प्रभु सेवा चार प्रकार के निक्षेप से है—नाम सेवा, स्थापना सेवा, द्रव्य सेवा और भाव सेवा। इनमे नाम एव स्थापना सेवा तो सुगम है। द्रव्य निक्षेप दो प्रकार से है–आगम से, नो आगम से।

आगम से द्रव्य निक्षेप—सेवना पद का अर्थ और विधि भी जानता है, किन्तु सेवा करते समय अर्थ का ध्यान नही, मन अन्य विचारो मे लगा हुआ है, वह आगम से द्रव्य निक्षेप वाली सेवा है। **अनुयोगद्वार** मे द्रव्य का लक्षण ऐसा है–**'अणुवओगो दव्वं'** जहॉ कार्य तो हो रहा है, परन्तु मन उस कार्य मे नही है, उसको द्रव्य कहते है।

नो आगम से द्रव्य निक्षेप—इसके तीन भेद है—१ ज्ञ शरीर, २. भव्य शरीर, ३ तद्व्यतिरिक्त। जो व्यक्ति जीवितावस्था मे प्रभु सेवा करता था, उसका शव, ज्ञ-शरीर कहलाता है। जो भविष्य मे प्रभु सेवा करेगा, अभी नही कर रहा है, वह भव्य शरीर के नाम से अभिहित होता है तथा जो सेवना की प्रवृत्ति अन्तरग भाव सेवना की कारण रूप है, वह तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप से सेवना है।

यहाँ जो शरीर योग से वन्दन-नमनादि की प्रवृत्ति है, वह व्यवहार नय से द्रव्य सेवना है और जो अन्तरग मन द्वारा प्रभु के बहुमा-

नादि हैं वह ऋजुसूत्र नय से द्रव्य सेवना है। इस प्रकार द्रव्य सेवना का स्वरूप बताया। अर्हन्त देव के चार निक्षेप रूप कारण दृष्टिगोचर, श्रवण-गोचर, स्मरण-गोचर रूप से पाकर जो जीव वन्दन-हाथ जोडना, नमन करना, मस्तक झुकाना तथा अभ्युत्थान, अजलि, समर्पण भाव आदि करना एव चन्दन-पुष्पादि से अर्चन करना, पुन. गुणग्राम–मुख द्वारा मधुर ध्वनि से गुण गाना, स्तवन स्तुति स्तोत्रादि बोलना, ये सब द्रव्य सेवना जाननी चाहिये। और, जो ससार पराङ्मुख आत्मा अरिहन्त के गुणो का अत्यन्त बहुमान, असख्य आत्म-प्रदेशो मे अर्हन्त की अर्हन् दशा के विचार से आश्चर्यान्वितता, अद्भुतता, अर्हन्त निमित्तता के विरह मे असह्य पीड़ा का अनुभव करना और अर्हन्त से अभेद होने की ईहा–चेष्टा, इच्छा अर्थात् स्वयं अर्हन्त बनने की अभिलाषा, भाव रूप से अर्हन्त रूप होने की भावना, वह भी सेवा रूप ही है, किन्तु भावरुचि रहित द्रव्य पूजा की प्रवृत्ति से बाल-लीला समान है। भाव रहित केवल द्रव्य प्रवृत्ति मार्जार सयम-कल्प है। अत यहाँ भाव अभेद होने की ईहा को भी द्रव्य सेवा कहा है। द्रव्य प्रवृत्ति बिना अकेले भाव धर्म को भी **तत्त्वार्थ सूत्र** मे आचार्य ने साधन कहा है। तथा **सम्मति** ग्रन्थ मे भी कहा है—

> **"चरण–करणप्पहाणा ससमय–परसमय–मुक्कवावारा।**
> **चरणकरणस्स सारं नत्थि य सुद्धं न याणंति॥**
> **नाणाहिओ वरतर होणोवि हु पवयणं पभावंतो।**
> **न य दुक्कर करतो सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो॥"**

अर्थ—जो केवल चरण-करण प्रधान धर्म का आचरण करते हैं, स्वसमय–स्वसिद्धान्त आगमादि, परसमय–अन्यदर्शनी जनो के सिद्धान्त को नही जानते, वे वास्तव मे चरण-करण के सार से, शुद्ध धर्म से अनभिज्ञ है।

ज्ञानाधिक साधक ही श्रेष्ठतम है। शिथिल चारित्रवान प्रवचन की प्रभावना करता है। दुष्कर तप नही करता हुआ पुरुष

अल्पागमज्ञ होते हुए भी शासन प्रभावक है। इत्यादि वचनो से भाव धर्म ही मुख्य है। भाव तो द्रव्य बिना भी गुणकारी है, किन्तु भाव-साध्य से रुचिहीन अकेला द्रव्य-धर्म किसी काम का नही, ऐसी परम्परा है। पुनः परभाव–आत्म-धर्म से अन्य–पुण्यबन्ध, शुभ कर्म के विपाक की कामना या अभिलाषा से मुक्त जो द्रव्य सेवा है, वह तो सार्थक ही है, क्योकि वह भाव की कारण है।

भाव सेव अपवादे नैगम,
प्रभु गुण ने सकल्पे जी।
संग्रह सत्ता तुल्य आरोपे,
भेदाभेद विकल्पे जी ।।श्री०।।३।।

अर्थ—अब भाव निक्षेप को वताते है, वर्णन करते है। भाव-निक्षेप के दो भेद है—आगम से, नोआगम से। भाव सेवा के रहस्य को, शब्द–वाक्यो के अर्थ आदि को ध्यान मे रखता हुआ जो साधक सेवा–वन्दन अर्चनादि करता है, वह आगम से भाव सेवा है। यहाँ आधार-आधेय का अभेद होता है, यह भाव निक्षेप है। और, जो जीव भाव सेवा मे परिणत हो गये है अर्थात् वैसी भावना मे लीन होकर सेवा कर रहे हैं, उनकी सेवा–पूजादि, भक्ति–गुणगानादि नोआगम से भाव सेवा कही जाती है। यहाँ मूल निश्चय–वास्तविक धर्म से विचार करने पर शुद्ध आत्मधर्म मे सेव्य-सेवक भाव नही है। सत्ता की अपेक्षा सभी आत्माएँ समान है और कोई भी आत्मा परस्पर अपने धर्म का विनिमय (लेन-देन) नही करती है। परन्तु, जो ससारी आत्माएँ है वे अनादि काल से १८ पापस्थानक मे लीन होकर कर्म परवश बने हुये, विभाव–भावित हुये पुद्गल–कर्ममय वने हुये, पौद्गलिक–भौतिक सुखो के भिखारी स्वतत्त्व को विस्मृत कर, मोहकर्म के कारागार मे बन्दी (कैदी) होकर दु ख भोग रही हैं। वे जब साधना करती हुयी कर्म-कारागार से मुक्त हो, स्वरूप को प्राप्त कर सिद्ध हो जाती है, तो वह सिद्धत्व श्री वीतराग अर्हन्तदेव का पूज्य-भाव से अवलम्वन लेने पर ही प्राप्त होता है। अत. स्वात्मकार्य–सिद्धत्व प्राप्ति के लिए भव्य जीव उन

अर्हन्त प्रभु का निमित्त कारण रूप से अवलम्बन लेकर अन्तरग परिणाम भाव से अर्हन् का दशन, नमन, अर्चन, सेवा-भक्ति करता है तव तक सेवक रहता है और जव सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप पूर्णानन्दमय वन जाता है तव वही आत्मा सेव्य बन जाता है। यह निमित्तावलम्वी सेवा ही भाव से अपवाद सेवा है और अपवाद सेवा करते हुए स्वय का साध्य सिद्ध करना, वह उत्सर्ग से सेवा है। कहा भी है—

**"उक्कोसो उस्सग्गो जस्स संपुण्णममलसब्भावो।
अववाओ तस्साहण तव्वुड्ढिकरो अणेगविहो॥"**

अर्थ—जिनका उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण निर्दोष स्वभाव हो गया है, जिससे आगे अन्य कोई आत्मदशा है ही नही, उसे उत्सर्ग अवस्था कहते है और उस उत्सर्ग दशा को प्राप्त करने के लिये कारण रूप मार्ग अगीकार करना, उसे अपवाद कहते है। यहाँ प्रभु सेवा करते जो आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्मा सिद्ध स्वरूप बन जाती है वह उत्सर्ग है और जो इस आत्म-सिद्धि के कार्य मे कारण रूप श्री अर्हन्त का अवलम्बन दर्शन-पूजन सेवा भक्ति है, वह सर्व आत्मा को शुद्ध करने की साधना के कारण है। अत ये सव अपवाद सेवा है और यह सप्तनयो से सात भेद रूप है। उनका वर्णन निम्न रूप से है .—

१. **नैगम नय**—'अनेके गमा. सकल्पारोपाशाश्रयाद्या यत्र स नैगम.' अर्थात् जहाँ अनेक नामादि गम–मार्ग ग्रहण हो, सकल्प, आरोप और अश से भी वस्तु को स्वीकार करे, वह नैगम नय है।

२. '**सग्रह नय**—'सगृह्णाति वस्तु सत्तात्मक सामान्य स सग्रह.' जो सर्व का सग्रह करे, सर्व का ग्रहण करे, वस्तु की सत्ता को सामान्य रूप से ग्रहण करे, वह सग्रह नय है।

३ **व्यवहार नय**—'सगृहीत अर्थविशेषेण विभजति इति व्यवहार नय' सग्रह नय से गृहीत सामान्य को अश-अश से, भेद से पृथक्-पृथक् विभक्त करे, वह व्यवहार नय है।

४. **ऋजुसूत्र नय**—'ऋजु अतीत-अनागत-वक्रत्व-परिहारेण ऋजु सरल वर्तमान सूत्रयतीति ऋजुसूत्र' जो ऋजु अर्थात् सरल वर्तमान अवस्था को ग्रहण करे, अतीत एव अनागत की वक्रता का परिहार कर दे, वह ऋजु सूत्र नय है।

५ **शब्द नय**—'शब्दार्थरूप तद्धर्मरूपपरिणति इति शब्दनय' प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरण व्युत्पत्ति से सिद्ध शब्द, उसमे पर्यायार्थक शब्द बोले, उसमे जो अर्थ है वही कर रहा हो, तब की अवस्था ही स्वीकार करे, वह शब्द नय है। यथा—पढते हुये को पाठक कहे, अन्य अवस्थाओ मे नही। **तत्त्वार्थवृत्ति** मे भी यही कथन है—'शब्दवशाद् अर्थप्रतिपत्तिरिति। शब्द नयश्च शब्दानुरूपमर्थ इच्छति' शब्दानुसार अर्थ का ज्ञान हो उसे ही शब्द नय से ज्ञान रूप माने। यह शब्द नय शब्दानुरूप कार्य चाहता है।

६. **समभिरूढ़ नय**—'सम्यक् प्रकारेणार्थपर्याय-वचन-पर्यायत. सकलभिन्न-वचनभिन्न-भिन्नार्थ तत्समुदाययुक्ते ग्राहक इति समभिरूढ नय' वस्तु के जितने वर्तमान पर्याय है, तथा जिस नाम के जितने वचन पर्याय हैं, वे सर्व शब्द से भिन्न है, जैसे—घट कुम्भ इत्यादि। जो शब्द भिन्न है, उसका अर्थ भी भिन्न होता है अर्थात् तद्भाव रूप से भिन्न है। वे सब वचन पर्याय रूप परिणमन करती वस्तु को वस्तुरूप से ग्रहण करते हो, वह समभिरूढ नय है।

७. **एवम्भूत नय**—'सर्व अर्थपर्यायेषु स्वक्रियाकार्यपूर्णत्वेन एव यथार्थतया भूत एवभूत' सर्व अर्थ पर्याय अनन्त है, वे सर्व स्वधर्म मे सम्पूर्ण स्वय की क्रिया, वस्तु का धर्म है वह, सम्पूर्ण रूप से हो गया, हो, उसे ही एवभूत नय स्वीकार करता है।

इस विषय मे श्री **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** ने नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नयो के रूप मे मान्य किया है और शब्दादिक तीन नयो को पर्यायार्थिक रूप से भाव निक्षेप मे स्वीकृत किया है तथा ऋजुसूत्रादि चार नय को भाव रूप कहा है। उसका आशय यह है कि वस्तु की तीन अवस्थाएँ हैं— १ प्रवृत्ति,

२. सकल्प, ३. परिणति । यह तीन भेद है । इनमे योग-व्यापार—सकल्प व चेतना के योग सहित मन के विकल्प को **श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** प्रवृत्ति धर्म कहते हैं तथा सकल्प धर्म को उदयैक मिश्रता रूप के कारण द्रव्य निक्षेप कहते हैं और मात्र परिणति धर्म को भाव निक्षेप मानते है।

श्री **सिद्धसेन दिवाकर** ने विकल्प को चेतना के कारण भाव नय रूप मे स्वीकार किया है। प्रवृत्ति की सीमा तक व्यवहार नय है, संकल्प ऋजुसूत्र नय है, एक वचन पर्याय रूप परिणति शब्द नय है और सकल वचन पर्याय रूप परिणति समभिरूढ नय है। वचन पर्याय और अर्थ पर्याय रूप सम्पूर्ण परिणति एवभूत नय है। अतः शब्दादि तीन नय विशुद्ध नय हैं और भाव धर्म मे मुख्य भाव की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के ग्राहक है। इस प्रकार से सक्षेप मे नय का अधिकार बतलाया। अब इन सात नयो से अपवाद भाव सेवना के सात भेद कहते है—

१ श्री अर्हन्त रूप स्वजातीय अन्य आत्म द्रव्य के स्वरूप का चिन्तन करने पर चेतना का जो अश प्रभु के गुणानुयायी सकल्प (जो इससे पूर्व कभी नही हुआ था) को इन्द्रियादि के विषयो से निवृत्त कर प्रभु के गुणों मे लगाया। इस निमित्तावलम्बिता के लिये अपवाद रूप अन्तरग परिणाम जो भाव सेवना का सकल्प रूप है, वह एक गम नही, किन्तु अनेक गम—मार्ग रूप है। अत यह नैगम नय से अपवाद भाव सेवना है और आत्म-सिद्धि की निष्पत्ति मे कारण रूप है।

२ श्री अरिहन्त देव के असख्यात आत्म-प्रदेशो मे निष्पन्न निरावरणता को दृष्टि मे रखकर, मेरी स्वय की भी ऐसी ही निराव-रणता हो सकती है, मुझ मे भी वही शक्ति सत्ता रूप से रही हुई है, उभय की तुल्यता का आरोपण करे। मुझ मे अभी वैसी निरावरणता नही है, इसका पश्चात्ताप करे, जिन अशो मे ज्ञानादि निरावरण बने हैं उनका गौरव करे, प्रभु के सर्व निरावरण गुणो का बहुमान करे तथा भेद अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से श्री वीतराग अर्हन्त प्रभु और मेरा आत्म-द्रव्य भिन्न है, किन्तु सत्ता साधर्म्य से अभिन्न है। इस प्रकार सापेक्ष रूप से बहुमान युक्त स्वसत्ता प्रकट करने की रुचि वाले का जो ऐसा विकल्प है, वह संग्रह नय से अपवाद भाव-सेवना कहलाती है।

व्यवहारे वहुमान ज्ञान निज,
चरणे जिन गुण रमणा जी ।
प्रभु गुण आलम्बी परिणामे,
ऋजु पद ध्यान स्मरणा जी ।।श्री०।।४।।

अर्थ—स्वयं के क्षयोपशमजन्य ज्ञान-दर्शनादि एव वीर्यादि उनमे प्रति-समय श्री अर्हन्तादि के शुद्ध स्वरूप, केवलज्ञानादि की सम्पदा—उपकार सम्पदा रूप देशना—धर्म कथन जो शुद्ध उपकारी रूप मे है और चौतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय एव अष्ट प्रातिहार्य रूप सम्पदा है, उन्ही मे स्व उपयोग रखे और कभी प्रभुजी की प्रभुता का विस्मरण न करे तथा वहुमान अर्थात् श्री वीतराग की सर्व से अधिक महानता है, ऐसी श्रद्धा रखे। स्ववीर्य-शक्ति का प्रयोग जिन भक्ति मे करे तथा चरण—चारित्र से अर्हन्त के गुणो मे रमण अर्थात् एकत्व तन्मयता प्राप्त करे। यहाँ जो क्षायोपशमिक आत्म गुणो की प्रवृत्ति भासनादि है वह सव अर्हन्तानुयायी हो जाती है। अत यह सर्व व्यवहार नय से अपवाद भाव-सेवना है।

४ प्रभु श्री परमात्मा अयोगी एव अलेशी है, उनके गुणो का अवलम्वन लेकर परिणाम—अन्तरग आत्म द्रव्य की क्षायोपशमिक परिणति सामान्य चक्र भावरूप, उनमे तन्मय रूप से रहे। उनका कभी विस्मरण नही करे, उन्ही के स्मरण मे तदुपयोग से रहे। उसी को जव तक धर्मध्यान रूप मे आलम्वन लेकर साधना करे तव तक ऋजुसूत्र नय से अपवाद भाव-सेवना रूप है। यह भी आत्मसाधन रूप उत्सर्ग भाव सेवा का कारण रूप है। इससे यह अपवाद भाव-सेवा कहलाती है।

शब्दे शुक्ल ध्यानारोहण,
समभिरूढ गुण दशमे जी ।
बीय शुक्ल अविकल्प एकत्वे,
एवभूत ते अममे जी ।।श्री०।।५।।

अर्थ—अब श्री वीतराग प्रभुस्वरूप शुद्ध आत्मा का आलम्बन लेकर जो जीव भाव-मुनित्व की रुचि वाला होकर, दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रयमय परिणत होकर, पृथक्त्व वितर्क सप्रविचार रूप शुक्लध्यान मे परिणत हो गया, उस समय वह जीव शब्द नय से भाव-सेवना वाला हुआ। अर्थात् ऋजुसूत्र नय से तो प्रशस्त उदयैक सहित अर्हन्त गुण की इष्टता आदि परिणामो के सहकार से था। और, जहाँ शब्दनय से हुआ वहाँ प्रशस्तावलम्बन की आवश्यकता नही रहती। साधक भव्यात्मा के गुण उन सभी गुणो से एकरूप होकर, स्वरूप एकत्वता प्राप्त शुक्ल ध्यान की शुद्धता मे परिणत हो गये तब शब्द नय भाव-सेवना कही जाती है। अथवा साधन रूप होने से अपवाद कहलाता है।

जब साधक आत्मा दशवे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान पर आरूढ हुआ, शुक्ल ध्यान के प्रथम पाद के अन्त मे आया और परम निर्मल भाव का वरण किया, उस समय जितनी आत्मगुण की साधना करने योगवीर्य की मन वचन काय रूप शक्ति की सहायता से साधकता हुई, वह सर्व अपवाद से हुयी। और, उत्सर्ग मार्ग से तो योग भी जो आत्मा द्वारा परित्याग करने योग्य है, उस समय वे भी साधन रूप है। अत यहाँ कारण से ग्रहण किये गये है, किन्तु वे शुद्ध स्वरूप मे नही। और, जितने कारण रूप से ग्रहण किये जाते है, वे सभी अपवाद रूप है। अत दशम गुणस्थान मे समभिरूढ नय से अपवाद भाव-सेवना है। यह भी साधक का स्थान है।

जब शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद एकत्व वितर्क अविचार रूप मे आरूढ भाव-मुनि निर्विकल्प समाधि का वरण कर लेता है अर्थात् समाधिलीन बनता है, स्वरूप एकत्व रूप से परिणत हो जाता है तब साधना की पूर्णता हो जाती है, अत एवभूत नय से सेवना हो जाती है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि साधना तो अयोगी गुणस्थानक पर्यन्त है, तब यहाँ क्षीण मोह गुणस्थान मे एवभूत नय से सेवना कैसे कहते हो ? उत्तर—अयोगी गुणस्थान तक तो उत्सर्ग साधना है। यहाँ तो अपवाद साधना का अधिकार है और अपवाद साधना यहाँ पूर्ण हो जाती है। पुन , कोई प्रश्न करे कि निर्मोह अवस्था मे अर्थात् १२ वे

अर्थ—जो आत्मा क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर स्वशक्ति को प्रकाशित करता है, उसे ऋजुसूत्र नय से उत्सर्ग भाव-सेवना कहते है।

५ जब आत्मा मे यथाख्यात क्षायिक चारित्र उत्पन्न हुआ, तब उस चारित्र की सहकारी आत्म शक्ति प्रकट होकर शुद्ध अकषायी, असगी, नि स्पृहता रूप शुद्ध धर्म उल्लसित हुआ। जो वीर्यादि कषायानुयायी बन जाते थे वे भी अब स्वरूपानुयायी बन गये और उसी मे रमण करने लग गये। यह साधना-धर्म जितना उल्लसित हुआ वह सर्व शब्द नय से उत्सर्ग भाव-सेवना कही जाती है, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ स्वरूप रमण करने वाला अन्य की सहायता की अपेक्षा न करके जितना स्वय की शक्ति पर निर्भर बनता है, उतना ही वह उत्सर्ग सेवना वाला बनता जाता है। यही शब्द नय से उत्सर्ग-सेवना है।

भाव सयोगी अयोगी शैलेशे,
अन्तिम दुग नय जाणो जी।
साधनताये निज गुण व्यक्ति,
तेह सेवना वखाणो जी ॥श्री०॥८॥

अर्थ—जिस समय आत्मा घातिकर्मो–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का क्षय कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य ये अनन्त चतुष्टय प्रकट करता है। इन चार गुणो से सकर–मिश्रित और सहकार से अन्य वक्तव्य और अवक्तव्य अनन्त स्वधर्मी गुण प्रकट हुए, आत्मानन्दी बने, उस समय समभिरूढ नय से उत्सर्ग भाव-सेवा हुयी।

७ जिस समय सयोगी केवली शैलेशीकरण करता है, आत्म प्रदेशो का घन करता है, अयोगी केवलित्व होता है, तब एवभूत नय से उत्सर्ग भाव-सेवना जाननी चाहिये। यहाँ कोई प्रश्न करे कि एवभूत नय तो मोक्षावस्था मे कहना चाहिये? उत्तर—मुक्त आत्मा तो सिद्ध है, उन्हे तो कुछ नवीन अवस्था उत्पन्न नही करनी है और अयोगी को तो अभी सिद्धावस्था प्राप्त करनी है। अत जब तक कार्य पूर्ण न हो, तब तक तो साधना ही है और सेवा भी साधना रूप ही है। इस कारण

साधन का अन्त अयोगि केवली गुणस्थान मे कहा गया है और सिद्ध का एवभूत, वह मुक्त आत्मा है। इस प्रकार साधना को भली प्रकार से समझाया। उत्सर्ग सेवना के सात नय किस-किस गुणस्थान मे हैं, यह भी अभिव्यक्त किया। अब इनका स्वरूप बताते है—

साधनता अर्थात् साधना करते हुए निज गुण—स्वात्मा के गुणो की अभिव्यक्ति को ही आत्म-सेवना वखाणो अर्थात् कहो। जितनी साधना हैं, उतनी ही अपवाद सेवा जाननी चाहिये और साधना करते-करते जितनी-जितनी अभिनव आत्म शक्ति प्रकट होने की कारणता सहित आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति हो, वह उत्सर्ग भाव-सेवा जाननी चाहिये। शुद्ध आत्म अवस्था, वह साध्य है तथा आत्म धर्म रूप मे प्रकट हुई आत्म सम्पूर्णता के कारण रूप होती हुई जो सवा है, उसे उत्सर्ग भाव-साधना जाननी चाहिये। जो उत्सर्ग भाव-साधना है, वह कार्य है और निमित्तावलम्वी अपवाद भाव-सेवा, वह कारण है। शेष सर्व द्रव्य सेवा का कारण हे। इस प्रकार कार्य-कारण भाव का ज्ञान करना चाहिये।

कारण भाव तेह अपवादे,
कार्य रूप उत्सर्गे जी।
आत्म भाव ते भाव द्रव्य पद,
बाह्य प्रवृत्ति नि सर्गे जी ॥श्री०॥९॥

अर्थ—यहाॅ जितना कारण भाव है वह सर्व अपवाद जानना चाहिये और जितना कार्य स्वगुण निष्पत्ति रूप है उतना उत्सर्ग समझना चाहिये। ये उत्सर्ग और अपवाद के लक्षण कहाॅ तथा किस प्रकार फलित होते है ? उत्तर—जिज्ञासुओ को यह सर्व **बृहत्कल्पभाष्य** तथा उसकी **टीका** से विस्तार रूप मे जानना चाहिये। जितनी बाह्य प्रवृत्ति है, वह द्रव्य निक्षेप है। श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की ऐसी सेवा करने मे जो तत्पर हो गये हैं अथवा सेवा करने का जिनका स्वभाव हो गया है, वे आत्म-धर्म का सम्पूर्ण रूप से वरण करे अर्थात् सम्प्राप्त करे।

कारण भाव परम्पर सेवन,
प्रकटे कारज भावो जी ।
कारज सिद्धे कारणता व्यय,
शुचि पारिणामिक भावोजी ।।श्री०।।१०।।

अर्थ—अब कारण भाव श्री अर्हन्त देव है, उनकी परम्परा से अर्थात् कुल-धर्म रूप से द्रव्य-सेवना करते हुये भाव-सेवना प्रकट होती है और भाव-सेवा से उत्सर्ग-धर्म उद्भूत होता है अर्थात् प्रकट होता है । तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप का अनुभव रूप और शुद्ध सिद्धता रूप कार्य के सिद्ध हो जाने पर कारणता का व्यय/नाश हो जाता है, क्योकि जब तक कार्य मे न्यूनता रहती है तब तक कारण की आवश्यकता है और कारण रहता है । कार्य सिद्ध हो जाने पर कारण नही रहता । तब क्या रहता है ? उसे ही कहते है—शुचि/पवित्र आत्मा का पारिणामिक भाव–द्रव्यकर्म, भाव-कर्म, नोकर्म के सद्भाव रूप के हेतु कर्ममल के सर्वथा नष्ट हो जाने पर मात्र शुद्ध आत्मभाव शेष रहता है । जिस रूप मे आत्मा का मूल लक्षण उपयोग स्वरूप है, वही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूपत्व रहता है अर्थात् आत्मा परमानन्द अविनाशी अवस्था का वरण कर लेता है ।

परम गुणी सेवन तन्मयता,
निश्चय ध्याने ध्यावे जी ।
शुद्धातम अनुभव आस्वादी,
देवचन्द्र पद पावे जी ।।श्री०।।११।।

अर्थ—इस प्रकार परम गुणी–उत्कृष्ट गुणवान् श्री अर्हन्त देव शुद्ध देवाधिदेव वीतराग की सेवा जो अत्यन्त दुर्लभ है, परम पुण्योदय–पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रभाव से किन्ही भाग्यशाली जीवो को ही प्राप्त होती है । ऐसी अत्यन्त दुर्लभ प्रभु-सेवा प्राप्त कर, उसमे तन्मय होकर जो जीव निश्चय से स्वरूप ध्यान से–एकत्वता रूप से ध्यान करते है, वे प्राणी शुद्ध–निष्कलक कर्मरहित चिदानन्दघन आत्मा का अनुभव–

यथार्थ ज्ञान वेद्य संवेद्य पद सहित आस्वादन कर, देव–निर्ग्रन्थ वीतराग उन सब मे चन्द्रवत् सौम्य प्रकाश वाले अथवा भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो मे श्रेष्ठ इन्द्र अहमिन्द्रादिवत् श्रेष्ठतम श्री देवाधिदेव, भाव उद्योत करने वाले, सौम्यता, समता और शीतलता के कारण श्री अरिहन्त पद–स्थान को प्राप्त करते है। हे भव्यजनो ! यदि आप अपने आत्म-सुख के अभिलाषी हैं और शुद्धानन्द मे विलास करना आपको इष्ट है, तो 'श्री चन्द्रप्रभ स्वामी' वर्तमान चौबीसी मे हुये अष्टम तीर्थंकर भगवान् शुद्ध देवाधिदेव, अशरण-शरण, जगत के आधार, जगज्जीवो के परमोपकारी, मोह तिमिर का ध्वस करने वाले भाव सूर्य, कर्म महारोग के श्रेष्ठतम वैद्य, महामाहण, महागोप, महानिर्यामक, महा सार्थवाह, सम्यक् दृष्टि जीवो के जीवन-प्राण, देशविरतिजनों के लिए तो महामन्त्रवत् जपनीय, साधु निर्ग्रन्थजन जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उपाध्यायजनो के मानस-हस, आचार्यों के नाथ, गणधरादि के साक्षात् मोक्षहेतु और स्याद्‌वाद मार्ग–धर्म के उपदेष्टा, ऐसे श्री अरिहन्त देव की सेवा करो, यही एक मात्र आधार है।

श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर देव की सेवा 'जब तक आपकी सम्पूर्ण सिद्धता न हो' तब तक अखण्ड रहे। यही हार्दिक शुभाशीष है। यही सारभूत है अर्थात् भगवत् सेवा ही मानव जन्म मे करने योग्य सर्वश्रेष्ठ कार्य है। और, यही श्रीमद् देवचन्द्र का आशीर्वचन है।

□

९. श्री सुविधि जिनेन्द्र स्तवन

(राग–थांरा महला ऊपर मेह भबूके बीजली हो लाल)

दीठो सुविधि जिनन्द,
समाधि रस भर्यो हो लाल। समाधि०।
भास्यो आतम स्वरूप,
अनादि नो वीसर्यो हो लाल। अनादि० ॥
सकल विभाव उपाधि,
थकी मन ओसर्यो हो लाल। थकी०॥
सत्ता साधन मार्ग,
भणी ए संचर्यो हो लाल। भणी०॥१॥

अर्थ—अब श्री सुविधिनाथ भगवान् की स्तुति करते है। कोई भव्य जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, असयम, कषाय, योग रूप द्रव्य भाव हेतु रूप से परिणत हुआ, एकेन्द्रिय–पृथ्व्यादि सूक्ष्म बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय रूप से अनन्त भव पर्यन्त भव-चक्र मे भ्रमण करता हुआ, अनेक कुदेवादि, कुगुरु, कुधर्मादि की वासना से वासित होकर इन्ही मे देवादि की बुद्धि रखता हुआ अथवा सुदेवादि वीतराग मे कर्तृत्वादि प्रमुख दोष मानता हुआ किसी भी समय वीतराग प्रभु की प्रभुता दृष्टिगोचर नही कर सका। ऐसे जीव की भवस्थिति का परिपाक होने पर किसी शुभ पुण्य के उदय से उसे भगवान् श्री सुविधिनाथ जिनेन्द्र की मुद्रा के दर्शन हुये। उसी मुद्रा दर्शन से सम्यग्दर्शन (श्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (भासन) रूप से अरूपी अनन्त गुण प्रभुता रूप मे परिणत हुयी। श्री अर्हन्त तीर्थंकर भगवन्त की प्रभुता को देखकर उल्लसित चित्त से वह भव्य जीव प्रभु की उपकारिता को प्राप्त कर, हर्षित होकर प्रेम से कहता है कि, मैने श्री सुविधिनाथ

भगवान के दर्शन किये अर्थात् भासन रूप से प्रतीति सहित भगवान को को देखा। वे प्रभु कैसे है ? मैंने उन्हे कैसा देखा ? 'समाधि रस भर्यो' अर्थात् समाधि रस से भरा हुआ देखा। समाधि अर्थात् आत्मगुणो की वस्तुगत स्थिरता वाला उनका स्वरूप है, वैसा देखा। विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ है। यथा—आत्म-गुणों से विपरीत प्रवृत्ति रूप उपाधि, विषय-कषायानुयायी प्रवृत्ति रूप उपाधि, तप्त उद्धत वक्र परिणाम रूप उपाधि, सर्व विभाव प्रवृत्ति रूप उपाधि, इन सर्व उपाधियो से निवृत्त होने पर एव सकल गुण स्वरूप परिणामी होने पर आत्म-गुणो मे वास्तविक स्थिरता ही समाधि है। ऐसी समाधि के रस से भर्यो अर्थात् सम्पूर्ण रूप से समाधिमय रस से भरे हुए श्री सुविधिनाथ भगवान के दर्शन किये। उनके दर्शन से एक महान् लाभ मुझे हुआ। कौन सा लाभ हुआ ? वह यह कि 'भास्यो आत्म-स्वरूप' अर्थात् आत्म-स्वरूप का भास-ज्ञान हुआ। अनादि एवं अतीत काल से विस्मृत, शुद्ध चिदानन्दमय आत्मस्वरूप का मुझे भास-ज्ञान हो गया कि, अहो ! मेरा भी आत्म-स्वरूप इन महाप्रभु के जैसा ही है। भास हो जाने पर सकल सर्व विभाव-आत्मिक अशुद्धता से विषय-कषायादि की प्रवृत्ति रूप उपाधि से मेरा मन 'ओसर्यो' अर्थात् अपसृत हो गया, हट गया/दूर हो गया कि, अरे यह तो विभाव परिणति है, मेरी स्वभाव परिणति नही। इस विभाव परिणति का मैं न तो कर्त्ता हूँ और न यह मेरी है। इनका कर्तृत्व, भोक्तृत्व और परिणमन मेरे योग्य नही है। ऐसा विचार कर इन विषय-कषायादि से मेरा चित्त निवृत्त हो गया। इससे जितनी भी मेरी क्षायोपशमिक आत्म-परिणति है वह सर्व राग-द्वेष और असयम से निवृत्त होने लगी। और, सत्ता अर्थात् अनन्त गुण रूप आत्म-सत्ता एव उसके साधन की रीति सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना रूप आत्मिक कार्य के 'मार्ग' पथ 'भणी' उस पथ की ओर 'सचर्यो' मैने प्रस्थान किया अर्थात् इस आत्मा ने आत्म-साधना के मार्ग पर प्रयाण किया, उस पर चलना आरम्भ किया।

तुम प्रभु जाणग रीति,
सर्व जग देखता तो लाल । सर्व० ।
निज सत्ताये शुद्ध,
सहु ने लेखता हो लाल । सहु ने० ॥
पर-परिणति अद्वेप,
पणे उवेखता हो लाल । पणे० ।
भोग्यपणे निज शक्ति,
अनन्त गवेषतां हो लाल । अनन्त० ॥२॥

अर्थ—पुन: हे प्रभो ! आप षड्द्रव्यात्मक जगत् को अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन से जानते और देखते हैं; किन्तु जाणग—ज्ञायक रीति से। क्योकि, ज्ञान और दर्शन दोनो आपके स्वभाव हैं और राग-द्वेष नष्ट हो जाने से वे पूर्ण रूप से प्रकट हो गए हैं। अत आप मात्र ज्ञाता एव द्रष्टा है और जानना-देखना आपकी रीति—स्वभाव है। परन्तु, उसमे शुभ परिणामी वस्तु के ग्राहक नही हैं और अशुभ परिणामी वस्तु के द्वेषी नही, यथार्थ रीति से जगत् के ज्ञाता मात्र है। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, ग्राहकत्व, स्वामित्व आदि से मुक्त, अह ममत्व बुद्धि रहित सर्व भावो के ज्ञाता है। पुन, हे प्रभो ! आप निज सत्ताये अर्थात् सर्व द्रव्यो को स्व-स्व सत्ता रूप मे शुद्ध/निर्दोष नि सग जानते हैं। पचास्तिकाय मे तीन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय तो स्वत नि सग हैं। पुद्गलास्तिकाय का सयोगत्व तो भेद-संघात धर्म वाला है, किन्तु कर्त्तृत्व रूप से नही। वह स्व-स्व सत्ता का लोप नही करता। जीवास्तिकाय का यद्यपि पुद्गलास्तिकाय के साथ अनादिकालीन सम्बन्ध है जिससे विभाव परिणति है, तथापि सत्ता रूप से वह स्वभाव रूप मे मूल ज्ञानादि धर्ममय है। हे प्रभो ! उसको आप मूल सत्ता रूप से ही जानते एव देखते हैं। उसमे पर-परिणति-भाव अशुद्धता, ज्ञानावरणीयादि कर्म, काम-क्रोधादि सर्व को अद्वेष रूप से, आत्म-धर्म से भिन्न होने के कारण आप उनकी उपेक्षा करते है, उनका आदर नही करते। जिसका द्वेष से त्याग किया जाय, वह त्याग

ही वास्तविक त्याग नही है। त्याग समता के लिये कहा गया है; क्योकि समता सामायिक है और द्वेष भाव तो परपरिणति है, अत: आप उसकी उपेक्षा करते है। पुन: हे भगवन्! आप भोग्य रूप से स्वगुणो को भोगते है। अनन्तगुण पर्याय रूप, परम चैतन्य रूप, परमानन्द स्वरूप, सहज सुख रूप निज शक्ति है। ऐसी अनन्त-तत्त्व-विलासता, तत्त्व रमणता को ही आप भोग्य रूप गिनते है। स्वधर्म को ही भोग्य रूप जानते एव मानते है और उस अनन्त शक्ति की ही आप गवेषणा करते है। अत, हे सुविधि जिनेश्वर! आप परमात्म रूप परमधर्म के भोगी है।

दानादिक निजभाव,
हना जे परवशा हो लाल। हता०।
ते निज सम्मुख भाव,
ग्रही लही तुझ दशा हो लाल। ग्रही०॥
प्रभु नो अद्भुत योग,
सरूप तणो रसा हो लाल। सरूप०॥
भासे वासे तास,
जास गुण तुझ जिसा हो लाल। जास०॥३॥

अर्थ—जो दानादिक आत्मधर्म क्षायोपशमिक है, वे सर्व परानुयायी है, पुद्गलानुयायी है। वे अनादि से परवश हो रहे थे। वे सर्व आपकी शुद्ध वीतराग दशा को सम्मुख पाकर सभी दानादि क्षायोपशमिक भाव आत्म-सत्ता के सम्मुख अभिमुख होकर आत्मावलम्वी भाव ग्रहे अर्थात् ग्रहण कर लेते है और अर्हन्तावलम्वी होने के पश्चात् ये सारे गुण स्वरूपावलम्वी और गुणावलम्बी हो जाते हैं। हे प्रभो! आपके अद्भुत योग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नों की साधना रूप योग जो अन्य योग-साधना मुक्त होने के लिए की जाने वाली यम-नियमादि रूप अष्टाग योग की साधना से अद्भुत है, अनोखी है, उसकी रसा–भूमिका है अर्थात् आत्मा का

स्वरूप जो ज्ञानादि रत्नत्रयमय है, उसकी भूमि/स्थान है। अतः रत्नत्रय की साधना अन्य योगो से इस प्रकार अद्भुत है। रत्नत्रय का स्वरूप इस प्रकार है—

१ सम्यग्ज्ञान—निर्विकार, नि सहाय, निष्प्रयत्न, निर्मल, निरन्तर सकलाववोधक ज्ञान।

२ सम्यग् दर्शन—यथार्थ सर्व सापेक्ष अदूपित रूप से सकल पदार्थो का निर्धारण/निश्चय करने वाला है।

३ः सम्यक् चारित्र—नीराग, निश्चल, निरामय, तत्त्वैक-स्वरूप स्थिरता परिणाममय होता है।

यह रत्नत्रयी है। यह अनन्त स्वभाव, अनन्त पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भेदाभेद अस्ति-नास्ति स्वरूप से युक्त है। हे जिनेश्वर! ऐसी रत्नत्रयी आप मे परिणत हो गई है अर्थात् आप रत्नत्रयमय है। इस रत्नत्रयी का वासन–प्रतीति, भासन–पहचान/ज्ञान उसे ही होता है, जिसके आपके जैसे गुण प्रकट हो गये हो, अर्थात् हे सर्वज्ञ! हे त्रैलोक्यदीपक! हे नाथ! यह आपकी रत्नत्रयी जो आप जैसा ही गुणी हो, उसे ही प्राप्त होती है। उसे ही इसका ज्ञान है।

मोहादिक नी धूमि,
अनादि नी ऊतरे हो लाल। अनादि०।
अमल अखण्ड अलिप्त,
स्वभावज सॉभरें हो लाल। स्वभा०॥
तत्त्वरमण शुचि ध्यान,
भणी जे आदरे हो लाल। भणीजे०।
ते समता रस धाम,
स्वामि मुद्रा वरे हो लाल। स्वामि०॥४॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी मुद्रा परम समतारस की धाम/स्थान है। ऐसी अन्य किसी की नही हो सकती; क्योकि ऐसी समस्त परभाव-रहित परिणति अन्य किसी की है ही नही। वह तो आप सदृश वीतराग के ही है। जो वीतराग है, वही ऐसा हो सकता है और वही इस स्थिति को कह भी सकता है। किन्तु, आपकी मुद्रा के दर्शन मात्र से ही भव्य जीव की अनादिकालीन मोहादि—मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि षट्क, त्रिवेद—स्त्री पु नपु सक वृत्ति, विषयो की आसक्ति की घूमि—गहल/ अर्ध मूर्च्छा जिससे स्वरूप की अग्राहकता, परभाव-ग्राहकता, परभाव-रमणता रूप विभावता जो अनादिकाल से आत्मा मे है, वह उतरे अर्थात् दूर हो जाती है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह विभावता यदि अनादिकाल से है, तो आत्मा का स्व-परिणाम है, या पर-परिणाम है ? यदि स्व-परिणाम है तो विभाव क्यो कहते ? और, जो पर-परिणाम है तो अनादि नहीं कहना चाहिये।

उत्तर—यदि पहले जीव और पश्चात् कर्म माने तो, सिद्धो के भी कर्म लग सकते है, ऐसा मानना पड़ेगा। और, पहले कर्म और पश्चात् जीव मानें तो कर्त्ता बिना कर्म का सभव कैसे हो सकता है ? ऐसा पक्ष उपस्थित होता है। अत अनादि सहजात सयोग है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उभय सयोग युगपत् – साथ ही कहते हो तो फिर कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसे रहेगा ? उत्तर—उपादान धर्म मे एक समय मे कार्य - कारणता युगपत् ही है। जैसी सम्यग् ज्ञान सम्यग्-दर्शन की है, वैसी ही यहाँ भी है। **विशेषावश्यक भाष्य** से यह सब जानना चाहिये, जिसमे इस प्रकार कहा है—

"न य कम्मस्स वि पुव्वं कत्तुरभावे समुब्भवो जुत्तो।
निक्कारणओ सो विय तह जुगवुप्पत्ति भावे य।।

अर्थ—कर्त्ता के अभाव मे कर्म का समुद्भव पहले युक्त नही है। अतः दोनो की उत्पत्ति युगपत् और निष्कारण ही मानना उचित है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अनादि का सयोग है तो वियोग कैसे हो सकता है ? उत्तर—

"जह वेह कंचणोव्वल-संजोगोऽणाइ संतइगओ वि ।
वोच्छिज्जइ सोवायं तह जोगो जीव-कम्माणं ॥"

अर्थ—जैसे इस जगत् मे कनकोत्पल अर्थात् स्वर्ण व मिट्टी का सयोग अनादि सान्त रूप होने पर भी उपाय–अग्नि आदि द्वारा पृथक् किया जाता है वैसे ही जीव और कर्मो का सयोग भी यद्यपि अनादि है तथापि तप के द्वारा पृथक् किया जा सकता है ।

ऐसा पूज्य **श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** का वचन है । अर्थात् यह विभाव परिणाम यद्यपि अनादिकालीन है, तथापि वह कर्मसगजनित है, आत्म-स्वरूप या स्वभाव नही । अत. इस का वियोग उपाय से किया जा सकता है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विभाव यदि कर्म-जन्य है तो वह कर्तृत्व कैसे है ? उत्तर—जो स्वरूप का कर्त्ता आत्मा है, उस पर कर्मों का आवरण आया हुआ है । परभाव–कर्मसयोग से वह आत्मा पर-कर्म का कर्त्ता बना हुआ है । उस विभाव मोह की घूमि–गहल/नशा मद उतरे अर्थात् दूर हो, तब मिथ्यात्व रूप विभाव रमणता भूल/गलती दूर हो और अमल–राग-द्वेष-मल रहित, अखण्ड–कभी खण्डित नही होने वाला आत्म-स्वरूप, अलिप्त–कर्म लेप रहित ऐसा स्व-आत्मा का वास्तविक स्वरूप साँभरे अर्थात् स्मरण हो, भासन/गोचर हो । उसे यह भान हो कि मेरी आत्मा यद्यपि कर्मों से लिप्त है, किन्तु वह स्वभाव से अलिप्त है, निरामय है, कर्म से सम्बन्ध होने पर भी आत्मा पृथक् है, नि सग है । ऐसी आत्मा का जब भान हो तब वही साधक आत्मा स्वय के आत्म-तत्त्व मे जो शुद्ध निश्चय नय से सर्वथा शुद्ध है, उसमे रमण करता है । अनादि पौद्गलिक अशुद्ध वर्णादि के रमण को छोडकर स्व के ज्ञानादि अनन्त गुणो मे रमण करने लग जाता है, तब यही तात्त्विक चारित्र–अर्थात् सम्यक् चारित्र प्रकट हो जाता है । तदनन्तर शुचि पवित्र निर्मल ध्यान–अर्हन्तादि गुणवान् महापुरुषो के गुण-स्वरूप मे तन्मयता रूप धर्मध्यान करके अपने अनन्त पर्यायो की परिणति प्राग्भाव अनुभवैकत्व सत्तागत तिरोभावी का

भासन, एकत्व शुक्ल ध्यान को जो आदरे–स्वीकार करे, वह पुरुष सर्व विभाव का क्षय करके परम समता रस के धाम श्री जिनेन्द्रदेव की मुद्रा अर्थात् उनकी वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है। निर्मल पूर्णानन्द वाला बनता है।

प्रभु छो त्रिभुवन नाथ,
दास हूँ ताहरो हो लाल। दास०।
करुणानिधि अभिलाष,
अछे ए मुझ खरो हो लाल। अछे०॥
आतम वस्तु स्वभाव,
सदा मुझ साँभरो हो लाल। सदा०।
भासन वासन एह,
चरण ध्याने धरो हो लाल। चरण० ॥५॥

अर्थ—अब प्रभु से विनय पूर्वक स्वय का मनोरथ प्रकट करते है—हे भगवन् ! आप त्रिभुवन नाथ है अर्थात् त्रैलोक्य मे विद्यमान सभी जीवो के रक्षक हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणो को प्राप्त करवाने और उनकी रक्षा करने मे परम श्रेष्ठ कारणभूत है। हे प्रभो ! मै आपका दास हूँ। यद्यपि वीतराग का दासत्व तो सम्यक्त्वधारी देशविरति तथा सर्वविरति के है ही; किन्तु यह भद्रक–सरल एव विनम्रता सूचक औपचारिक वचन है। यहाँ श्रीमद् ने 'दास' का प्रयोग कर स्व की लघुता अभिव्यक्त की है। हे करुणानिधि ! करुणा के निधान मेरी यह अभिलाषा खरो अर्थात् वास्तविक है कि मुझे आत्मा के वस्तु स्वभाव–ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय स्वरूप है उनका सदा स्मरण होता रहे।

श्री **आचारांग सूत्र** मे आत्मा का निम्नाङ्कित रूप से शुद्ध स्वरूप-वर्णित है :—

"सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया, ओए अपइट्ठाणस्स खेयण्णे। से न दीहे, न हस्से, न वट्टे न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिये, न हालिद्दे, न

सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाये, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिण्णे सण्णे, उवमा न विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि।" (आचाराग सूत्र अ० ५, उद्दे० ६, सूत्र १७०)

अर्थ—उस आत्म-स्वरूप का कथन करने मे सभी स्वर–अ इ उ आदि असमर्थ है। इस आत्म-विषय को समझाने मे कोई तर्क समर्थ नही है, अर्थात् आत्मा अक्षरो–स्वर व्यञ्जनादि एव तर्कों से अतीत है, बुद्धि द्वारा भी ग्राह्य नही है। वह ओज स्वरूप है, सर्व मल एव कलङ्कादि से रहित है। वह औदारिक आदि शरीरो से रहित है अर्थात् सर्व ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों से मुक्त खेदज्ञ–केवल ज्ञान युक्त है। आत्मा का कोई सस्थान/आकार दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्र्यस–तिकोन, चतुरस्र–चौकोर, परिमण्डल–गोलाकार रूप नही है। वह आत्मा वर्ण रहित है, अर्थात् कृष्ण, नील, पीत, रक्त, श्वेत नही है। वह गन्ध रहित–सुगन्ध एव दुर्गन्ध विहीन है। उसमे कोई रस–स्वाद नही है। रस पाच हैं :—तिक्त, कटु, कषाय आम्ल और मधुर। आत्मा का कोई स्पर्श कर्कश–खुरदरा, मृदु–कोमल/नरम, गुरु-भारी, लघु–हल्का, शीत–ठण्डा, उष्ण–गरम, स्निग्ध–चिकना, रूक्ष-लूखा–ये आठ स्पर्श नही है। वह आत्मा कापोतादि लेश्याओ से मुक्त है, अथवा काऊ शब्द से शरीर भी लिया जा सकता है। आत्मा शरीर मे रहित है। न रुहे अर्थात् वृक्ष तृणवत् उगने वाला नही है। सगरहित है। न स्त्री है, न पुरुष है, न अन्यथा अर्थात् नपु सक है। परिज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ है, सज्ञ–समदर्शी है। उसे समझाने को कोई उपमा नही है। आत्मा की सत्ता अरूपी है। उस अपद का कोई पद नही अर्थात् पद, स्थान या चिन्ह नही है, क्योकि आत्मा अमूर्त्त है।

शुद्ध सत्ता स्वरूप वाला, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्क वाला, स्वरूप का कर्त्ता, स्वरूप का भोक्ता, स्वरूप परिणामी, असख्य प्रदेशी, प्रत्येक प्रदेश मे अनन्त पर्याय वाला, नित्यानित्यादि अनन्त स्वभाव वाला, स्वकीय कारक चक्र

परिणामी रूप ऐसा मेरा स्वभाव है,उस का सदा मुझे स्मरण रहे एव मुझे उसका भासन(ज्ञान) रहे। वासना का अर्थ प्रतीति, भासन का ज्ञान और रमण का अर्थ चारित्र है। इन्ही मे सदैव मेरा ध्यान रहे अर्थात् उसी आत्म-स्वभाव मे मेरी तन्मयता रहे, ऐसा मेरा मनोरथ है। साधक भाव में साधक-रीति से सिद्धावस्था मे सिद्ध-रीति से जीव रहता है। मैं साधकावस्था मे रहा हुआ अपनी साधना मे लीन रहूँ, यही मनोरथ/अभिलाषा है।

प्रभु मुद्रा ने योग,
प्रभु प्रभुता लखे हो लाल। प्रभु०।
द्रव्य तणे साधर्म्य,
स्वसम्पत्ति ओलखे हो लाल। स्वसपति० ॥
ओलखता बहुमान,
सहित रुचि पण वधे हो लाल। सहित०।
रुचि अनुयायी वीर्य,
चरण धारा सधे हो लालाचरण ॥ ६० ॥

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करे कि तू अपने आत्म-धर्म की रुचि वाला बना, इसमें प्रभुजी का क्या उपकार हुआ? उनकी क्या आवश्यकता है? इसी का उत्तर इस गाथा मे है। जो जीव आत्म-स्वभाव को विस्मृत कर परभाव मे रमण करने वाला होकर 'यह मेरा शरीर ही मेरी आत्मा है' ऐसा भाव रखता हुआ, पुद्गलो का व्यासगी, अनग-कामदेव का सगी अथवा कुलिगी और लिगी बनने पर भी ममता भाव में रमण करते हुए, 'स्व-सत्ता-धर्म को भूल गया था', वह अब अनन्त ज्ञानी मोह-रहित वीतराग की स्थापना निक्षेप रूप प्रशान्त मुद्रा के दर्शन कर, योग मिलने पर अनन्त गुण स्वरूप सकल ज्ञायक शुद्धात्म रूप ऐसे प्रभु की प्रभुता को लखे अर्थात् विचार करता है। और, अपनी आत्मा के साथ तुलना करता है कि, अहो! जीवो के गुणो का साधर्म्य एक समान होने पर भी प्रभु तो सिद्ध हो गए और मैं ससार मे ही भ्रमण कर रहा हूँ। मैं और भगवान सत्ता से सदृश ही हैं। गुण पर्याय स्वभाव

से भी तुल्य हैं, जैसी प्रभु की ज्ञानादि सम्पदा है। इन श्री सुविधि-नाथ तीर्थ कर भगवान की सम्पत्ति–ज्ञानादि अनन्त गुण प्रकट हो गये है, वैसी और उतनी ही सम्पदा मेरी आत्म-सत्ता मे भी है, अतः मैं भी इतनी ही सम्पदा का स्वामी हूँ। ऐसा ओलखे अर्थात् अपने को जान लेता है, पहचान लेता है। इस प्रकार स्व-सम्पत्ति को जान लेने पर उस पर बहुमान उत्पन्न होता है और उसे प्रकट करने की रुचि भी जागृत हो जाती है कि मेरी ऐसी ज्ञानादि सम्पदा कैसे प्रकट हो। रुचि जागृत होने पर उसे प्राप्त करने का उद्यम होता है। उस रुचि का अनुयायी वीर्य (शक्ति-पुरुषार्थ) भी हो जाता है, क्योकि शक्ति-स्फुरण भी रुचि का अनुयायी होता है। और, जिस ओर वीर्य-स्फुरण (शक्ति प्रयोग) है, उधर रमण भी होता है अर्थात् रुचि वाली वस्तु को प्राप्त करने का उद्यम/उद्योग करता है। साराश यह है कि प्रभु के दर्शन होने पर प्रभु को प्रभुता/विशिष्टता अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणो का ज्ञान करने की भावना उत्पन्न होती है। जानने पर स्वात्मा भी ऐसा ही ज्ञानादि अनन्त सम्पत्ति का स्वामी है, ऐसा बोध होता है। यह बोध होने पर स्व-सम्पत्ति को प्रकट करने की रुचि जागृत होती है। तदनन्तर रुचि का अनुयायी वीर्य सम्यक् चारित्र आत्म-रमण रूप बनकर उधर ही कार्यशील बनता है। अर्थात् ज्ञानादि अनन्त गुणो को विकसित करने की प्रक्रिया द्वारा सयम तप ध्यान आदि मे सलग्न होकर, आवारक कर्मो का क्षय कर, अनन्त ज्ञानादि समुपलब्ध कर पूर्ण सिद्धावस्था भी क्रमश प्राप्त कर लेता है। अत प्रभु-मुद्रा का दर्शन इन सर्व का मूल निमित्त है, इसमे कोई सन्देह नही है। स्थापना दर्शन का भी उतना ही लाभ है जितना साक्षात् दर्शन का। इसका विशद वर्णन श्री शान्ति जिन स्त-वन में आ रहा है, अत. वहाँ द्रष्टव्य है।

क्षायोपशमिक गुण सर्व,
यथा तुझ गुण रसी हो लाल। यथा०।
सत्ता साधन शक्ति,
व्यक्तता उल्लसी हो लाल। व्यक्तता०॥
हवे सम्पूरण सिद्धि,
तणी शी वार छे हो लाल। तणी०।

देवचन्द्र जिनराज,
जगत्रय आधार छे हो लाल । जग०॥७॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी मुद्रा के दर्शन करने पर मेरे भी सर्व क्षायोपशमिक गुण, चेतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यादि समस्त अब आपके गुणों के रसिक बन गये हैं। इस प्रकार गुणो की रसिक चेतना बन जाने पर जो आत्म-शक्ति अनन्त गुण रूप सत्ता कर्मो से आच्छादित थी, वह किञ्चित् व्यक्त होकर उल्लसित हुई, जिससे साधन-शक्ति भी जागृत हो गयी। यो निमित्त कारण मिलने पर उपादान कारण आत्मा भी तत्त्वरुचि, तात्त्विक, तत्त्वावलम्बी वन गयी, तो अब सम्पूर्ण सिद्धता प्रकट होने मे क्या देर हो सकती है ? अतः 'श्री देवचन्द्र' स्तुतिकर्त्ता अथवा सर्व देवो मे चन्द्रवत् श्री जिनराज श्री तीर्थ कर भगवान सुविधिनाथ प्रभु जगत्रय तीन जगत मे निवास करने वाले सभी जीवो के आधार है अर्थात् जिन मुद्रा के आलम्बन से जगत्त्रय निवासी भव्यजीवो मे से अनन्त जीव अतीत मे सिद्धि का वरण कर चुके है, वर्तमान मे भी अर्हन्त देव के आलम्बन से सिद्ध हो रहे है। अतः अर्हन्तदेव का दर्शन, स्मरण, वन्दन, नमन, पूजन, स्तवन और ध्यान करो, जिससे हे भव्य जनो ! सिद्धि प्राप्त हो। □

१०. श्री शीतल जिनेन्द्र स्तवन

(राग—आदर जीव क्षमा गुण आदर)

शीतल जिनपति ! प्रभुता प्रभु नी,
मुझ थी कहिय न जाय जी ।
अनन्तता निर्मलता पूरणता,
ज्ञान बिना न जणाय जी ।।शी०।।१।।

अर्थ—अब दसवे तीर्थंकर श्री शीतलनाथ प्रभु की स्तवना करते है। कवि का कथन है कि श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र की अनन्त अविनश्वर आत्मिक प्रभुता प्रत्यक्ष तो केवलीगम्य है तथा सम्यग्दृष्टि तत्त्वरुचि जीवो की श्रद्धा मे है। अत कहते है कि हे शीतल जिनपति! आपकी जो प्रभुता, कषाय, नोकषाय, तृष्णा आदि के ताप से मुक्त परम वीतरागता, नि स्पृहता, परभाव अयोग्यता से प्रकट परम शीतलता के रूप में है, अतः आपका नाम सार्थक है। आप जिन-सामान्य केवली मुनिजनो के पति-स्वामी है, प्रभु हैं। ऐसी आपकी प्रभुता अनन्त सहज सम्पदा (महान् ऐश्वर्य) मुझ जैसे अल्पज्ञानी द्वारा नही कही जा सकती, क्योकि सिद्ध भगवन्तो के अभिलाप्य एव अनभिलाप्य अर्थात् कहे जा सके व न कहे जा सकें, ऐसे सर्व गुण पर्याय निरावरण हो गये हैं। उनमें अनभिलाप्य तो यद्यपि केवलज्ञानी जानते है, पर वे वचन अगोचर है, अत कह नही सकते। और, जो अभिलाप्य है, वे भी अनन्त है और वचन-प्रवृत्ति क्रमिक है, सीमित आयु में कहे नही जा सकते।

जीव द्रव्य अनन्त है; एक-एक जीव के असंख्य प्रदेश है, प्रत्येक प्रदेश मे अनन्त ज्ञानादि गुण है, प्रत्येक गुण के अनन्त पर्याय है, उन पर्यायो में अनन्त स्वभाव है। कहा भी है—

"जीवा पुग्गल समया, दव्वपएसा य पज्जवा चेव।
थोवाऽणंताऽणंता विसेसमहिया दुवेऽणंता॥"

अर्थ—जीव, पुद्गल और समय-काल ये तीनो द्रव्य अनन्त हैं। इनमे जीव के प्रदेश असंख्य है। पर्याय अनन्त है और पुद्गल के द्रव्य प्रदेश परमाणु अनन्त हैं। काल अप्रदेशी है, पर समय अनन्त है।

हे प्रभो! आपके गुणो की अनन्तता है, 'निर्मलता' आपके सर्व गुण पर्याय कर्मावरण-रहित होने से निर्मल है, उस निर्मलता का तथा 'पूर्णता' सर्व शक्तियो का पूर्णता से प्रकट होने रूप पूर्णता है। ये सभी केवलज्ञान के विना जानी नही जा सकती, अत मैं तुच्छ बुद्धि उनका वर्णन कैसे कर सकता हूँ?

चरम जलधि जल मिणे अंजलि,
गति जीपे अतिवाय जी।
सर्व आकाश ओलंघे चरणे,
पण प्रभुता न गणाय जी॥शी०॥२॥

अर्थ—ऊपर की गाथा मे प्रभुता को अकथ्य कहा, अब उसे ही दृष्टान्तो द्वारा पुष्ट करते हैं। यथा—चरम जलधि अर्थात् स्वयम्भूरमण समुद्र, जिसकी बाह्य परिधि साधिक तीन रज्जु है, ऐसा विशाल है। उसके जल को कोई अंजलियों से माप लेने की बात कहे, अथवा प्रलय काल के महावात की गति चाल को भी जीत लेने का अभिमान पूर्ण वचन कहे, या अनन्त आकाश को एक छलाग मे उल्लघन करने का दावा करे। यद्यपि ये सभी दृष्टान्त मात्र हैं, ऐसा कभी हो नही सकता। फिर भी देव सयोग से हो जाय, तथापि श्री शीतलनाथ भगवान की प्रभुता, क्षायोपशमिक शक्ति वाले द्वारा न जानी जा सकती है,

न गणाय, अर्थात् गणना नहीं की जा सकती। श्री वीतराग सर्वज्ञ की सम्पूर्ण प्रभुता सम्पूर्ण केवलज्ञानी ही जानते हैं, परन्तु वे भी वचन योग मे कह नही सकते, अतः आपकी प्रभुता अनन्त है।

सर्व द्रव्य प्रदेश अनन्ता,
तेह थी गुण पर्याय जी।
तास वर्ग थी अनन्त गुणो प्रभु,
केवलज्ञान कहाय जी ।।शी०।।३।।

अर्थ—अब भगवान् की अनन्तता का वर्णन करते हैं। जगत् में षड् द्रव्य हैं। उनमे से दो द्रव्य—धर्मास्ति और अधर्मास्ति असंख्यात प्रदेशी हैं, अर्थात् एक-एक द्रव्य हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है और काल अप्रदेशी है। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य भी अनन्त है। इनसे भी आकाश की अनन्तता सब से महान् है। द्रव्यों से उनके गुणो की अनन्तता अत्यन्त अधिक है। उनसे भी पर्याय अनन्त गुण हैं। यह अधिकार अल्पबहुत्व पद (**प्रज्ञापना सूत्र**) मे है, वहाँ द्रष्टव्य है। यद्यपि जो पर्याय हैं, वे मूल रूप से द्रव्य एव गुणों से भिन्न नही हैं। वस्तु मे पर्याय की परिपाटी/श्रेणी है। उन पर्यायों का समूह मिलकर एक कार्य करता है, उस प्रवृत्ति को गुण कहते हैं, किन्तु, सज्ञा, सख्या, लक्षण और कार्य भेद से पर्यायो से गुण भिन्न हैं। अत. गुण की भिन्न व्याख्या **उत्तराध्ययनादि** सूत्रो मे है। यथोक्तम्—

"दव्वाण य गुणाण य पज्जवाण य नाणेणं।"

गुणाणामासओ दव्वं एग दव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ निस्सिया भवे।।"

अर्थ—द्रव्य गुणों का आश्रय है। एक द्रव्य के आश्रित गुण हैं। लक्षण और पर्याय उभयाश्रित हैं।

ऐसी भिन्न व्याख्या है। श्री **प्रज्ञापनासूत्र** में कथन है कि—

"से णं भंते ! जीवाणं पुग्गलाणं सव्व दव्वाणं सव्व पज्जवाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा ? गोयमा ! सव्व थोवा जीवा पुग्गला अणंतगुणा अद्धा समया अणंतगुणा सव्व दव्वा विसेसाहिया सव्व पएसा अणंतगुणा सव्व पज्जवा अणंतगुणा ।।"

अर्थ—भगवन् ! ये जीवो के, पुद्गलों के, सर्वद्रव्यो के, सर्व प्रदेशो क, सर्व पर्यायो के स्वरूप किन-किन से अल्प, वहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ? उत्तर—गौतम ! सर्व से थोडे जोव द्रव्य है, उनसे पुद्गल द्रव्य अनन्त गुण है, उनसे काल के समय अनन्त गुण है। सर्व द्रव्य विशेषाधिक हैं। सर्व प्रदेश अनन्त गुण है। सर्व पर्याय अनन्त गुण है।

इन सव को जानने वाला केवलज्ञान इन सव से अनन्त गुण है। इस प्रकार प्रभु के केवलज्ञान की अनन्तता है। वह यो समझिये कि षड् द्रव्य के सभी गुण पर्याय अस्तित्व रूप से विद्यमान है, उन सव को केवलज्ञान जानता है। उन षड् द्रव्यो मे परस्पर की अपेक्षा से नास्तित्व धर्म भी अनन्त है, उन्हे भी केवलज्ञान जानता है तथा इन सव से अनन्त गुण दूसरे अनेक भाव है, उन्हे भी केवलज्ञान जानता है। जिस प्रकार केवलज्ञान की अनन्त शक्ति है, उसी प्रकार केवल दर्शन की भी उतनी ही अनन्त शक्ति है। अत. द्रव्यो के प्रदेश पर्यायो के वर्ग करे और उन्हे भी अन्नत गुणो से गुणाकार करे, इतना आपका केवलज्ञान है, अर्थात् ऐसी आपके ज्ञान की अनन्तता है। श्री **भगवती सूत्र** मे कहा है— "**अमिय नाणं केवलिस्स**" केवलज्ञानियो का ज्ञान अमित है, अनन्त है।

केवल दर्शन एम अनन्तूं
ग्रहे सामान्य स्वभाव जी।
स्व पर अनन्त थी चरण अनन्तू,
समरण सवर भाव जी ।।शी०।।४।

अर्थ—ये सर्व भाव हैं, वे सर्व सामान्य युक्त हैं और वे सर्व केवल-ज्ञान गम्य हैं, अथवा सामान्याश्रयी हैं। क्योंकि, जो विशेष है वह सामान्य-रहित नही होता और सामान्य विशेष-रहित नही होता। सर्व पदार्थ सामान्य विशेष रूप है।

"न सामन्नतओ नत्थि विसेसो ख पुप्फ वा।"

अर्थात् सामान्य नही तो विशेष भी नही, दोनो साथ रहते हैं। एक के अभाव मे दूसरे का भी आकाश पुष्पवत् अभाव ही होता है। **सम्मति-तर्क** मे भी कहा है—

"दव्व पज्जव विउवं दव्व विउत्ता पज्जवा नत्थि।
उप्पाय-ट्ठिइ भंगा हवइ दविअं लक्खणं एवं॥"

अर्थ—द्रव्य पर्याय से वियुक्त नही है और पर्याय द्रव्य से वियुक्त नही है। उसके उत्पाद और स्थिति होते हैं। यही द्रव्य का लक्षण है अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही सद् द्रव्य का लक्षण है।

अतः सब द्रव्यों के सामान्य धर्म अनन्त हैं। उन्हे केवल-दर्शन गुण से भगवान् देखते हैं और इनसे भी अनन्त गुण सामान्य धर्म को देखने की उनमे शक्ति है, अतः इतने पर्यायो वाला केवल-दर्शन गुण आप मे है। **विशेषावश्यक** मे कहा है—

"यावन्तो हि ज्ञेयस्य पर्यायास्तावन्तस्तदवभासकत्वेन ज्ञानस्याप्येऽष्टव्याः।"

अर्थ—जितने ज्ञेय के पर्याय है उतने अवभासकत्व रूप से ज्ञान के भी जानने चाहिये, इष्ट होने चाहिये। श्री **भगवती सूत्र** में भी कहा है—"**अणंता दंसणपज्जवा**"—अर्थात् केवल दर्शन के भी अनन्त पर्याय हैं। अत. केवल दर्शन भी अनन्त है। यह दर्शन सर्व पदार्थों के अस्तित्व सत्त्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य द्रव्यास्तिक नय को देखता है। ऐसा ही आपका चारित्र गुण है, वह भी अनन्त पर्याय वाला है। अपने आत्मा के सर्व पर्याय हैं, वे सब स्वधर्म हैं। स्वय से भिन्न अनन्त जीव द्रव्य तथा सर्व अजीव द्रव्य हैं। उनके धर्म परधर्म है अर्थात् सर्व स्वधर्म मे रमण, परधर्म मे अरमण, ये सर्व पर्याय चारित्र

के हैं अर्थात् स्वरूप-रमण, परभाव-अरमण, ये सब पर्याय चारित्र के है। स्वरूप-रमण व परभाव-निवृत्ति यह सम्यक् चारित्र की परिणति है। अनादि कालीन पर-रमणीयता भूल से हो रही है। उसे दूर करके स्वशक्ति–चेतना वीर्यादि की परिणति को परभाव से रोक कर स्वरूप मे स्थिर रखना। यह सवर भाव ही सम्यक् चारित्र की अनन्तता है। इस सवर श्रेणी का "**व्यवहार भाष्य**" मे इस प्रकार वर्णन है—

सर्व जीवो से अनन्त गुण चारित्र के अनावृत विभाग की एक वर्गणा करे। ऐसी असंख्य वर्गणाओ का एक स्पर्द्धक होता है। ऐसे असंख्य स्पर्द्धकों का एक सयम-स्थान होता है। वह भी सर्व जघन्य सयम स्थान है। उसे असख्य षड् गुण रीति से असख्य षड् गुण करने पर असंख्यातवाँ सयम-स्थान होता है। यह चारित्र की अविभागीय अनन्तता बतायी। हे प्रभो ! ऐसा चारित्र गुण आपका सर्वथा निरावरण है, अत : अनन्त है।

द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव गुण,
राजनीति ए चार जो।
त्रास विना जड़ चेतन प्रभुनी,
कोई न लोपे कार जी ।।शी०।।५।।

अर्थ—इसी प्रकार वीर्यादि गुणो की भी स्वधर्म से अनन्तता जाननी चाहिये। ऐसी अनन्त स्वगुण सम्पदा के आप स्वामी हैं। हे नाथ हे परमेश्वर ! आप जगद्वर्ती जीव एव अजीवो के गुण स्वभाव पर्याय, जो वे सर्व 1 द्रव्य 2. क्षेत्र 3 काल और 4 भाव, इन चार रीति से परिणमन रूप उन्हे जानते हैं। आपके ज्ञानादिक गुण भी द्रव्यादिक चार परिणमन रूप परिणत होते हैं और सर्व रूप एवं परधर्म का परिज्ञान करते हैं। वे भी चार प्रकार से परिच्छेदन (विभाग से जानकारी) करते हैं। वे चार प्रकार निम्नांकित हैं—

1. समुदाय—द्रव्य का धर्म है।

2 आधारता—क्षेत्र धर्म है।

3. वर्त्तना—उत्पाद व्यय रूप काल का धर्म है। यद्यपि निश्चय से विचार करने पर तो काल धर्म द्रव्य से भिन्न नही है, क्योकि पञ्चास्तिकाय की वर्त्तना ही काल धर्म है। इस विषय की श्री **तत्त्वार्थ सूत्र, धर्मसंग्रहणी** और **विशेषावश्यक भाष्य** मे विस्तृत चर्चा है। अनपेक्षित द्रव्यास्तिक नय से काल को द्रव्य कहा है, किन्तु स्वाभाविक द्रव्यत्व इस मे नही है। अत द्रव्य की वर्त्तना ही काल है।

4 द्रव्य का मूल धर्म भाव है। इस रीति से सर्व परिणमन है। यही श्री वीतराग सर्वज्ञ देव की 4 प्रकार की राजनीति है। प्रभु की इस आज्ञा को सर्व द्रव्य शिरोधार्य करते है। इसे ही स्तवना के पद मे आरोप करने के लिये राजनीति शब्द से अभिहित किया है। प्रभु की इस आज्ञा को सर्व द्रव्य स्वीकार करते है। अन्य सम्राट् अथवा राजा की आज्ञा को कोई मान्य करते है, कोई नही मान्य करते, विद्रोह भी करते है। परन्तु, श्री सर्वज्ञ की आज्ञा स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप राजनीति का न कोई द्रव्य विरोध करता है और न कोई द्रव्य इसका उल्लघन करता है। जिस रीति से आप अपने ज्ञान मे जानते हैं, आपका ज्ञान परिणत होता है उसी रीति से सर्व द्रव्य परिणत होते हैं। जिस प्रकार से आप प्ररूपित करते है, उसी प्रकार से सर्व द्रव्यो की परिणति होती है। न तो आप किसी को आज्ञा देते है और न कोई आज्ञा का भग करता है, जिससे कि आप किसी को त्रास-दण्ड दे, भयभीत कर। वे आपके ज्ञान की परिणति का कभी लोप नही करते, आज्ञा का भग नही करते। ऐसी सहज आज्ञा सम्यग्दृष्टि, देश-विरति, सर्वविरति द्वारा दृष्ट व इष्ट है। अत. यह निष्प्रयास अखण्ड आज्ञा है।

शुद्धाशय थिर प्रभु उपयोगे,
जे समरे तुझ नाम जी।
अव्याबाध अनन्तू पामे,
परम अमृत सुख धाम जी ।।शी०।।६।।

अर्थ—अब प्रभु-सेवा का फल कहते हैं। साधक आत्मा के शुद्ध एवं निर्दूषण आशय से जो क्षुद्रादि 8 दोष कहे गये है :-

"क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठ :।।
अज्ञो भवाभिनन्दी च, निष्फलारम्भ साधक ।।"

—हरिभद्रसूरि

क्षुद्र–तुच्छ बुद्धि वाला, लोभरति–जिसे कुछ प्राप्त करना ही रुचिकर हो, दीन–दरिद्रतादि से अथवा स्वभाव से ही अपने आप को दीन-हीन समझने वाला, मत्सरी–मत्सर-द्वेष भाव से युक्त, भयवान–डरपोक, शठ–दुष्ट प्रकृति, अज्ञ–मूर्ख और भवाभिनन्दी–भौतिक समृद्धि विषयक भोगोपभोगो मे आनन्द सुख मानने वाला। इन दोषो से युक्त होने पर साधक के साधना के प्रयास सारे निष्फल हो जाते हैं।

अतः उपर्युक्त दोपो से रहित साधक को ही कार्यसिद्धि की उपलब्धि होती है तथा उसे दग्धादि दोप से मुक्त होना चाहिये।

1. विष अनुष्ठान—पारलौकिक फल की आशा से किया जाने वाला धार्मिक अनुष्ठान।

2 गरल अनुष्ठान—पारलौकिक ऐन्द्रिय सुख अथवा देवादि सुख सम्पत्ति की इच्छा से देव गुरु धर्म की आराधना करना।

3 अन्योन्य अनुष्ठान—साध्यशून्य, सापेक्षता रहित अनुष्ठान करना।

इन तीनों दोषो से मुक्त होकर जिनाज्ञानुसार विधियुक्त प्रीति, भक्ति, वचन-पालन और असग रीति से किये जाने वाले अनुष्ठान :—

4 तद् हेतु अनुष्ठान—तद्-मोक्ष, हेतु-कारण है जिसका अर्थात् आत्मा को कर्ममुक्त करना ही जिसका एकमात्र हेतु है।

5. अमृत अनुष्ठान—त्रिकरण और त्रियोग की एकता से हर्ष सहित तन्मय रूप से और विधियुक्त किया जाने वाला अनुष्ठान अमृत अनुष्ठान है।

इस प्रकार शुद्धाशय मे स्थिर होकर चपलता एवं शंकादि दोषो से रहित प्रभु के स्वजात स्वाभाविक ज्ञानादि गुणो में उपयोग रखते हुये जो भव्य भक्तजन आत्मार्थी होकर परमसत्तामय शीतलनाथ भगवान् का ध्यान करने के लिये उनके नाम का स्मरण करता है, वह जीव अनुक्रम से वीतराग गुणवान श्री अर्हन्तदेव के आलम्बन से आत्म उपादान की

कार्यसिद्धि को जो निष्कर्म अवस्था स्वरूप है, उसे प्राप्त करता है। तब वह अनन्त अव्याबाध सुख अर्थात् परसग-रहित आध्यात्मिक सुख को समुपलब्ध करता है। उस सुख का स्वरूप उत्कृष्ट अमृतमय, अविनाशी, सहज ज्ञानानन्दमय, अनन्त सुखधाम और शाश्वत है। **शक्रस्तव** के निम्नांकित पाठ में उस सुख का वर्णन इस प्रकार हैं—शिव-उपद्रव रहित, अयल-अचल स्थिर, अरुय-अरुक् रोग रहित, अणत-अनन्त, अक्खय-कभी क्षय नही होने वाला, अव्वाबाह-अव्याबाध, अपुणरावित्ति-जिसमे पुनरावृत्ति का अभाव है अर्थात् कम हो जाय या नष्ट हो जाय तो पुन-रावृत्ति-पुन प्राप्ति की आशा से लौटा लाने का प्रयास नही करना पडता। ऐसे सिद्धिगइ-सिद्धिगति, नामधेय-नामक, ठाण-स्थान को संपत्ताण-प्राप्त हो गये हैं। और, **सम्मति** ग्रन्थ मे भी इस प्रकार वर्णन प्राप्त है :—

**"अइसुइ य सयल जगसिहर-मरुय-निरुवम-सहाव-सिद्धिसुहं।
अनिहण-मव्वाबाहं निरियण सारं अणुहवंति॥"**

अर्थ—अत्यन्त शुचि, सकल जगत् का शिखर, अरूपी, निरुपम, स्वाभाविक सिद्धिसुख का जो अनिधन-अमृतमय है, अव्याबाध-विघ्न-रहित है, त्रिजगज्जन में सारभूत है, उसका वे जीव जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं अनुभव करते है। ऐसे सुखो को प्रभु का स्मरण करने वाले जीव पाते हैं।

आणा ईश्वरता निर्भयता,
निर्वाञ्छकता रूप जी।
भाव स्वाधीन ते अव्यय रीते,
एम अनन्त गुण भूप जी॥णी०॥६॥

अर्थ—अब पुन. प्रभु की अनुपम प्रभुता का वर्णन करते हैं। प्रभुता के क्या-क्या चिन्ह होते हैं? उन्हे बताते है। प्रथम चिन्ह है—आणा-आज्ञा, राजा, महाराजा, सम्राट्, शासक आदि की आज्ञा का पालन अनिवार्य है। वे दण्ड-भय, आतक, प्रताप आदि के द्वारा सेवको से ही नही अपितु प्रजाजनो से भी आज्ञा का पालन करवाते हैं। किन्तु,

हे प्रभो ! आपकी आज्ञा तो सहज रूप से सभी द्रव्य पालन करते है। अतः आज्ञा-भग का प्रसग ही नही आता है। आपकी ईश्वरता-ऐश्वर्य भी अलौकिक होने से अविनश्वर है। लौकिक ऐश्वर्य के स्वामी तो सीमित ऐश्वर्य के पौद्गलिक/भौतिक विनश्वर के स्वामी है जबकि श्री तीर्थ कर भगवान् तो जगत्त्रय के स्वामी हैं। उनका ऐश्वर्य तो अनन्त और असीम है। समवसरण की अद्भुत रचना, अष्ट महाप्राति हार्य, चतुस्त्रिशत् अतिशय, पचत्रिशत् वाणी के अतिशय, कोटि-कोटि देवताओ द्वारा सेवा में उपस्थित रहना, बड़े-बडे चक्रवर्ती राजा महा-राजाओ द्वारा आज्ञा शिरोधार्य करना आदि तो बाह्य ऐश्वर्य है। आन्त-रिक-आत्मिक वैभव तो अपरम्पार है। अनन्त चतुष्टय के अतिरिक्त अनन्त गुण रूप सम्पत्ति का तो कोई वर्णन ही नही कर सकता। आपकी निर्भयता तो अवर्णनीय है। अन्य नृपादि या श्रेष्ठिजन आदि तो स्वय के स्वजन एव परिजनादि से भी भयभीत रहते है, पर-चक्र-शत्रुओ से भी उन्हे भयग्रस्त रहना पडता है और मरण-भय से इन्द्र, अहमिन्द्र एव सभी चतुर्निकाय के देव भयभीत रहते हैं। हे श्री शीतल जिन ! आप तो निर्मलानन्द के पूर्ण रूप है, शुद्ध देवाधिदेव हैं, स्व की अखण्ड सम्पदा के स्वामी है और सर्वदा सर्व भयो से रहित हैं। आप की निर्वा-ञ्छकता भी अनुपमेय है। जबकि इस जगत् के देव, दानव, इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती सम्राट्, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, नृपति धनपति और तिर्यञ्चगति के जीव—सिंह, गज, अश्वादि एव जलचर, खेचर, पशु-पक्षी, कीट, पतग आदि तथा सुख के वाञ्छक नरक गति के जीव सभी वाञ्छा से ग्रस्त है। साराश यह है कि सभी जीव मात्र तृष्णा के उदय से किसी न किसी प्रकार की वाञ्छा, अभिलाषा से युक्त है। परन्तु, आप वीतराग देव तो सर्व प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, अत. वाञ्छा का जो मोह-नीय कर्मोदय जनित विकार है, उसका तो प्रश्न ही नही है। आपका निर्वाञ्छकता गुण अवर्णनीय है। प्रभु श्री परमात्मा का भाव-धर्म शुद्ध चिदानन्द अनन्त ज्ञानादि सर्व स्वाधीन है, पराधीन नही। अव्यय रीति से युक्त है, अविनाशी है। इस प्रकार आप अनन्त गुणो के भूप हैं, राजा हैं।

अव्याबाध सुख निर्मल ते तो,
करण ज्ञाने न जणाय जी ।
तेहज एहनो जाणग भोक्ता,
जे तुम सम गुण राय जी ।।शी०।।८।।

अर्थ—हे भगवन्! आपका अव्याबाध सुख जिसे आप भोगते हैं, वह अतीन्द्रिय सुख अनन्त है। वह सुख आपके स्वाधीन है, अनन्त है। अत्यन्त निर्मल—मलरहित निर्दूषण है। वह करण—इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मति एव श्रुत ज्ञान से नही जाना जा सकता। अवधि व मन:पर्यय ज्ञान यद्यपि इन्द्रियाधीन नही है तथापि वे मात्र रूपी भाव को जानते हैं। जीव-स्वरूप जो अरूपी है, उसे नही जान सकते। सांराश यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञान से आपके अव्याबाध सुख का ज्ञान नही किया जा सकता, किन्तु जो जीव आपके समान गुणो का भूप/स्वामी बन गया, वही परमात्मा इस अव्याबाध सुख के स्वरूप को जान सकता है, उसका अनुभव कर सकता है। अन्य जीवो मे न ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव है और न वह जान सकता है। अत उसके भोगी तो मात्र सिद्ध भगवान हैं। अन्य के द्वारा वह सुख न ज्ञेय है और न भोग्य है।

एम अनन्त दानादिक निज गुण,
वचनातीत पण्डूर जी ।
वासन भासन भावे दुर्लभ,
प्राप्ति तो अति दूर जी ।।शी०।।९।।

अर्थ—इस प्रकार अनन्त दानादि—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सिद्धत्व प्रमुख जो आपके निज गुण हैं, वे वचनातीत है अर्थात् वचन से नही कहे जा सकते हैं। वे पण्डूर—अत्यन्त उज्ज्वल हैं अथवा पण्डूर—महान् हैं। ऐसे आत्मगुणो का भाव से वासन—श्रद्धा, भासन—ज्ञान भी अत्यन्त दुर्लभ है, तो प्राप्ति अर्थात् ऐसी सिद्धता की उपलब्धि तो अत्यन्त दूर है।

सकल प्रत्यक्ष पणे त्रिभुवन गुरु,
जाणु तुझ गुणग्राम जी।
बीजूं काई न मांगू स्वामी,
एही करो मुझ काम जी ।।शी०।।१०।।

अर्थ—हे त्रिभुवन गुरो! आपकी अनन्त गुण-सम्पदा को मै प्रत्यक्ष रूप से जानू, मात्र यही मेरी याचना है, यही इच्छा है। यही कामना/अभिलाषा है। आपकी यह अनन्त सम्पदा केवलियो के प्रत्यक्ष है, अत मैं केवलज्ञान माँगता हूँ और कुछ नही मॉगता। आप मेरा यही कार्य कर दे, बस, मैं और कुछ नही चाहता।

एम अनन्त प्रभुता सर्दहतां,
अर्चे जे प्रभु रूप जी।
देवचन्द्र प्रभुता ते पामे,
परमानन्द स्वरूप जी ।।शी०।।११।।

अर्थ—इस प्रकार की प्रभु की अनन्त प्रभुता, परमात्मता, सर्व प्रदेश निरावरणता, अनन्त पर्याय निरावरणता, सकल ज्ञानादि गुण निरावरणता, इनको सर्दहता-श्रद्धा करने पर सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है और सम्यग्दर्शन होने पर वह प्रभु के गुणो के प्रति बहुमान सहित प्रतीति करता है तथा प्रभु की अर्चे-पूजा करता है। पूजा का अधिकार श्री **रायपसेणी सूत्र** मे इस प्रकार कहा है —

"अत्थे गइया वंदणवत्तियाए पूअणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए सुअं सुणिस्सामो, वागरणं पुच्छिस्सामो, अत्थेगइया जिणभत्तिए धम्मो त्ति, अत्थेगइया जीयमेयं त्ति।"

अर्थ—कितने ही देवता इस भावना से कि प्रभु को वन्दना करेगे, उनकी पूजा करेगे, उनका सत्कार करेगे, सम्मान करेगे, श्रुत-शास्त्र वचन सुनेगे, प्रश्न पूछेगे। कितने ही देव जिनभक्ति हमारा धर्म/कर्त्तव्य है। कितने ही देव यह हमारा जीत-कल्प-आचार है। इस दृष्टि से प्रभु के दर्शन वन्दन-पूजनादि के भाव से गये।

श्री अरिहन्त को वन्दनादि करनें का फल इसी सूत्र मे निम्न शब्दो में वर्णित है, यथा—

'हियाए सुहाए निस्सेसाए अणगामियत्ताए' हित के लिए, सुख के लिए, नि.श्रेयस्–मुक्ति के लिए और अनुगामी–साथ चलने वाला या अनुगमन करने वाला है। जिन प्रतिमा के वन्दन-पूजनादि का फल भी इसी आलापक पाठ से कहा है तथा साधु के अधिकार में महाव्रत पालन का फल भी इसी आलापक पाठ द्वारा वर्णित है। इस प्रकार सूत्रो मे अनेक स्थानो पर यह अधिकार आया है। अत. प्रभु श्री देवाधिदेव एव उनके प्रतिरूप प्रतिमा को पूजनें का महान लाभ है। कई अज्ञानी अर्थात् शास्त्रज्ञान-रहित जीव पूजा मे द्रव्यहिंसा देखकर भयभीत हो जाते हैं कि 'पूजा में हिंसा होती है, अशुभ कर्मो का बन्ध होता है।' उन्हे शास्त्रो का गहन अध्ययन करना चाहिये और जानना चाहिये कि पर-जोवो की दया का फल सातावेदनीय का बन्ध करानें वाला है। स्वदया का भी यही फल है। पूजा सामग्री में हिंसा का भाव नही हैं। अपने आपको प्रभु के ज्ञानादि गुणो से तुलना करने का अवसर मिलता है। स्वरूप को जानने का अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। प्रभु-गुणो मे तल्लीनता होने से भवो-भवो मे किये गये कर्मों का क्षय या क्षयोपशम होता है। अनेक जीवो ने पूजा करते-करते केवलज्ञान प्राप्त किया है। सूर्याभ देव की प्रभु भक्ति का वर्णन भो **रायपसेणीय सूत्र** में पठनीय है। भावदया स्व की भावदया होती है, जो मोक्ष की हेतु है। द्रव्य हिंसा भाव हिंसा का कारण बनती है। वह तभो बनती है जब भाव कषाय पूर्ण हो। **विशेषावश्यक भाष्य** मे लिखा है कि —

"एवमहिंसाऽभावो जीवघणं ति न य तं जओऽभिहिअं।
सत्थोवहयमजीवं न य जीव घणंति तो हिंसा ॥1762॥

अर्थ—इस प्रकार यदि लोक जीवमय है तो अहिंसा का ही अभाव हो जायगा। सयत मुनि के अहिंसाव्रत का पालन भी असभव होगा, क्योकि शास्त्रोपहत पृथ्व्यादि अजीव हो जाते हैं, अत. हिंसा नही होती।

नन्वेवं सति लोकस्यातीवपृथिव्यादिजीवघनत्वात् हिंसा संयतै-रपि अहिंसाव्रतमिति निर्वाहयितुमशक्यमिति।

अतः पांच स्थावर के बादर जीवो की बहुलता से साधु को भी आहार-विहार एव विनय-वन्दन-वैयावृत्त्यादि करते हुये अहिसाव्रत कैसे रहेगा ?

उत्तर— **"जीवाकुले लोके अवश्यमेव जीवघातः सम्भाव्यते, जोवांश्च ध्नन् कथ हिसको न स्यात् इति ?"**

नय घायउ ति हिंसो नाऽघाए तो त्ति निच्छियमहिंसो ।
न विरलजीवमहिंसो, नय जीवघण ति तो हिंसो ।।1763।।
अहणंतो वि हु हिंसो, दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरोव्व ।
बाहितो न वि हिंसो सुद्धत्तणओ जहा वेज्जो ।।1764।।
न हि घातकः इत्येतावता हिंस्रः, न वा ध्नन्नपि निश्चय मतेन हिंस्रः, नापि विरलजीवमित्येतावन्मात्रेण हिंस्रः पुनः ।

अर्थ—वह घात करने वाला है, इससे वह हिंसक नही होता । और, न हिसा करता हुआ निश्चय मत से हिंसक है । जीव-विरल है, कोई-कोई स्थान पर है, न इतने से कोई अहिंसक हो जाता है । वह जीवो को मारता है, इससे भी हिंसक नही हो जाता । जैसे वैद्य, डाक्टर, शल्य चिकित्सा करते हैं, किन्तु उनका भाव रोगी को मारने का नही होता, फिर भी यदि रोगी मर जाये तो चिकित्सक हिंसा के भागी नही होते । कहा है —

"असुभो जो परिणामो सा हिंसा सो उ बाहिरनिमित्त ।
कोवि अवेक्खेज्ज न वा जम्हाऽणेगंतियं बज्भं ।।1766।।
असुभपरिणामहेऊ जीवाबाहो त्ति तो मयं हिंसा ।
जस्स उ न सो निमितं संतो वि न तस्स सा हिंसा ।।1767।।"

अर्थ—जो अशुभ परिणाम हैं वही हिंसा है । बाह्य हिंसा जो जीव के मरने से मानी जाती है वह सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो प्रकार से है । जैसे, तन्दुल मत्स्यादि, वह मारता नही है फिर भी हिंसक है । अतः बाह्य निमित अनेकान्तिक है ।

"जीववधो अशुभपरिणामहेतुस्तदा हिंसा, यदि अशुभपरिणाम-हेतुर्न तदा हिंसा न भवति इति।"

अर्थ—अशुभ परिणाम हेतु वाला जीव-वध ही हिंसा है। यदि उसमे अशुभ परिणाम हेतु नही है तो वह हिंसा नही होती।

"सद्दादओ रइफला न वीयमोहस्स भावसुद्धीओ।
जह तह जीवाबाहो न सुद्धमणसो विहिंसाए ॥1768॥

अर्थ—वीतराग को इष्ट—शब्द-रूप-रस-गन्धादि रतिजनक नही होते। ससार मे भी देखते है कि सभ्य आर्यजनो को अत्यन्त रूपवती माता भगिनी आदि के भोगने की इच्छा नही होती, वैसे ही शुद्ध परिणाम वाले साधु को जयणा पूर्वक कार्य करते हुये जीव हिंसा हो जाये तो वह बन्ध की हेतु नही होती। साराश यह है कि शुद्ध मन वाले जीव को हिंसा का भाव न होने से कर्म-बन्ध नही होता है।

आगम प्रमाण से द्रव्यहिंसा, भावहिंसा की कारण रूप विषय-कषाय के अर्थी को बनती है, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के गुणो का बहुमान करने वाले को जिन-पूजा के समय पुष्पादि की हिंसा, हिंसा का कारण नही बनती है। श्री **भगवती सूत्र** मे भी क्रिया के अधिकार मे ऐसा ही कथन है कि "वनस्पतिकाय के आरम्भ के त्यागी को पृथ्वी खनन करते वनस्पति काय की हिंसा हो जाय तो प्रत्याख्यान का भग नही होता।" जबकि जिन-पूजा मे जिनेश्वर के स्वरूप का अवलम्बन करने से आत्म-गुण निर्मल बनते है। गुणियो के स्मरण से अनेक जीव गुणी बनें हैं। मुनियो द्वारा अनुमोदन योग्य जिन-भक्ति का वर्णन श्री **राजप्रश्नीय सूत्र** मे स्पष्ट रूप से है ही। वहाँ मूल पाठ मे स्पष्ट उल्लेख है कि श्री सूर्याभ देव ने नाटक किया, उस समय भगवान श्री महावीर प्रभु के समीप स्थित श्री गौतम गणधरादि साधु-साध्वी समूह ने भी देखा और उन्हे स्वाध्याय जितना ही लाभ हुआ। वे उसी स्थान पर बैठे रहे, कही उठकर जाने का प्रयत्न नही किया। अतः सिद्ध होता है कि श्री जिन-भक्ति कर्म-बन्ध का कारण नही, प्रत्युत मुक्ति का कारण और साधन रूप है। इस प्रकार जो प्राणी श्री जिनेन्द्र भगवान और उनकी

प्रतिमा का अर्चन, पूजन, वन्दन, गुणगान, स्मरण आदि करता है वह सर्व देवो मे चन्द्रमा के समान श्री अर्हन्त देव की प्रभुता–पूर्णानन्दमय सम्पदा प्राप्त करता है। ऐसे परमानन्द का कारण श्री शीतलनाथ प्रभु की सेवा है, उसे सर्व प्राणी करे। और, स्तुति, सेवा, पूजा आदि करने वाले भी श्री देवचन्द्र है, जिन्होने अपना नाम भी युक्ति से निवेष्टित किया है। भगवान् श्री शीतलनाथ अनन्त गुणी है, उनके गुणो का कौन वर्णन कर सकता है। परन्तु, भद्र-परिणामो से जो-जो गुण समझ मे आवे, उन-उन गुणो की स्तवना करनी चाहिये।

□

११. श्री श्रेयांस जिनेन्द्र स्तवन

(राग—प्राणी वाणी जिन तणी, तुमे धारो चित्त मझार रे)

श्री श्रेयास प्रभु तणो,
अति अद्भुत सहजानन्द रे।
गुण एक विध त्रिक परिणम्यो,
एम गुण अनन्त नो वृन्द रे।
मुनिचन्द जिणन्द अमन्द दिणन्द परे,
नित्य दीपतो सुखकन्द रे ।।स्थायी० ।।१।।

अर्थ—श्री श्रेयासनाथ जिनेश्वर का अर्थात् विकसित हुये निरावरण स्वरूप भोगी प्रभु का अति-अत्यन्त उत्कृष्ट अद्भुत—विस्मयकारी सहजानन्द-स्वाभाविक अकृत्रिम आनन्द है। श्री श्रेयास प्रभु भी तो एक जीव द्रव्य हैं, रत्नत्रयी के साधन से वे सिद्ध रूप बन गये, उनके रत्नत्रय पूर्ण रूप से विकसित हो गये। वे सिद्ध रूप मे शुद्ध असख्य प्रदेश वाले है। अनन्त गुणशाली हैं। अनन्त पर्याय वाले है। उन प्रभु का एक-एक गुण तीन-तीन परिणति रूप है। सर्व द्रव्यों का अर्थ-क्रियाकारित्व गुण परिणति से है। उसमे असाधारणत्व विवेक गुण की मुख्यता से है और साधारण गुण की परिणति भी कर्त्ता-द्रव्य के आधीन है। कर्त्ता करे तो प्रवृत्त हो, कर्त्ता न करे तो उसकी साधारण गुण की परिणति में प्रवृत्ति हो। पाँच द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल तो अकर्त्ता ही है, उनके गुणो की प्रवृत्ति तो सदा स्वतः ही होती है। जीव द्रव्य की गुण परिणति सिद्धावस्था मे सदैव प्रवृत्त होती है, किन्तु कारक चक्र रूप से प्रवृत्ति होती है। अत आत्म-द्रव्य के जो ज्ञानादि गुण है, वे त्रिविध परिणत होते है। त्रिविधता करण, कार्य और क्रिया रूप से है। इन तीनो का कर्त्ता आत्मा है। इनमे उपादान रूप से प्रवृत्त कारण/करण

है। करण द्वारा साध्य वह कार्य है। और, क्रिया तो उस गुण की उसी गुण में है। इन तीनों परिणामो का कर्त्ता आत्मा है। यहाँ उपादान रूप से जो प्रकृष्ट कारण है, यही करण है और करण द्वारा फल/साध्य कार्य है। करने रूप प्रवृत्ति क्रिया है। कर्त्ता का व्यापार सिद्धावस्था में अभेद रूप है। जैसे ज्ञान गुण करण है और ज्ञान गुण द्वारा जो ज्ञेय पदार्थो का ज्ञान होता है वह साध्य/फल है अतः वह कार्य है तथा जिस कार्य/ज्ञान के लिये जो ज्ञान की स्फुरणा अर्थात् प्रवृत्ति है वह क्रिया है। ये तीनों अभेद हैं। श्री श्रेयासनाथ भगवान् इस त्रिविध परिणामो मे परिणत ऐसे अनन्त गुणो के वृन्द–समूह हैं। उनके सर्व गुण व्यक्त रूप से स्वकार्य करते हैं। **विशेषावश्यक भाष्य** में कहा है—

"जं कज्जकारणाइं पज्जाया वत्थुणो जओ ते य।
अन्नेऽणन्ने य मया तो कारणकज्जभयणेयं ॥ 2103 ॥"

अर्थ—जो कार्य एव कारणादि है वे वस्तु के पर्याय रूप से हो तो कार्य होता है। वे अन्य-अन्य रूपमय हो तो उन कारणो से कार्य की भजना है अर्थात् कार्य हो ही, ऐसा नियम से नही कह सकते। हो भी और न भी हो।

इस प्रकार कारण एव कार्य की अभेदता भी है तथा भेदता भी है। काल से अभेदता है, सत्त्व प्रमेयत्व से अभेदता है और सज्ञा एव सख्या लक्षण से भेदता है, ऐसी व्याख्या है।

ऐसे भगवान् श्री श्रेयासनाथ प्रभु मुनिचन्द अर्थात् त्रिकाल अविपयी और तत्त्वरमण करने वाले उन मुनियो मे चन्द्रमा के समान अथवा सामान्य केवली मुनियो मे चन्द्रमा के समान जिनेन्द्र श्री तीर्थ कर भगवान होते हैं। वे अमन्द–देदीप्यमान, दिणद–सूर्य के समान दीप्त तेजस्वी है तथा सुखकन्द–सुख के कन्द है। ऐसे श्री श्रेयासनाथ प्रभु के सर्व गुण व्यक्त रूप से स्वकार्य करते है।

आत्मा के अनन्त गुण हैं, उनमे मुख्य गुण उपयोग है। आगमोक्ति है—

सव्वाओ लद्धिओ सागारोवउत्तस्स उववज्जइ तो [अणगारो-वउत्तस्स ।

अर्थ—सर्व लब्धियाँ साकार उपयोग-ज्ञान वाले को उत्पन्न होती है। ऐसे उपयोग – ज्ञान वाले अणगार अर्थात् मुनि होते है।

उपयोग मे प्रथम ज्ञान गुण है, अतः अव उसकी त्रिविधता बताते है :—

निज ज्ञाने करी ज्ञेय नो,
ज्ञायक ज्ञाता पद ईश रे।
देखे निज दर्शन करी,
निज दृश्य सामान्य जगीश रे ।।मु०।।२।।

अर्थ—लोकालोक में जो वर्त्तमान है, अतीत काल मे था और भविष्य मे होगा, वह सर्व स्वय के भाव प्रमेयत्व रूप ज्ञेय है अर्थात् जाननें योग्य है। उनको जानना आत्मा के असख्य प्रदेश निष्ठित ज्ञान गुण का कार्य है। वह ज्ञान आत्मा का स्वगुण धर्म है। सर्व विशेष का ज्ञाता है। अत भगवान निज–स्वज्ञान से जानते है अर्थात् ज्ञान जानने रूप कार्य का कारण हुआ, उपादान कारण और कार्यता एक समय मे ही है और जानने रूप कार्य की प्रवृत्ति है, वह वीर्य के सहकार से क्रिया रूप बनती है। जो गुण की प्रवृत्ति के बिना जानना रूप कार्य माने तो दर्शनोपयोग के समय ज्ञान गुण की निरावरणता विद्यमान है, किन्तु क्रिया बिना उपयोग के नही होती, अतः कारणभूत ज्ञान से आप सर्व ज्ञेय को जानते है। अपने ज्ञान गुण से सर्व ज्ञेय के ज्ञायक–जानने वाले है। अत हे प्रभो ! आप ज्ञायकत्व के लिये ज्ञातापदधारियो के ईश है, ज्ञानमय है, सर्व ज्ञाता हैं।

अव दर्शन गुण की विविधता के तीन प्रकारो का वर्णन करते है। हे प्रभो ! आप अपने दर्शन गुण से निज–अपने देखने योग्य दृश्य–सर्व अस्तिकाय की सामान्यता–अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्वादि, नित्यत्व अनित्यत्वादि सामान्य रूप से जो जगीश–सम्पदा जग का

ईशत्व अर्थात् आत्मा में रहे हुए ये अनन्त सत्त्व-द्रव्यत्वादि सामान्य सम्पदा है, उसे दर्शन गुण से देखते हैं। कहा है—"**दर्शनेन दृश्यभावानां दर्शनं करोति आत्मा।**" देखने वाली आत्मा दर्शन गुण से देखने योग्य भावों को देखती है अर्थात् देखना कार्य है, दर्शन गुण कारण है, दर्शन गुण की प्रवृत्ति क्रिया है, देखने वाला आत्मा कर्त्ता है। इस प्रकार दर्शन गुण का त्रिविध परिणमन जानना चाहिये।

निज रम्ये रमण करो,
प्रभु चारित्रे रमता राम रे।
भोग्य अनन्त ने भोगवो,
भोगे तेणे भोक्ता स्वाम रे ।।मु०।।३।।

अर्थ—अब चारित्र गुण की त्रिविध परिणति कहते है—हे प्रभो! परमेश्वर! परमानन्दमय! आपका अनन्त आत्म-धर्म ही आपके लिये रम्य है, रमण करने योग्य है। उस शुद्ध आत्म-परिणति रूप निज रम्य विषय में आप रमण करते है। चारित्रे—चारित्र गुण करण द्वारा स्वरम्य में रमण रूप कार्य और चरण गुण-परिणति रूप क्रिया के आप कर्त्ता है। अतः, हे प्रभो! आप रमते राम—स्वय के स्वरूप में रमण करते है। अतः स्वरूप—रमणशील स्वरूपानुभवी स्वरूप मे विश्राम कर्त्ता है।

अब भोग गुण की त्रिविधता का वर्णन करते है—भोग्य अर्थात् भोगने योग्य प्रकट हुआ आत्म-स्वरूप, जो अनन्त ज्ञानादि गुणमय है, उसे आप भोग गुण द्वारा भोगते हैं। वह इस प्रकार है—भोगान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से भोग गुण प्रकट हुआ। उसके द्वारा भोग के योग्य आत्मा की अनन्त सम्पदा का भोग करते हैं, उसमे भोक्ता हैं। दूसरे ससारी जीव क्षयोपशम वाले पुद्गलादि अशुद्ध परिणति के भोक्ता है। वे अशुद्ध भोक्ता है। आप भोक्ता हैं अर्थात् भोग गुण रूप करण से भोग्य कार्य के कर्त्ता हैं। भोग गुण की प्रवृत्ति रूप क्रिया के कर्त्ता है। कहा है— "**अत्ता सहावभोई ते असहावाओ अत्तपरिणामा।**" आत्मा स्वभाव-भोगी है। आत्मा के परिणाम अस्वभाव-भोगी मिथ्यात्व वश बन जाते है।

देय दान नित्त दीजते,
अतिदाता प्रभु स्वयमेव रे।
पात्र तुमे निज शक्ति ना,
ग्राहक व्यापकमय देव रे ॥मुनि०॥४॥

अर्थ—अब प्रभु के दान गुण का वर्णन करते है—दानान्तराय के क्षय से प्रभु के दान गुण प्रकट होता है। अतः दान गुण और लाभ गुण की त्रिविध परिणति बताते हैं। सिद्धावस्था में स्वगुण प्रवर्त्तन को स्वकीय क्षायिक वीर्य की सहायता देना, दान गुण है। सहकारिता की प्राप्ति जिस गुण को हुई, वह लाभ हुआ। इस रीति से दान और लाभ की प्रवृत्ति चलती है। देय-देने योग्य गुण को सहकार देना दान है, वह दान नित्य देने के कारण, हे प्रभो! आप अतिदाता-महान् अतिशय दाता हैं। स्व के अनन्त गुणो को सहकार रूप अनन्त दान दे रहे है। स्वयमेव स्वय को ही देते है, अतः आपका दान गुण करण, दान की प्रवृत्ति क्रिया तथा सहकार स्वरूप दान कार्य हैं। इन सर्व का स्वामी आत्मा ही दाता-कर्त्ता है। आत्मा का यह शुद्ध दान है और आत्मा को है। परवस्तु का देना-लेना तो विभाव है, वह शुद्ध आत्मा के हो नही सकता। पुनः, हे भगवन्! आप निज-स्वय की अनन्त गुण पर्याय रूप शक्ति के पात्र-आधार हैं तथा आत्म-शक्ति के ग्राहक भी आप ही हैं और ऐसी अनन्त गुण रूप आत्म-शक्ति के व्यापक-तन्मय रूप अवस्था वाले भी आप ही है।

परिणामी कारज तणो,
कर्त्ता गुण करे नाथ रे।
अक्रिय अक्षय स्थितिमयी,
नि कलक अनन्ती आथ रे ॥मुनि०॥५॥

अर्थ—पुनः हे देवाधिदेव ! आपके अनेक अभिलाप्य-कथन योग्य, अनभिलाप्य-न कथन योग्य, अनन्त गुण प्राग्भाव हो गये। उनकी तीन परिणति हैं—कर्त्ता-करण, कार्य और क्रिया। पारिणमिक रूप

से जो अव्याबाधादि अनन्त कार्य हैं, उनके आप कर्त्ता हैं, गुण रूप करण द्वारा करते है, अतः गुण करण है और करण का फल ही कार्य है। गुण की प्रवृत्ति क्रिया है। हे नाथ! स्वामिन! इन करण, कार्य और क्रिया के कर्त्ता तो आप ही हैं। आपका जो सर्व पारिणामिकत्व है, उसके कर्त्ता तो आप ही हैं। अन्य किसी द्रव्य में कर्त्तृत्व है ही नही। हे प्रभो! आप अक्रिय हैं, क्योकि क्रिया तो चल योग-मनो वाक् काय वाले के है और आप तो अयोगी हैं, सिद्ध हैं, अतः अक्रिय हैं। आप अक्षय हैं अर्थात् कभी क्षय नही होने वाली स्थितिमय हैं। आयुष्य की स्थिति तो सयोगी भाव की है अर्थात् पुद्गल-शरीर का भाव संयोगजन्य है। जीव कर्म का सयोग ही शरीर व स्थिति का कारण है। श्री सिद्ध भगवान तो सर्वथा कर्म-मुक्त हैं, अतः उनकी स्थिति अक्षय है। सदा के लिये आप तो अविनाशी स्थिति वाले एव सहज स्वाभाविक गुणो वाले हैं। हे प्रभो! आप निःकलक-कर्म-कलक-रहित है, अत. निरावरण और अनन्त आथ-अर्थ वाले, धन-सम्पत्ति वैभव वाले है।

पारिणामिक सत्ता तणो,
आविर्भाव विलास निवास रे।
सहज अकृत्रिम अपराश्रयी,
निर्विकल्प ने निष्प्रयास रे ।।मुनि०।।६।।

अर्थ-अब कदाचित् कोई प्रश्न करे कि भगवान के कोई गुण तो अधूरा होगा? उत्तर मे उनके गुणो की पूर्णता का कथन करके बताते हैं। पारिणामिक सत्ता का आपके आविर्भाव-उत्पत्ति, अप्रकट का प्रकट होना आविर्भाव कहलाता है, इसे प्रागभाव भी कहते हैं, यह आपके हो गया है। आपके अनन्त गुण पर्याय निरावरण हो गये हैं। समस्त पुद्गल सग-रहित होने से पूर्व जो सत्ता सम्पूर्ण रूप से तिरोभावी-छुपी हुयी थी, वह प्रकट हो गयी है। उस प्रागभाव सत्ता के विलास-सुख का अनुभव आपको सर्वदा रहता है। उसके आप निवास हैं अर्थात् उस सत्ता के सुख का अनुभव आपको निरन्तर हो रहा है। आप स्वगुण भोगी हैं, स्वभाव का अनुभव करते हैं। हे स्वामिन्! आप सहज स्वाभाविक मूल धर्म जो अकृत्रिम है, अपराश्रयी-परवस्तु का जिसके आश्रय-आधार

नही है, वह भी निर्विकल्प–विकल्परहित है अर्थात् मन के चिन्तन को विकल्प कहते हैं, उस विकल्प से मुक्त है। और, निष्प्रयास–श्रम रहित उद्यम रहित ऐसे आत्म-धर्म का आप अनुभव करते है अर्थात् उस अनन्त सुख का अनुभव करते है।

प्रभु प्रभुता सम्भारता,
गाता करता गुणग्राम रे।
सेवक साधनता वरे,
निज सवर परिणति पाम रे ।।मुनि०।।७।।

अर्थ—ऐसे प्रभु की सेवा का क्या फल है ? उसे कहते हैं। प्रभु श्री श्रेयांसनाथ भगवान निष्पन्न तत्त्व वाले अर्थात् शुद्ध अनन्त गुणवान आत्मत्व वाले और निरामय, निरावरण एव कर्मावरणमुक्त है। उनकी प्रभुता–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, सर्व सवरमय आनन्द आदि रूप परमैश्वर्य सम्पन्न, असहाय–सहायता की अपेक्षा-रहित, सर्व शक्ति निरावरणता. अनन्त पर्यायिता, स्वकार्य कर्त्तृत्व, निष्कर्मता, नि सगता, प्रभुत्व, विभुत्व, ग्राहकत्व, व्यापकत्व, आधारत्व, कारकत्व, कार्यत्व आदि की प्रभुता–सामर्थ्य, एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण पर्याय प्राग्भाव परिणमन रूप स्वरूप सम्पदा को सम्भारता–मन मे स्मरण करते हुये सेवक अर्थात् तत्त्व रुचि-सम्पन्न एव आत्म-सिद्धता का अर्थी, ऐसे प्रभुता सम्पन्न परमात्मा का बहुमान करने से (जो जीव अनादि से आत्म-पराङ्.मुख था, उसके सारे कार्य परभावोन्मुखी थे) वह साधनता–आत्म-स्वरूप को निरावरण करने रूप साधन, अवस्था–सम्यक्त्व से लेकर उत्सर्ग अपवादमय देशविरति एव सर्वविरति और अयोगी गुणस्थान पर्यन्त चरम समय तक की अवस्था साधनावस्था है, आरम्भ में दोष त्याग की भावना, गुण-प्राग्भाव की रति, आत्म-गुणो को रुचि पूर्णतत्त्व की ईहा रूप साधन अवस्था को प्राप्त करता है। क्रमशः वह निज–स्व की सवर परिणति–मन व इन्द्रियो को परभाव में जाने से रोकने की दृढ भावना को प्राप्त करता है अर्थात् प्रभु गुण में अपना उपयोग–मन का जागृत विवेक लगाता हुआ, उसी मे वर्त्तता हुआ, अपने चेतना गुण को गुणी में लगता हुआ उन्ही का अनुयायी बन जाता है।

और, इस प्रकार के स्वरूप अर्थात् ईहा रूप दर्शन-सम्यग् दर्शन गुण में परिणत होकर स्वयं की सवर परिणति को प्राप्त कर लेता है। वह जीव तत्त्व की साधना से आत्म-तत्व को शुद्ध बनाने का कार्य करता है। ऐसी साधकता ही परमानन्द की कारण है।

प्रकट तत्त्वता ध्यावतां,
निज तत्त्व नो ध्याता थाय रे।
तत्त्व-रमण एकाग्रता,
पूरण तत्वे एह समाय रे ।।मु०।।८।।

अर्थ—उपर्युक्त साधकता कैसे प्राप्त हो ? उसी का वर्णन करते हैं। आत्मा की स्व-सम्पदा-अनन्त ज्ञानादि तो कर्मावृत है, उसका भासन होना दुर्लभ है और प्राप्त तत्त्वता वाले परमेश्वर की सम्पदा/तत्वता तो प्रकट है। श्रुतोपयोग से भासन मे, ज्ञान में आती है। अतः प्रकट तत्त्व वाले श्री अरिहन्त सिद्धो की निरावरण आत्म-सम्पदा को ध्यावतां-ध्यान करते हुये साधक जीव स्वय की सत्तागत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तत्त्वता का ध्याता बन जाता है। अतएव कहा है "निज तत्त्व नो ध्याता थाय रे"। द्रव्यतः आत्मा की तुल्यता है। इस प्रकार स्वतत्त्व अर्थात् आत्मा का ध्यान करते हुये तत्त्वरमण तथा तत्त्व की अनुभूति होती है। स्व गुण पर्याय रूप आत्म-तत्त्व में एकाग्रता और तन्मयता हो जाती है। तव वह सेवक/साधक श्रेयास प्रभु के गुणो का अवलम्बन करने वाला 'पूरण तत्त्वे' उसी पूर्ण आत्म-तत्त्व मे समाय-समा जाता है अर्थात् पूर्ण तत्त्व रूप बनकर पूर्णानन्द निरावरण स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। अपने पूर्ण प्राग्भाव तत्त्वता रूप सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष का उपाय है। सारांश यह है कि, अनादि-कालीन मिथ्यात्व कषाय असयम अविरति और योगो-मन वचन काया, इन हेतुओ मे परिणत हुआ कर्मो का बन्ध करता है। कर्मविपाक के द्वारा गृहीत 'क्वाथ्यमान' काथ (उकाली हुयी दवा का काढा) के जैसे बना हुआ विसस्थुल-अत्यन्त शिथिल आत्म-शक्ति वाली आत्मा को अनेकान्तमय शुद्ध आत्म-स्वरूप का श्रवण भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे जीव को भी जिन-सेवा से जिन-स्वरूप की पहचान एवं

जानकारी हो जाती है, जिससे उसमें स्वरूप-रुचि उत्पन्न होती है। फिर स्वधर्म को प्रकट करने की रुचि वाला जीव उद्यम करता हुआ आत्म-धर्म को जागृत कर लेता है और अनुक्रम से निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को समुपलब्ध कर लेता है। यही मोक्ष का मार्ग है।

प्रभु दीठे मुझ साँभरे,
परमातम पूर्णानन्द रे ।
देवचन्द्र जिनराज ना,
नित्य वन्दो पद अरविन्दरे ।।मु०।।६।।

अर्थ—अतएव प्रभु दीठे–अर्थात् प्रभु के स्थापना निक्षेप रूप प्रतिमा के दर्शन होने पर 'मुझ साँभरे' मेरे स्मरण मे आते हैं। क्या स्मरण में आते है ? परमात्म–परमात्मा का ऐश्वय ज्ञानादि सम्पदावान शुद्ध सिद्ध भगवान का स्वरूप जो अचल, असगी, अभोगी, अयोगी है और उनका 'पूर्णानन्द' पूर्ण–अनन्त गुण पर्याय सम्पन्न त्रिकाल अविनाशी ऐसा आनन्द अर्थात् पूर्ण सुखादि का और जो 'प्रभु स्वरूपाश्रित स्व-चेतना को करना' यही स्वात्म-साधन का परम उपाय है, स्मरण मे आ जाते हैं। अत देव–जो निर्ग्रन्थादि हैं, उनमे चन्द्रमा के समान एव जिनो मे राजा जिनेश्वर वीतराग श्री श्रेयासनाथ भगवान् के पद चरण रूप अरविन्द–कमलो की नित्य–सदा वन्दो–वन्दना-स्तुति करो। सदा नमस्कार करो। यहाँ स्तुतिकर्त्ता का नाम भी देवचन्द्र है। वे स्वय को भी कहते है कि, हे देवचन्द्र ! श्री अरिहन्त के चरण-कमलो का नित्य वन्दन करो, सेवन करो। यही ससार महासमुद्र के मोहावर्त्त मे पड़े हुये मोहान्धकार/अज्ञानान्धकार में मार्गभ्रष्ट, मिथ्यात्व कर्दम मे मग्न/ फँसे हुये जीव का निस्तार करने, पार होने का पुष्ट मार्ग है। श्री वीतराग अर्हन्त देव की प्रतिमा के आलम्बन से अनन्त जीव भव से पार हो गये हैं और जो यथार्थ ज्ञान से पुद्गलाशसा से रहित श्री अर्हन्त की पूजा-सेवा करेंगे, वे परमपद प्राप्त करेंगे। वे ही प्रभु शरण, त्राण और आधारभूत हैं।

१२. श्री वासुपूज्य जिनेन्द्र स्तवन

(राग—पन्थडो निहालूँ रे बीजा जिन तणो रे)

अब प्रभु-सेवन अर्थात् पूजा जो द्रव्य एव भाव भेद से दो प्रकार की है, उसे समझाने के लिये १२ वे श्री वासुपूज्य जिन की स्तवना करते हुए विस्तृत वर्णन करते हैं। निक्षेप चार है :—१. नाम २. स्थापना ३ द्रव्य ४ भाव ।

१ नाम निक्षेप :—"पज्जयाऽणभिधेयं ठिअयण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं ।
जाइच्छियं च नामं जाव दव्वं च पाएण ।।२५।।"

२ स्थापना निक्षेपः—"जं पुण तयत्थ सुन्नं, तयभिप्पाएण तारिसागारं ।
कीरइ व निरागारं, इत्तरमियरं व सा ठवणा ।।
।।२६।।"

३ द्रव्य निक्षेप :—"दवए दुपए दोखयवो, विगारो गुणाण संदावो ।
दव्वं भव्वं भावस्स, भअभावं च जं जोग्गं ।।२८।।"
—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ — १ पर्यायार्थक नाम जो वस्तु है उसको कहने वाला अर्थ निरपेक्ष, इच्छानुसार रखा गया नाम है और वह प्राय. उस द्रव्य तक ही सीमित रहता है।

२. जो अर्थ से शून्य किन्तु उस अभिप्राय से वैसा आकार बनाया गया है अथवा आकार रहित वस्तु मे उसकी स्थापना की गई है, वैसा मान लिया गया है, वह स्थापना है।

३ 'द्रवति' उन-उन पर्यायो को प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते है। जो भूत काल मे था, भविष्य मे होगा, उसे द्रव्य निक्षेप कहते है। जैसे—राजा का शव 'यह राजा था'। 'यह राजकुमार राजा बनेगा'। इस प्रकार दोनो को राजा मानना द्रव्य निक्षेप है।

अथवा **"यच्च कारणं तद्-द्रव्यम्, भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके तद् द्रव्यम् ।"**

अर्थ :—अथवा जो कारण है वह द्रव्य है। भूत और भावि-भाव का कारण जो लोक में है, वह द्रव्य है।

श्री हरिभद्र पूज्यवर ने भाव का लक्षण इस प्रकार कहा है :—

"भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि विधिः समाख्यातः सर्वज्ञैरिन्द्रादि-वद् वन्दनादिक्रियानुभावात् ।"

विवक्षित क्रियानुभूति युक्त भाव है। सर्वज्ञ भगवन्तो ने इन्द्रादि के समान वन्दनादि क्रिया के अनुभव से इसकी विधि बताई है।

इस प्रकार चार निक्षेप हैं। कुछ विद्वान् नामादि चार निक्षेप को उपचार से मानते हैं। उन्हे समझना चाहिये कि भिन्न-भिन्न वस्तुओ के नामादि करें तो वस्तुएँ भिन्न है। परन्तु, अपनी-अपनी वस्तु के नामादि चारो ही उस वस्तु में ही है। इस विषय में श्री **जिन-भद्रगणि** पूज्यवर ने कहा है :—

> **"इह भावोच्चिय वत्थुं, तयत्थ सुन्नेहिं किं व सेसेहिं।**
> **नामादओ विभावा, जं ते वि हु वत्थु पज्जाया ॥५५॥"**
>
> —*विशेषावश्यक भाष्य*

इस जगत मे भाव ही वास्तविक है। वास्तविक अर्थ से शून्य नामादि सर्व व्यर्थ हैं। नाम, स्थापना एव द्रव्य तो भाव वस्तु के ही पर्याय है।

"यद्यस्मात् तेऽपि नामादयो वस्तुनः पर्याया धर्मास्तथाहृय-प्रविष्ट इन्द्र वस्तुन्युच्चरिते नामादयोऽपि भावविशेषा ।"

इस कारण से कि वे नामादि भी वस्तु के पर्याय धर्म है। जैसे कि अप्रविष्ट इन्द्र वस्तु मे उच्चारण किये गये नामादि भी भाव विशेष ही हैं। इस प्रकार पुन भाव निक्षेप के अन्त में ऐसा कहा है—"**भिन्न-वस्तुषु प्रत्येकं चतुर्णामपि, अमीषां सद्भाव प्राप्यत एव इति दर्शयन्नाह—**"

अर्थ—भिन्न वस्तुओ मे विशेप प्रकार से चिन्त्यमान नामादि के प्रधान-अप्रधान भाव दिखाये। पुनः सामान्य से चिन्त्यमान सर्व वस्तुओ में चारो का अर्थात् नाम-स्थापनादि प्रत्येक का सद्भाव प्राप्त होता ही है। इसे ही दिखाते हुये कहते है :—

"अहवा वत्थुभिहाणं, नामं ठवणा य जो तयागारो।
कारणया से दव्वं, कज्जावण्णं तयं भावो ।।६०।।"

—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ —अथवा वस्तु का नाम नाम निक्षेप, उसका आकार स्थापना निक्षेप, कारणता द्रव्य निक्षेप, उसकी विशेषता का वर्णन भाव निक्षेप है। इस गाथा में चार ही निक्षेप एक वस्तु मे कहे गये हैं। इन नामादि चार निक्षेपो विषयक नयो के पारस्परिक विवाद को पूज्य **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** ने मिथ्यात्व कहा है —

"एवं विवयंति नया मिच्छाभिनिवेसओ परप्परओ।
इयमिह सव्वनयमयं जिणमयमणवज्जमच्चंतं ।।७२।।
नामाइ भेय-सद्दत्थ-बुद्धि परिणाम-भावओ निययं।
जं वत्थुमत्थि लोए चउ-पज्जायं तयं सव्वं ।।७३।।"

—विशेषावश्यक भाष्य

अर्थ —इन नामादि चार निक्षेपो के भेदो का शब्दार्थ बुद्धि-परिणाम भाव से नियत है। जगत मे जितनी और जो वस्तुए है, वे सभी पर्याय से उत्पन्न है। इस प्रकार ये नामादि चार निक्षेप वस्तु के स्व पर्याय है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये।

इस प्रकार इन निक्षेपो के विषय मे श्री **विशेषावश्यक भाष्य** मे विस्तार पूर्वक कहा गया है। जिज्ञासुओ को उसमें पढना चाहिये। यह प्रशस्ति है जो स्तवन से पूर्व अवश्य पठनीय है।

अब बारहवे प्रभु श्री वासुपूज्य भगवान् का स्तवन प्रारभ हो रहा है।

पूजना तो कीजे रे,
बारमां जिन तणी रे,
जसु प्रगट्यो पूज्य स्वभाव।
परकृत पूजा रे जे इच्छे नही रे,
साधक कारज दाव ॥ पूजना०॥१॥

अर्थ—अब श्री वासुपुज्य जिनेश्वर की स्तवना करते हुये कहते हैं कि, हे भव्यजनो! यदि आप अपनी आत्मा को सुखी बनाना चाहते हैं, तो बारहवे तीर्थकर श्री वासुपूज्य भगवान की पूजा करिये। जिनके सर्वगुण निरावरण है और परम चारित्रवान्, परम ज्ञानी, अयोगी, अभोगी, अलेशी, अभेदी, असहायी, अकषायी, अरूपी, शुद्ध स्वरूपी, सिद्ध, सकल परभाव अयोगी, पुद्गलोपचार रहित ऐसा पूज्य स्वभाव जिनका प्रकट हो गया है, उनकी पूजा करनी चाहिये। जो भक्ति के रागी नही हैं और अभक्ति के द्वेषी नही है, ऐसे सर्वज्ञ ही पूजने योग्य हैं। 'आप्तमीमांसा' में कहा है—

"देवागम–नभोयान–चामरादि विभूतय।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते अतस्त्वमसि नो महान्॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचिद् यथा।
अनु मे तत्त्वतो ज्ञानमिति सर्वज्ञशंसितम्॥
अन्यत्र भी कहा है—अइसय पाडिहेरा सव्व उदयकम्मसंभूआ।
तेणं न विम्हओ मे विम्हओ वीयरायत्ते॥"

अर्थ—देवताओं का आगमन, आकाशगमन और छत्र-चामरादि विभूतियाँ तो मायावीजनो/जादूगरो आदि के भी दिखाई देती हैं। इन आश्चर्यो से आप महान् नही है।

किसी के सूक्ष्म–छुपे, अन्तरित और दूर रहे हुये अर्थ किसी के प्रत्यक्ष हो सकते हैं। किन्तु, उसे तत्त्वज्ञान नही होता। जो सर्वज्ञ है वे ही तत्त्वज्ञानी रूप से सर्वज्ञ कहे जाते हैं।

अतिशय अष्ट महाप्रातिहार्य आदि सर्व तीर्थ कर नाम-कर्म के उदय से होते है। मुझे इनका कोई विस्मय नही है। आप वीतराग हैं, इसी का विस्मय है। पुन प्रभु के पूज्यत्व को विवेचन करते हुए कहते हैं—वे भगवान् तीर्थ कर देव परकृत-देव, मनुष्य, तिर्यञ्चादि कृत पूजा और गुणरागी अनेक भक्त-देवेन्द्र, सामान्य देव, चक्रवर्ती, नरेन्द्र और सामान्य जन अथवा शुकादि पक्षी या गजाश्वादि पशुओ के द्वारा की जाने वाली किसी भी प्रकार की भक्ति-पूजा, गुणग्राम, नृत्यादि की इच्छा वाञ्छा नही करते। वे इच्छा दोष से रहित है। इस कारण न तो परभाव का सग करते है और न परकृत पूजा की वाञ्छा रखते है। ऐसे गुण वाले ही वास्तविक पूज्य होते हैं। ऐसे पूज्य परकृत-पूजा की अभिलाषा नही करते। और, मोक्षार्थी साधक—मार्गानुसारी सम्यक्त्वी देशविरति, सवेगपक्षी मुनिराज आदि के इष्ट-कार्य—सम्पूर्ण सिद्धता की प्राप्ति के लिये दाव-अवसर स्वरूप है आपकी पूजा और आप स्वय भी। अत आप सिद्धता के निमित्त है और पूजने योग्य हैं। जो पूजा के इच्छुक न हों उनकी पूजा ही परमानन्द की प्राप्ति और पूर्णता की हेतु है।

द्रव्य थी पूजा रे कारण भावनूं रे,
भाव प्रशस्त ने शुद्ध ।
परम इष्ट वल्लभ त्रिभुवन धणी रे,
वासुपूज्य स्वयम्बुद्ध ।। पूजना०।।२।।

अर्थ—पूजा के दो भेद है—द्रव्यपूजा एवं भाव पूजा। द्रव्य-पूजा के अनेक प्रकार है,यथा—अष्ट प्रकारी, सतरह भेदी, स्नात्र पूजा, बृहत् शान्ति स्नात्र, एकविंशति प्रकारी इत्यादि। भाव पूजा का वर्णन आगे है।

स्नान–अभिषेक करना, बरास चन्दनादि से नव अंग पूजन विलेपन करना, पुष्प पूजा–पुष्पहार, पुष्पों का मुकुट, गजरे, स्तवक–गुच्छक चढ़ाना आदि। इसे अंगपूजा भी कहते है। अग्रपूजा–प्रभु के आगे धूप अगरबत्ती आदि करना, दीपक करना, अक्षत/चावल चढ़ाना

नैवेद्य–मिष्टान्न भेट करना, फल अर्पण करना, नमक उतारना, आरती करना आदि।

अनादि काल से भ्रमण करता हुआ जीव अष्टकर्मो का बन्ध करता हुआ, उन्हे अज्ञान व सुख-दुःख रूप मे भोगता हुआ, क्षयोपशमवश मनुष्य जन्म, उत्तम आर्य देश, आर्य जाति कुल वश, पूर्ण पञ्चेन्द्रियत्व, दीर्घायु, सद्गुरु धर्म का सयोग पाकर देवादि के स्वरूप का ज्ञान करता है। हिसादि अठारह पाप स्थानक है, वे सभी आत्मा के दुःख के हेतु है। हिसादि पाँच व कषाय चतुष्क से यथा-साध्य बचने का प्रयत्न करता है। भौतिक–पौद्गलिक भोगोपभोगादि व अन्य सयोगो से राग हटाने की इच्छा रखता है। सहसा सर्वथा दूर हो नही पाता, अतः उपर्युक्त सासारिक भोगादि से राग दूर करने के लिये देव गुरु धर्म के प्रशस्त राग का अवलम्बन लेता है। देव के प्रति जब प्रशस्त राग है, तब समर्पण भाव, दर्शन-पूजन आदि के निमित्त से समीपता का प्रसग आता है। समीपता से एकत्त्व का अनुभव अर्थात् आत्म-तुलना और गुणो के प्रति सम्मान-बहुमान आदि से कर्मो का क्षयोपशम होकर निर्जरा होती है। मुमुक्षु जीव का इष्ट कर्म-निर्जरा से, कर्मो से सर्वथा मुक्त होना ही तो है। जिन-पूजा मे निरत व्यक्ति की इन्द्रियाँ भोगो से मुक्त रहती है, अतः सवर हो जाता है और मन भी सासारिक भोगो के चिन्तन से एवं अन्य सासारिक—पारिवारिक, व्यावसायिक आदि अनेक प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त रह कर प्रभु गुणो के चिन्तन मे लीन बनता है। क्योकि, द्रव्य-पूजा ही तो, जो भाव-पूजा गुण-गुणी की एकता रूप है, उसका कारण है। द्रव्य निक्षेप उसी को कहते हैं जो भाव निक्षेप का कारण हो। अतः गृहस्थ के लिये द्रव्यपूजा कर्म-बन्ध का कारण न रह कर प्रत्युत कर्ममुक्ति का कारण बन जाती है। पूजा मे दिखने वाली हिंसा द्रव्यहिंसा कही गयी है। हिंसा का लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार है—"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" पूजा मे मन वचन काय योगो की प्रवृत्ति मे पाँच प्रमाद मे से किस प्रमाद मे उस जीव (पूजा करने वाले) की प्रवृत्ति है? पाँच प्रमाद निम्न हैं— १. मद २. विषय ३. कषाय ४ निन्दा और ५ विकथा। सुज्ञजन विचारे।

भाव पूजा के भी दो भेद हैं— १ प्रशस्त भाव निक्षेप पूजा और २ शुद्ध भाव निक्षेप पूजा। भाव, आत्मा की परिणति है और प्रशस्त है, गुणीजनो पर राग रखना भी प्रशस्त है। जैसा कि कहा है—

अरिहंतेसु य रागो सुमुणीसु पवयणेसु य। ए सुपसत्थो रागो।

अर्थात् अरिहत, सुमुनि और प्रवचन–प्रभु वाणी का राग सुप्रशस्त है। **चतुशरण पयन्ना** मे भी उल्लेख है—"**सुकयाण राय समुप्पन्न पुन्न पुलयं कुरु करालो।**"

अब प्रशस्त राग का स्वरूप बताते हैं—विषय एव परिग्रह आदि भौतिक वस्तुओ का राग अप्रशस्त है और वह कर्मबन्ध का कारण है। अनुकम्पा भाव सातावेदीय बन्ध का हेतु है। यह गुणरहित तथा सभी जीवो पर होती है। गुणी पर दया या अनुकम्पा होना निन्दनीय व गर्हित मानी जाती है, क्योकि रत्नत्रयधारक गुणी तो आदर-सत्कार, सेवा और बहुमान योग्य है। दया के पात्र तो दीन-दुखी और दरिद्र ही होते हैं।

आवश्यक (वन्दितु सूत्र) मे कहा है—

"सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे असंजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि॥"

अर्हन्तादि पच परमेष्ठी, स्वधर्मी बन्धुजन तथा आगम शास्त्र अर्थात् भगवद्वाणी पर पक्षपात रहित गुणो के प्रति राग ही प्रशस्त राग जानना चाहिये। वह यद्यपि पुण्य बध का हेतु है, तथापि विद्यमान आत्म-गुण–श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के स्थिर रहने मे कारण और गुणो को विकसित करने के कारण/हेतु है, तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य के बन्ध मे हेतुभूत है। १४४४ ग्रन्थों के रचयिता श्री हरिभद्रसूरि ने स्वकृत श्री **पञ्चवस्तु** ग्रन्थ मे कहा है—

"नाणाइगुणरुइ खलु तारिसी य गुणसंपइसंपत्तो।
धन्नो गुणसंपत्तो पसत्थरागं तिहिं कुणइ॥"

गुणरुइमूलं एयं तेणं गुणवुड्ढि हेउअं भणियं ।
जहा इलाईपुत्तो पसत्थरागेण गुणपत्ता ।"

अर्थ—ज्ञानादि गुणो की रुचि वाला निश्चय से तादृक् गुण-सम्पत्ति को सप्राप्त हो जाता है। अतः प्रशस्त राग करने वाला उन गुणो से सम्पन्न होने के कारण धन्य है।

यह प्रशस्त राग गुण-रुचि का मूल है। अत. गुणवृद्धि का हेतु कहा गया है। जैसे इलापुत्र किसी युवा और रूपवान् मुनि को ब्रह्मचर्य में दृढ देखकर स्वयं आत्माभिमुख हो गये और नृत्य मंच पर ही क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर केवलज्ञानी बन गये।

गणधर भगवान् श्री इन्द्रभूति गौतम का चरम तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु के प्रति प्रशस्त राग था। इस विषय मे तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ जनो का यह कथन कि भगवान् के प्रति प्रशस्त राग केवलज्ञान का अवरोधक बन गया था, अत. राग तो त्याज्य ही है। उन्हे चिन्तन करना चाहिये कि गौतम स्वामी का प्रशस्त राग क्षायोपशमिक दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयी का अवरोधक नही, प्रत्युत दीपक था। प्रभु वीर के साथ कई भवो से उनका सम्बन्ध चला आ रहा था। भगवान् महावीर की विद्यमानता मे उस प्रशस्त राग की मन्दता नही हुयी। क्षायिक ज्ञानादि के अभाव में प्रशस्त राग की विद्यमानता रहती है। कारण से कार्य की उत्पत्ति अवश्यभावी है। कारण के मिटने पर अर्थात् भगवान् का निर्वाण होने पर राग का कारण रहा नही, अत. तत्काल क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो गये और सर्वज्ञ बन गये।

इसी प्रकार सर्व जीवो के लिये प्रशस्तराग क्षायोपशमिक रत्नत्रयी का विरोधी नही है। क्षायिकता की ईहा युक्त को क्षायिकता के समीप पहुँचा देती है, परन्तु क्षायिक रत्नत्रय नही होने देती। साधक अवस्था मे तो रहता ही है। सिद्ध होने पर प्रशस्त राग की आवश्यकता भी नही रहती। साधक के लिये आवश्यक ही नही, अपितु प्रशस्त राग/गुणानुराग अनिवार्य है। सविज्ञ मुख्य श्री **जिनेश्वर सूरि** के शिष्य श्री **जिनचन्द्रसूरि** ने **संवेगरंगशाला** मे कहा है :—

"सिद्धे रत्तो तग्गुण ईहाए लब्भए गुणे सव्वे ।
तेणं अरिहंताइसु गुणेसु रागं समाहिओ ।।"

सिद्धो का रागी बना हुआ उनके गुणो की ईहा–इच्छा करता है और सर्वगुणो को प्राप्त करता है । अतएव अर्हन्तादि तथा उनके गुणो मे राग तो सुसमाधि का कारण है । इसीलिये प्रशस्त भाव-पूजा का भी साधकता मे ही समावेश है । अब शुद्ध भाव-पूजा का स्वरूप बताते हैं । आत्मा का सामान्य चक्र, विशेष चक्र, क्षायोपशमिक चेतना वीर्य आदि सर्व श्री वीतराग अर्हन्त परमात्मा के क्षायिक ज्ञानादि गुणानुयायिता मे प्रवृत्त हो, उसे शुद्ध भाव-पूजा कहते हैं अर्थात् गुणानुरागी होकर गुणो का वहुमानी होता है, तब स्वरूप में तन्मय होने पर स्वरूप की पूर्णता होती है, यही मुक्ति का मार्ग है । प्रशस्त राग भाव-पूजा का स्वरूप इस प्रकार है—श्री वासुपूज्य तीर्थ कर भगवान् जो स्वयम्बुद्ध हैं, त्रिभुवन के स्वामी है, वे ही मेरे परम–अत्यन्त इष्ट–प्रिय और वल्लभ हैं । उन्ही के प्रति मेरा राग है । यह भाव पूजा प्रशस्त राग युक्त है । गुणो का राग प्रशस्त राग है ।

अतिशय महिमा रे अति उपकारता रे
निर्मल प्रभु गुण राग ।
सुरमणि सुरघट सुरतरु तुच्छ ते रे
जिनरागी महाभाग ।।पूजना०।।३।।

अर्थ—प्रशस्त राग क्या है ? उसे बताते हैं—श्री तीर्थंकर देवो के ३४ अतिशय, आठ महाप्रातिहार्य वाणी के ३५ अतिशय, समवसरण आदि की अद्भुतता, आश्चर्यजनकता, विस्मयकारिता आदि देखकर अथवा सुनकर अनुराग होना प्रशस्त राग कहलाता है । जगत के जीवो का मोहान्धकार दूर करने के लिये धर्म-देशना देकर उनके विस्मृत आत्म-धर्म का स्मरण कराने और उनके सन्देहो का निवारण करने के लिये उनका यह अति उपकारित्व है । आप भाव-आजीविका–आत्मा को पुष्ट जीवन अर्थात् मुक्ति मार्ग योग्य पाथेय, आत्म-गुणो को विकसित करने की विधि रूप वृत्ति के दाता है । तत्त्व को भूल जाने वाले जीवो

को तत्त्व का भान कराना आदि सब उपकार करने वाले श्री वीतराग सर्वज्ञ तीर्थ कर भगवान् हैं । उनके इस अत्यन्त उपकारित्व पर इष्टता—चाह, प्रियता तथा निर्मल—कर्मावरण रहित ज्ञान, दर्शन, वीतरागता, असगता, स्वरूप-भोगित्व प्रमुख गुणो का राग भी प्रशस्त राग है । वीतराग के प्रशस्तरागी को सुरमणि—चिन्तामणि, सुरघट—काम कुम्भ, सुरतरु—कल्पवृक्ष तो तुच्छ लगते है, क्योकि ये सब ऐहलौकिक/भौतिक सुख-भोग प्राप्ति के हेतु हैं, जो जन्म-मरण बढाने वाले अशुद्ध परिणामो/भावो की उत्पत्ति कराने वाले हैं, अत निकृष्ट है । और, श्री अर्हन्त वीतराग का राग तो परम्परा से आत्म-सुख—मोक्ष का कारण है । आत्म गुण-वृद्धि करने का पुष्ट निमित्त है । अत जिन, वीतराग, स्व-गुण भोक्ता, परमदयालु, परमोपकारी, महागोप, महामाहरण, तत्त्व—सम्पदा के उपदेशक अर्हन् परमात्मा के प्रति जिनका अनुराग हो, वे सचमुच महाभाग्यशाली है । जो जीव काम राग, स्नेह राग, दृष्टि राग जो अनादि काल से अत्यन्त परिचित प्रियमित्र है, उन सर्व का परित्याग कर, उनसे पराङ्.मुख हो, वीतराग पुरुषोत्तम परमानन्दमय श्री वासुपूज्य भगवान् का अनुरागी बना, अतः वह स्वयं पवित्र है, धन्यातिधन्य है, कृतार्थ है, कृतपुण्य है । वह महाभाग्यवान् पुण्यपुञ्ज है । यही प्रशस्त राग अर्थात् भाव-पूजा है, जो जीव को सर्व दुःखो से मुक्त कराने वाली है और सुज्ञजनो के लिये आदरणीय, अनुकरणीय और अनुमोदनीय है ।

दर्शन ज्ञानादि गुण आत्मना रे
प्रभु प्रभुता लयलीन ।
शुद्ध स्वरूपी रूपे तन्मयी रे,
तसु आस्वादन पीन ।।पूजना०।।४।।

अर्थ - अब शुद्ध भाव-पूजा बतलाते हैं—जिस साधक की आत्मा के क्षायोपशमिक भावी गुण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रादि सर्व प्रभु की प्रभुता मे लयलीन—तल्लीन बन गये है, अर्हन्त के प्रति आन्तरिक बहुमान है और प्रभु के गुणो की अनन्तता का भासन—ज्ञान

है। इस प्रकार जितनी आत्म-शक्ति प्रकट हुयी है, उसे श्री अरिहन्त गुणों की अनुयायी बना कर तन्मय बना लेना, शुद्ध भाव-पूजा है। वह इस रीति से है—प्रभु की प्रभुता का निश्चय श्रद्धा है, उसके आस्वादन में मग्न रहे, शुद्ध स्वरूपी परमात्मा का स्वरूप अर्थात् वास्तविक धर्म मे तन्मय होकर उसके आस्वादन का अनुभव करे, उससे पीन—पुष्ट रहे, वह शुद्ध भाव-पूजा भक्ति है। योग—मनो वाक् काय द्वारा वन्दन-नमनादि भक्ति योग-भक्ति है। प्रभु पर इष्टता—प्रियता वह राग-भक्ति है। मैं अत्यन्त पुण्यवान् और महान् हूँ, श्री अर्हन्त वीतराग परमात्मा जैसा सर्व गुण-सम्पत्ति-शाली मेरा स्वामी है, और मुझे मुक्ति मार्ग मिल गया, ऐसा गौरव अनुभव करे। और, स्वय के गुणों की प्रभु की प्रभुता के अनुयायी रूप से प्रवृत्ति करे, प्रभु गुणो मे लीन बना हुआ रहे, वह तत्त्व-भक्ति है। ऐसे सम्यक्त्वी, देशविरति, सर्वविरति जिन्होने अपनी मूल परिणति प्रभु की प्रभुता मे लीन कर दी है, वे महानुभाव आत्म-परिणति रूप उत्सग मे प्रभु की प्रभुता को रमण करा रहे हैं। इसे ही शुद्ध भाव-पूजा कहते हैं।

शुद्ध तत्वरस रगी चेतना रे,
पामे आतम स्वभाव ।
आत्मालम्बी निज गुण साधतो रे,
प्रगटे पूज्य स्वभाव ।।पूजना०।।५।।

अर्थ—इस प्रकार शुद्ध भाव-पूजा वाली आत्मा, शुद्ध—निर्मल आत्म-तत्त्व वाले श्री अरिहन्त देव अथवा सिद्ध भगवान् के रस मे रजित होकर उनके गुणो का अनुभव करने वाली चेतना, अन्य विकल्पो को हटा कर अनुभव भावना सहित प्रभु स्वरूप की रसिक चेतना, अपने आत्म-स्वभाव को प्राप्त होकर, आत्मस्वभावोपयोगी आत्म-स्वभाव मे रमण करने वाली आत्मानुभवी बन जाती है अर्थात् उपादानावलम्बी अवस्था को प्राप्त करती है। जब यह भव्य जीव आत्मावलम्बी होता है तब अपने गुणो को 'साधतो' उत्पन्न करता हुआ, सम्यग्दर्शनादि गुणो को प्रकट करता हुआ, गुणस्थान क्रम से दोषो की हानि/नाश करता हुआ, गुण प्राग्भाव स्वरूप एकत्व स्वरूपानुभव करता हुआ, तन्लीन हो जाने से अपने अनादिकालीन सत्तागत पूज्य स्वभाव को प्रकट करता है। अर्थात् वह आत्मा यह जानता हुआ कि, 'मैं सदा का अनन्त गुणशाली पूज्य स्वभावी हूँ' ऐसे निश्चय वाला सम्यग् दर्शन प्रकट होता है। स्याद्वाद सत्ता का भासन—ज्ञान होता है।

सत्ता का भान होने पर सत्ता मे रमण स्वरूप अनुभव स्वरूप चारित्र गुण का आविर्भाव होता है। तत्पश्चात् निरावरण ज्ञान-केवलज्ञान हो जाता है। इस प्रकार श्री वीतराग अरिहन्त देव की पूजा करने से स्वय का पूज्य स्वभाव प्रकट होता है।

आप अकर्त्ता सेवा थी हुवे रे,
सेवक पूरण सिद्धि।
निज धन न दिये पण आश्रित लहे रे,
अक्षय अक्षर ऋद्धि ।।पूजना०।।६।।

अर्थ—श्री वीतराग देव स्वय तो अन्य जीवो के मोक्ष के कर्त्ता नही है, क्योकि पर-कर्त्तृत्व आत्म-द्रव्य का धर्म नही है। अत. स्वय तो पर-जीव की सिद्धि के अकर्त्ता है, किन्तु श्री प्रभु की सेवा से सेवक/भक्त के 'पूरण-सिद्धि' सम्पूर्ण सिद्धता उत्पन्न हो जाती है। भगवान श्री वीतराग निज धन-अपनी ज्ञानादि अनन्त गुण की धन-सम्पत्ति किसी अन्य को देते नही। अर्थात् कोई भी द्रव्य अपना गुण अन्य द्रव्य को न देता है, न यह गुण अपने द्रव्य को छोड़कर अन्य द्रव्य मे जाता है। कोई भी द्रव्य परस्पर एक दूसरे के गुणो का विनिमय (परिवर्तन) नही करते। सर्व द्रव्य स्व-स्व की सत्ता के स्वामी है। अत श्री अरिहन्त देव किसी को देते नही, परन्तु आश्रित-आश्रय मे रहने वाला सेवक स्वत, ही निश्चय से अक्षय-कभी क्षय, नष्ट न होने वाली तथा अक्षर-न क्षर, न जीर्ण होने वाली, न खिरने वाली, ऐसी अविनाशी अनन्त आत्म-सम्पदा अर्थात् पूर्णानन्दादि की समृद्धि को प्राप्त करता है। अत जिन-भक्ति सिद्धता का अव्यर्थ उपाय है।

जिनवर पूजा रे ते निज पूजना रे,
प्रगटे अन्वय शक्ति।
परमानन्द विलासी अनुभवे रे,
देवचन्द्र पद व्यक्ति ।।पूजना०।।६।।

अर्थ—श्री जिनेन्द्र देव की पूजा-भक्ति वास्तव मे निज-स्व की पूजा-भक्ति है। आत्म-गुणो की वृद्धि अर्थात् आत्म-सम्पदा की पुष्टि करना है। क्योकि, जिन-सेवा से स्वय के अन्वयी गुण-सहज ज्ञानानन्दादि जो अनन्त शक्ति को पुष्ट करते है, वे प्रकट होते हैं अर्थात् निरावरण बनते हैं। वह जीव परमानन्द का विलासी होकर 'अनुभवे' भोगता है, अनुभव करता है। क्या अनुभव करता है ? 'देवचन्द्र' सर्व देवो में चन्द्रमा के सदृश 'पद' अर्थात् परमात्मता पूर्णता निरावरणता निरामयता ,तत्त्व-भोक्तृत्व स्वरूपानन्दता रूप पद की व्यक्ति-अभिव्यक्ति प्रकट करता हुआ अनुभव करता है। जो अनन्त काल से कर्मो से आवृत थी, वह निरावरण होनें पर, उन कर्मो के क्षय होने पर अक्रिय अनवच्छिन्नता शक्ति प्रकट होती है। आत्मा शुद्ध बनती है। अतएव जिनेन्द्र देव की भक्ति परमात्मता रूप आत्म-सिद्धि का कारण है। हे भव्य जनो ! मुमुक्षुओ ! आप श्री वीतराग अरिहन्त की भक्ति-पूजा विधि-सहित, भौतिक वस्तुओ की प्राप्ति की अभिलाषा से मुक्त होकर, तत्त्व-साध्यता अर्थात् आत्म-तत्त्व की शुद्धि के लिये करो। यही मुक्त होने का, सिद्धि-प्राप्ति का परमोत्तम उपाय है।

१३. श्री विमल जिनेन्द्र स्तवन

(राग—आदर जीव क्षमा गुण आदर
अथवा—दास अरदास सी परे करे जी)

विमल जिन ! विमलता ताहरी रे,
अवर बीजे न कहाय ।
लघु नदी जिम तिम लघिये जी,
स्वयम्भूरमण न तराय ।।वि० १।।

अर्थ—अब श्री विमलनाथ भगवान् की स्तुति करते है—हे विमल जिन ! 'विमलता ताहरी' आपकी विमलता निर्मलता कैसी है ? समस्त द्रव्यकर्म भावकर्म परानुयायितादि सर्व दोषो से रहित है । किसी भी प्रकार के द्रव्यमल और भावमल का कही अणुमात्र भी नही है । ऐसी अद्भुत विमलता अवर-बीजे किसी अन्य में नही है । और, किसी छद्-मस्थ द्वारा न कहाय-नही कही जा सकती है । भाष्य मे कहा है—"सिद्ध स्वरूपस्यानन्तत्वाद् वाच. क्रमपरिणतत्वादायुषस्याल्पत्वात् तेन वक्तुं न शक्यते केनाऽपि ।"

श्री सिद्ध परमात्मा का स्वरूप अनन्त गुणमय होने से क्रम से परिणत होने वाले वाक्-शब्दो द्वारा तथा मनुष्य एव देवादि की आयु सीमित-अल्प होने से, किसी के द्वारा वर्णन नही किया जा सकता। इसे दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं कि, जैसे लघु-छोटी नदी को तो जैसे-तैसे तैर कर या नाव-जलयान आदि द्वारा लघन-पार की जा सकती है, किन्तु असख्य कोटि योजन का स्वयम्भूरमण नामक अन्तिम और मनुष्य लोक

से करोड़ो योजन दूर समुद्र कैसे पार किया जा सकता है ? देव शक्ति से वह भी कदाचित् पार किया जा सकता है, किन्तु मनुष्य के द्वारा नही। आपके गुण तो स्वयम्भूरमण समुद्र से भी अनन्त हैं। उन्हे वचन द्वारा कथन करने मे कोई समर्थ नही है।

सयल पुढवी गिरि जल तरुजी,
कोई तोले इक हत्थ।
तेह पण तुझ गुण-गण भणी जी,
भाखवा नही समरत्थ ॥वि० २॥

अर्थ—सयल – सकल पुढवी–पृथ्वी, गिरि–पर्वत, जल–पानी, तरु–वनस्पति अर्थात् सर्व जगत् की भूमि और उस पर विद्यमान सभी मेरु आदि गिरिराज और उन पर विद्यमान जल, वनस्पति–वृक्ष, लताए, गुल्म, वल्लियाँ आदि को इक हत्थ–एक हाथ द्वारा उठाकर तोले– अर्थात् अधर उठाले, ऐसा बलवान् कोई क्षायोपशमिक वीर्यवान् हो सकता है। किन्तु, वह भी आपके रत्नत्रयादि गुण-गण–गुणो का समूह जो अनन्त है, उसे भाखवा–कहने में समरत्थ–समर्थ नही है। श्री सर्वज्ञ के अतिरिक्त सभी प्राणी क्षायोपशमिक वीर्य वाले हैं। ऐसी शक्ति वाले तो क्या साक्षात् श्री अरिहन्तदेव भी जो क्षायिक वीर्य–शक्ति वाले है, वे भी आपके निर्मल स्वरूप को केवलज्ञान द्वारा जान सकते है, परन्तु आयु सीमित होने से अनन्त गुणो का कथन करने में असमर्थ है, ऐसी दशा मे मुझ जैसा बाल कैसे समर्थ हो सकता है ?

सर्व पुद्गल नभ धर्म ना जी,
तेम अधर्म प्रदेश।
तस गुण धर्म पज्जव सहु जी,
तुझ गुण इक तणो लेश ॥वि० ३॥

अर्थ—जगत् में विद्यमान् सर्व पुद्‌गल द्रव्य के तथा नभ–आकाश द्रव्य, धर्म–धर्मास्तिकाय तेम–वैसे ही अधर्म–अधर्मास्तिकाय अर्थात् चारो अस्तिकाय और पाँचवा जीवास्तिकाय इन सर्व के अनन्त प्रदेश, अनन्त गुण-धर्म – नित्यत्वादि और उनके सर्व के पर्याय भी सर्व से अनन्त गुणे हैं। हे प्रभो! वे सर्व मिलकर भी आपके गुण मात्र केवलज्ञान के सम्मुख लेश–कण मात्र हैं, क्योकि इन सर्व पञ्चास्तिकाय के भाव तो वर्त्तमान कालिक है और सर्वज्ञ तो केवलज्ञान द्वारा इन सर्व के अतीत, वर्तमान और अनागत तीन काल के पर्याय जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप हैं, उन्हे एक समय में जानते है तथा इनसे अनन्त गुणे दूसरे धर्म को भी एक समय मे जानते है। इस कारण केवलज्ञान की शक्ति अनन्त गुणी है। विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है—

"ये हि केवलस्य निःशेषज्ञेयगता विषयभूता पर्यायास्ते ज्ञानाद्वैतवादिनयमतेन ज्ञानरूपत्वादर्थापत्त्यैव स्वपर्याया प्रोक्ता, न तु परपर्यायापेक्षया इत्यविशेषकेवलत्वविरोधो नाशंकनीय इति।"

अर्थ—जो केवलज्ञान के सम्पूर्ण ज्ञेयगत विषयभूत पर्याय है, वे सर्व ज्ञानाद्वैतवादि नय के मत से ज्ञान रूप होने से अर्थापत्ति न्याय से ही स्व पर्याय कहे गए है, न कि पर पर्याय अपेक्षा से? अत. अविशेष केवलत्व के विरोध की आशंका नही करनी चाहिये अर्थात् केवलज्ञान सम्पूर्ण विषयों का ग्राहक होने से सर्व से अनन्त गुण है।

एम निज भाव अनन्त नी जी,
अस्तिता केटली थाय।
नास्तिता स्व पर पद अस्तिता जो,
तुझ समकाल समाय जी ॥वि० ४॥

अर्थ—इस रीति से जैसे केवलज्ञान गुण अनन्त पर्याय वाला है वैसे ही केवल दर्शनादि के भी निज भाव गुण पर्याय अनन्त हैं। उनकी अनन्तता कितनी है? इसे बताते हैं–जैसे स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप अस्तिता अनन्त है, वैसे ही पर-पर्याय अर्थात् अन्य द्रव्य–जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य पुद्‌गलादि के प्रदेश उनके स्वभाव और उनके गुण पर्याय भी

अनन्त है, उनकी सर्व की अनन्तता का नास्तित्व आप मे है और वह भी अनन्त है। इस प्रकार **पूज्यपाद** ने तथा श्री **हेमचन्द्रसूरि** ने भी कहा है।

' ये यस्य समवेतास्ते स्वपर्याया प्रोच्यन्ते, अस्तित्वेन सम्बद्धास्ते च अनन्ता, ये च घटादिगताश्चास्य पर्यायास्तेभ्यो व्यावृत्तित्वेन नास्तित्वेन सम्बद्धा इति ।"

अर्थ—जो जिन द्रव्यो से समवेत (युक्त) हैं वे उनके स्व पर्याय कहलाते हैं। जो अस्तित्व रूप से सम्बन्ध है वे अनन्त हैं तथा जो घटादिगत इसके पर्याय हैं उनसे व्यावृत्ति रूप व नास्तित्व रूप से सम्बद्ध हैं। अत. ये जो नास्ति पर्याय है, वे भी द्रव्य निष्ठित है। वे स्व-पद मे ज्ञान गुण के अमूर्त्तत्व, चेतनत्व, सर्व वेत्तृत्व, अप्रतिपातित्व, निरावरणत्व आदि केवलज्ञान के पर्याय है। इस प्रकार केवलज्ञान के स्व-पर्याय अस्ति रूप से अनन्त हैं। अब केवलदर्शनादि अनन्त गुणो के जो पर्याय हैं, वे सर्व केवलज्ञान में नास्तित्व रूप से रहे हुये है। जैसे कि, केवलज्ञान अस्ति-नास्ति रूप से है वैसे ही केवलदर्शन तथा चारित्र, सुख, अरूपत्व, अगुरु-लघुत्व, परमदानादि अनन्त गुण है, वे सभी स्वय के एक द्रव्य निश्रित अनन्त गुण की नास्तिता को लिये हुये है। अत स्वपद में नास्तित्व तथा परपद रूप से भी नास्तित्व है। वह सर्व नास्तित्व उस द्रव्य मे ही अस्तित्व रूप से भी विद्यमान है। नास्ति धर्म की अस्तिता भी उस द्रव्य मे ही है। इसे इस प्रकार समझिये— जिस जीव मे ज्ञानादि गुण की अस्तिता है, उसमे पौद्गलिक वर्णादि का नास्तित्व भी है। वह वर्णादित्व जीव में नही है, किन्तु उनकी नास्तिता जीव मे है। **तत्त्वार्थ सूत्र** मे कहा है—**"यदि पर-नास्तिता जीवादिषु न स्यात् तदा जीवादीनां परत्व-परिणति स्यात् इति ।"** यदि परवस्तु का नास्तित्व जीवादि मे न हो तो जीवादि की परत्व परिणति हो जाय। अत जीव मे अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनो ही है। श्री **विशेषावश्यक भाष्य** मे भी कहा है —

"द्विविधं हि वस्तुस्वरूप अस्तित्वं च नास्तित्व। ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य परपर्याया. ये तु नास्तित्वेन सम्बद्धास्ते तस्य परपर्याया प्रतिपाद्यन्ते इति। निमित्तभेदख्यापनपरौ स्व-

पर-शब्दौ न त्वेकेषां, तत्र सर्वथा सम्बन्धनिराकरणपरौ, अतो अस्तित्वेन सम्बद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते, न पुन सर्वथा ते तत्र असम्बद्धाः नास्तित्वेन सम्बद्धाः, इति वचनात् ।"

अर्थ—वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का है—अस्तित्व और नास्तित्व ! जो जिस द्रव्य-वस्तु मे अस्तित्व रूप से प्रतिवद्ध हैं, वे उस द्रव्य के पर्याय है और जो नास्तित्व रूप से सम्बद्ध है, वे उस द्रव्य के परपर्याय प्रतिपादित किये गये है अर्थात् बतलाये गये है। इस प्रकार निमित्तभेद बताने वाले ही स्व-पर शब्द है, न कि किन्ही एक का सर्वथा सम्बन्ध निराकरण-निषेध करने वाले। अतः जो अस्तित्व रूप से असम्बद्ध हैं, वे परपर्याय कहलाते है किन्तु वे पुन: सर्वथा उस द्रव्य से असम्बद्ध नही अपितु नास्तित्व रूप से सम्बद्ध है। इस उल्लेख से जानना चाहिये।

अतएव नास्तित्व का भी वस्तु-द्रव्य से सम्बन्ध ही है। वह स्वपद अर्थात् स्वद्रव्य के गुणान्तर की विवक्षा में नास्तित्व तथा परपद अर्थात् परद्रव्य के गुण की नास्तिता। ये दोनो नास्तिता सर्व वस्तु धर्म मे पारिणामिक भाव से विद्यमान हैं। हे विमल जिन ! ये सर्व आपकी पारिणामिकता मे निरावरण रूप से कर्तृत्व मे भोक्तृत्व में समकाल—सदा प्रतिसमय समायी हुयी है अर्थात् सदैव समावेश ही रहता है, पृथक् नही होते। इतनी अनन्तता आप मे है। और, आपके ये सर्व धर्म अस्तित्व अनन्तता निर्मलता आदि हैं, वे सम्यक्त्वधारी के श्रद्धा गोचर अर्थात् श्रद्धा मे है तथा पूर्वधरो के परोक्ष ज्ञानगोचर हैं और केवलज्ञानियो के तो प्रयत्क्ष हैं। इस प्रकार अभिलाप्य तथा अनभिलाप्य की अनन्तता है। वह किसी के द्वारा नही कही जा सकती। अतः हे नाथ ! आपका ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आत्म-रमण सुख की अनन्तता जिस भव्य जीव को स्याद्वाद सहित प्रतीति भासन गोचर हुयी, उस जीव को धन्य है। पुनः ऐसी अनन्त शक्तियो के पुञ्ज आपका तो कहना ही क्या ? आप तो महापूज्य हैं, देवाधिदेव वीतराग देव सर्वमहान् हैं।

ताहरा शुद्ध स्वभाव ने जी,
आदरे धरि बहुमान ।
तेहने तेहिज नीपजे जी,
ए कोई अद्भुत तान ।।वि० ५।।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके शुद्ध निर्दोष अनन्त आनन्दादि रूप स्वभाव का, जो वास्तव मे अक्रिय एव अक्षय है, उनको जो आदरे—स्वीकार करे अर्थात् वन्दन, नमन, सेवन, स्मरण, ध्यानादि रूप से आचरण करे, बहुमान पूर्वक-अत्यन्त सम्मान से ग्रहण करे, उस साध्यार्थी सेवक का भी वैसा ही स्वय का स्वभाव शुद्ध हो जाता है, कर्मरहित बन जाता है। उसकी आत्मा भी प्रभु के जैसी निर्मल बन जाती है। यह कोई अद्भुत तान-विस्तार है, अर्थात् प्रभु के प्रभाव का विस्तार है। जिससे अरिहन्त प्रभु के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करने से ध्याता के आत्मा का स्वरूप शुद्ध हो जाता है। यह आश्चर्य कम नही है।

तुम प्रभु तुम तारक विभुजी,
तुम सम अवर न कोय।
तुम दरिसण थकी हूँ तर्यो जी,
शुद्ध आलम्बन होय ।।वि० ६।।

अर्थ—हे प्रभो ! आप वास्तव मे मेरे प्रभु-अधिपति स्वामी है। मेरे तारक अर्थात् ससार समुद्र से तारने वाले महा-निर्यामक भी आप ही हैं। विभु—अत्यन्त सामर्थ्यशाली हैं। हे कृपासिन्धो ! हे देव ! हे ज्ञानभानो ! आप सदृश मेरे अवर-अन्य कोई नही है। त्रिभुवन मे आप ही दयालु है। हे जगद्वत्सल ! तुम दरिसण थकी अर्थात् आपके दर्शन से अथवा सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त करके हूँ तर्यो-अर्थात् ससार समुद्र का उल्लघन कर तर गया, पार हो गया। यहाँ निमित्त कारण पाकर भक्ति के हर्ष से औपचारिक वचन 'हूँ तर्यों' शब्द का उच्चारण किया है। साराश यह है कि इस प्रकार शुद्ध स्वरूप के आलम्बन से मैंने अपना शुद्ध स्वरूप जान लिया, इससे स्वरूप-रुचि उत्पन्न हुयी। पश्चात् स्वरूप-विश्रामी एव अनुभव ध्यानी बनकर तिर गया। इस भावी कार्य 'तरने' का वर्त्तमानारोप नैगम नय की अपेक्षा से किया है।

प्रभु तणी विमलता ओलखी जी,
जे करे थिर मन सेव।

देवचन्द्र पद ते लहे जी,
विमल आनन्द स्वयमेव ।।वि० ६।।

अर्थ—इस प्रकार प्रभुजी की विमलता-निर्मलता को जिन्होंने ओलखी-पहचान ली, चीन्ह ली, ज्ञान कर लिया, वे प्राणी थिर मन-दृढ मन होकर सेव-सेवा भक्ति करते हैं। वे सम्यक्त्वी देशविरति सर्वविरति वनकर स्वय 'देवचन्द्र पद' सर्व देवो मे चन्द्र-श्रेष्ठ, पद-परमात्म पद लहे-प्राप्त करते हैं अर्थात् अनादि परम्परा से सन्तति सयोगी भाव कर्म उपाधि का क्षय कर, विमल-निर्मल सिद्ध बुद्ध आत्म-तत्त्व की पूर्णता को प्राप्त करते है। 'देवचन्द्र' शब्द से स्तुतिकर्त्ता ने अपना नाम भी सूचित किया है। वह देवचन्द्र पद विमल, निर्मल एव आनन्दमय है और वह स्वयमेव खुद ही है। स्वय का आनन्द स्वय ही भोगते हैं। ऐसे श्री विमलनाथ भगवान् की सेवना करो ! मोक्षार्थी जीव के लिये श्री वीतराग अरिहन्त की सेवना ही सर्वाधिक निमित्त कारण है। अनादि की भ्रान्ति दूर करने में पुष्ट निमित्त है।

———

१४. श्री अनन्तनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग—दीठी हो दीठी जगगुरु तुझ)

मूरति हो मूरति अनन्त जिणंद,
ताहरी हो प्रभु ताहरी मुझ नयणे वसी जी ।
समता हो प्रभु समता रस नो कन्द,
सहजे हो प्रभु सहजे अनुभव रस लसी जी ॥१॥

अर्थ—अब श्री चौदहवे तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ भगवान् की स्तवना करते हैं - हे अनन्तनाथ जिनेन्द्र ! ताहरी–आपकी मूरति–मुद्रा आकृति, मुझ नयणे–मेरी आँखो मे वसी–निवास कर रही है । आपकी मुद्रा कैसी है ? समता रस की कन्द है अर्थात् राग-द्वेष-मुक्त भाव ही समता है, ऐसी समता रस का कन्द है । सहजे–प्रयास रहित, अनुभव–स्व-भोगित्व ज्ञान उसके रस से लसी–शोभित हुयी, भरी हुयी, तन्मय रूप है ।

भव दव हो प्रभु भव दव तापित्त जीव,
तेहने हो प्रभु तेहने अमृत घन समी जी ।
मिथ्याविष हो प्रभु मिथ्याविष नी खीव,
हरवा हो प्रभु हरवा जागुली मन रमी जी ॥२॥

अर्थ—भव–चतुर्गति रूप ससार के दव–दावानल से तापित–तपे हुये, गर्मी से व्याकुल घबराये हुये जीवो को शीतल करने के लिये अमृत घन–अमृत से भरे हुये घन–बादलो के समी–समान है । अर्थात्

ससार के जन्म-मरणादि दुःखों का ताप आपकी मुद्रा के दर्शन से शान्त हो जाता है। मिथ्यात्व निश्चय और व्यवहार से दो भेद वाला है। निश्चय-परभाव/शरीरादि को ही आत्मा मानना, व्यवहार-कुदेव कुगुरु कुधर्म में सुदेव सुगुरु सुधर्म को मान्यता श्रद्धा रखना, दोनों प्रकार के मिथ्यात्व रूप विष की खीव-मूर्च्छा, उसे हरवा-दूर करने के लिये, जागुली-गारुडी के मन्त्र समान है अर्थात् आपकी प्रशान्त मुद्रा के दर्शन से मिथ्यात्व का विष और उसकी मूर्च्छा/बेहोशी दूर हो जाती है।

भाव हो प्रभु भाव चिन्तामणि एह,
आतम हो प्रभु आतम सम्पत्ति आपवा जी।
एहिज हो प्रभु एहिज शिव सुख गेह,
तत्व हो प्रभु तत्वालम्बन थापवा जी ॥३॥

अर्थ—पुनः, हे प्रभो! यह आपकी मुद्रा भाव चिन्तामणि रत्न सदृश है अर्थात् द्रव्य चिन्तामणि रत्न तो ऐन्द्रिय-इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले भोगोपभोग रूप सुख का हेतु है अर्थात् भौतिक सुख सामग्री प्रदान करता है और श्री वीतराग की प्रशमरस भरी मुख मुद्रा एव पद्मासनस्थ नासाग्र-दृष्टि आदि तो आतम अर्थात् आत्म-सम्पत्ति अनन्त ज्ञानादि सम्पत्ति प्रदाता है, अतः भाव चिन्तामणि रत्न है। इसलिये एहिज-यही शिवसुख-मोक्ष सुख का गेह-निवास स्थान है तथा तत्त्व-आत्म-तत्त्व का, अध्यात्म स्वरूप का आलम्बन स्थापित करने के लिये आपकी प्रशान्त मूर्ति ही श्रेष्ठ कारण है।

जाये हो प्रभु जाये आस्रव चाल,
दीठे हो प्रभु दीठे सवरता वधे जी।
रत्न हो प्रभु रत्नत्रयी गुणमाल,
अध्यात्म हो प्रभु अध्यात्म साधन सधे जी ॥४॥

अर्थ—आस्रव चाल-नये कर्म ग्रहण करने की अनादि कालीन आत्मा की प्रवृत्ति जाय-नष्ट हो जाती है। आपकी मूर्ति देखने से

सवर-कर्मबन्ध को रोकने की प्रवृत्ति वधे-बढ़ जाती है। आत्म-धर्म की रमणता मे वृद्धि हो जाती है। रत्नत्रयी-सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप गुणो की माला अर्थात् निमल श्रेणी जिसमें है ऐसी आपकी मुद्रा के दर्शन से वह अध्यात्म-आत्मा के स्वरूप का साधन प्राप्त करने का उपाय सधे अर्थात् सिद्ध हो जाता है, प्राप्त हो जाता है।

मीठी हो प्रभु मीठी मूरत तुझ,
दीठी हो प्रभु दीठी रुचि बहुमान थी जी।
तुझ गुण हो प्रभु तुझ गुण भासन जुत्त,
सेवे हो प्रभु सेवे तसु भव भय नथी जी ॥५॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! आपकी जो सूरत-पद्मासनस्थ नासाग्र दृष्टि प्रशान्त मुद्रावली आपकी प्रतिमा-स्थापना जिन, सुन्दर प्रमाणोपेत आकार युक्त मूर्ति मीठी-मधुर है, उसे मैने देखा। जो मुमुक्षुजन होते हैं, वे अत्यन्त रुचि से बहुमान पूर्वक प्रभु-प्रतिमा के दर्शन करते हैं। मैंने भी इसी भाव से आज दर्शन किये हैं, अतः मैं धन्य हूँ, कृतपुण्य हूँ। **वसुदेव हिण्डी** मे कहा है—

"को वि हु पुन्नबीओ, वविओ पुव्वं च भवसहस्सेहिं।
ते णं जिणवर-दंसण-लंभो मयं च जेऽलद्धो ॥"

अर्थ—अहो ! मैने कोई ऐसा पुण्य बीज बोया था जो पूर्व के हजारो भवो मे कभी लब्ध नही था, ऐसा श्री जिनेश्वर देव का दर्शन मुझे मिला।

इससे मै धन्य हूँ कि ऐसी वीतराग मुद्रा के मुझे दर्शन हुये, अहो ! कैसा अद्भुत ज्ञान है, कैसा उपकारित्व है और कैसी अद्भुत/ वस्मयजनक वात है कि मुझ सदृश रक, दीन एव मोहमग्न अज्ञानी को इस प्रभु-मुद्रा के दर्शन हुये। यह कितना महान् सौभाग्य है कि मैने रुचि व बहुमान से प्रभु-मुद्रा के दर्शन किये। ऐसी वीतराग-मुद्रा और श्री अर्हन्त देव के अनन्त चतुष्ट्य—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वल/शक्ति के भासन—ज्ञान युक्त

प्रभु के जो भाग्यशाली दर्शन और द्रव्य-भाव से पर्युपासना करता है उसे भव-भय–संसार-भ्रमण आदि का भय नही रहता है, क्योकि जो जीव अरिहन्त की भक्ति करते हैं, वे ससार-भ्रमण नही करते है। कहा भी है :—

"इक्को वि णमुक्कारो जिणवर–वसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ।।"

अर्थ–श्री जिनवर वृषभ–तीर्थंकरो मे श्रेष्ठ श्री वर्द्धमान स्वामी को किया गया एक भी नमस्कार, भाव पूर्वक वन्दन, पुरुप हो अथवा नारी, सभी को ससार सागर से तार देता है अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त कर देता है।

नामे हो प्रभु नामे अद्भुत रंग
ठवणा हो प्रभु ठवणा दीठे उल्लसे जी ।
गुण आस्वाद हो प्रभु गुण आस्वाद अभंग,
तन्मय हो प्रभु तन्मयताए जे धसे जी ।।६।।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके नाम श्रवण मात्र से अद्भुत–विस्मय जनक रग–आनन्द उत्पन्न होता है। पुनः, हे देव ! आपकी परमोपकारी ठवणा–स्थापना/मूर्ति देखने से मन उल्लसित–हर्पित होता है। अतः स्थापना-प्रतिमा जीवो के लिए परमोपकारी है। जिसके दर्शन से अपने स्वरूप का स्मरण होता है, स्थापना निक्षेप के निमित्त से समवसरण स्थित अनेक जीवो को सम्यक्त्व व्रतादि का अपूर्व लाभ होता है, ऐसा आगमो मे प्रसिद्ध उल्लेख है। इन्ही स्थापना जिन–प्रभु की प्रतिमा के बाह्य अतिशय प्रातिहार्यादि—छत्र, चामर, परिकरादि देखने से व अनन्त चतुष्ट्य तथा ज्ञानातिशय, अपायागमातिशय, पूजातिशय वचनातिशय का स्मरण करने से प्रभु के गुणों का अभग आस्वादन होता है। यह आस्वादन अभग रूप से वही करता है जो तन्मयता से प्रभु गुणों में धसे–प्रवेश करता है, रमण करता है। और, प्रभु गुणो मे रमण करने वाला ही उन गुणो का मूल्याकन कर उन्हे प्राप्त करने की रुचिवाला

बनकर साधना पथ पर–त्याग तप सयम के मार्ग का पथिक बनकर उस पर अग्रसर होता है। ऐसी अद्‌भुत महिमा प्रभु दर्शन की है।

गुण अनन्त हो प्रभु गुण अनन्तनो वृन्द,
नाथ हो प्रभु नाथ अनन्त ने आदरे जी ।
देवचन्द्र हो प्रभु देवचन्द ने आनन्द,
परम हो प्रभु परम आनन्द ने ते वरे जी ।।७।।

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त गुणो के वृन्द–समूह के नाथ स्वामी श्री अनन्तनाथ भगवान को आदरे–उपादेय रूप से ग्रहण करे। वह देवचन्द्र–स्तुतिकर्त्ता अथवा देवो मे चौसठ इन्द्रादि जो चन्द्रवत् है, उन्हे आनन्द होता है तथा स्तुतिकर्त्ता भक्तजन परम आनन्दमय मोक्षपद का वरण करते है। ऐसे प्रभु की सेवा करते हुये भक्त प्राणी कर्म-क्लेश से मुक्त हो जाते है।

१५. श्री धर्म जिनेन्द्र स्तवन

(राग— सफल ससार अवतारए हूँ गणू)

धर्म जगनाथ नो धर्म शुचि गाइये,
आपणो आतमा तेहवो भाविए ।
जाति जसु एकता तेह पलटे नही,
शुद्ध गुण पज्जवा वस्तु सत्तामयी ॥१॥

अर्थ—अब श्री धर्मनाथ भगवान की स्तुति करते है और आत्म-द्रव्य के लिये साधकता और वाधकता का विवेक कराते हैं। पनरहवे तीर्थ कर श्री धर्मनाथ भगवान के पवित्र आत्म-धर्म का गाइये–गायन करना चाहिये । उनका आत्म-धर्म शुचि/पवित्र हो गया है और वे सर्वथा कलिमल से मुक्त हो गये हैं। संग्रहणी मे कहा है—"**जो पुण आयसहावो धम्मोवयारिस्स** ।" अर्थात् जो आत्म-स्वभाव है, वह धर्म है और उपकारी है। तथा 'उभयक्खय हेतु' स्वभाव और धर्म दोनो कर्मक्षय के हेतु है। भाव-धर्माधिकार में कहा है—"**जीवाणं भावधम्मो कम्मा-भावेण जो खलु सहावो** ।" कर्मो के अभाव मे जो स्वभाव प्रकट होता है, वही जीवो का भाव-धर्म है। तथा "**कम्मविमुक्कसरूवो अणि-दियत्ता अत्थिज्ज मज्जाओ। रूवादिविरहितो वा अणाइपरिणाम भावाओ** ।" कर्मो से विमुक्त स्वरूप—अनिन्द्रियत्व, अस्थि, मज्जा, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि एव अनादि परिणाम से मुक्त स्वरूप ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

ऐसे पवित्र धर्मनाथ भगवान के स्वभाव धर्म को गाइये-कीर्तन करना चाहिये। उनका धर्म परानुयायिता से रहित है, अत उसी का बारम्बार स्मरण करना चाहिये। तत्त्व की अभिव्यक्ति पूर्वक स्तवना करनी चाहिये और स्वय के आत्मा को भी वैसा ही भाविये–समझना चाहिये। जैसा धर्मनाथ प्रभु का धर्म–स्वभाव है वैसा ही मेरा भी है अर्थात् मेरी आत्मा भी वैसी ही है। श्री **सिद्ध प्राभृत** की **टीका** मे भी कहा है—

"जारिस सिद्ध-सहावो, तारिस सभावो हु सव्व जीवाणं।
तेणं सिद्धत्त रुइ कायव्वा भवजीवेहि ॥"

अर्थ—जसा सिद्ध आत्माओ का स्वभाव है, वैसा ही सर्व जीवो का है। अत सर्व जीवो को सिद्धत्व की रुचि करानी चाहिये। **तत्त्वार्थ** सूत्र की टीका में भी यही कहा है—**"जीवो जीवत्वावस्थ सिद्ध"**—जीव वास्तविक अवस्था मे सिद्ध रूप है। अत· सिद्धत्व तो जीव की स्वाभाविक अवस्था है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि संसारी जीव जो कर्म सहित मोहयुक्त मिथ्यात्व मे रमण करने वाले हैं, ऐसे असयमी अज्ञानी जीवो को सिद्धो के तुल्य कैसे कहते हो ? उत्तर—वस्तु की एकता जातिपरक होती है, वह कभी पलट नही सकती। अत. जीव द्रव्य एक से है, उनका स्वभाव एक रूप है। ससारी जीव आदि काल से कर्मावृत्त रहा है, तथापि स्वभाव मे कोई परिवर्तन नही छोडता। मेरी तथा श्री धर्मनाथ स्वामी की आत्म जाति एक ही है। श्री **स्थानांग सूत्र** में कहा है—**'एगे आया'** 'आत्मा एक है' अर्थात् यहाँ भी स्वरूप की एकता से 'एगे आया' कहा है। वैसे आत्मा अनन्त है तथापि जाति से एक है। यद्यपि ससारी आत्मा अज्ञान व मोहनीय की तीव्रता से स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण पर-भाव मे रमण करने वाला है, तथापि जीवत्व तो सग्रहनय की अपेक्षा से वैसा ही है। जो शुद्ध निर्मल गुण पर्यायमय वस्तु की सत्ता है, वह सभी जीवो मे समान है, क्योकि सर्व जीवादि द्रव्य, गुण और पर्याय सयुत हैं। **तत्त्वार्थ सूत्र** मे 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' कहा है। **सम्मति** मे भी कहा है—

"दव्वं पज्जवविउअं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि ।
उप्पायठिइ भंगाई, दवियलक्खणं एयं ॥"

अर्थ—द्रव्य पर्याय से वियुक्त-रहित नही है, और पर्याय द्रव्य से वियुक्त-रहित नही है।

उप्पज्जंति वियंति य परिणमंति य गुण न दव्वाइं ।
दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइं दव्वाइं ॥२६४८॥
—विशेषावश्यक भाष्य

गुणो का परिणमन उत्पाद व्यय रूप से होना पर्याय है। गुण द्रव्य से उत्पन्न है। द्रव्य गुण से उत्पन्न नही है। **'अपज्जवाणं जाणणा नत्थि'** यह आगम वचन है। **आवश्यक निर्युक्ति** मे भी कहा है :—

"गुणाणामासओ दव्वं एगदव्व सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ निस्सिया भवे ॥"

अर्थ—गुणो का आश्रय द्रव्य है, गुण एक द्रव्याश्रित है और लक्षण तथा पर्याय तो उभयाश्रित अर्थात् द्रव्य और गुणाश्रित है।

अतः जीवादि वस्तु की सत्ता शुद्ध गुण-पर्यायमय है। यद्यपि ससारी जीव अशुद्ध परिणामी है और उसके ज्ञानादि गुण कर्मो से आवृत्त-ढंके हुये हैं तथापि सत्ता से शुद्ध हैं, निरामय है। अत अपना आत्म-स्वरूप श्री धर्मनाथ स्वामी के सदृश समझना, यही तत्त्वालम्बी होने का मार्ग है।

नित्य निरवयव वलि एक अक्रिय पणे,
सर्वगत तेह सामान्य भावे भणे ।
तेहथी इतर सावयव विशेषता,
व्यक्ति भेदे पड़े जेहनी भेदता ॥२॥

अर्थ—अब सामान्य बिना वस्तु की सत्ता-विद्यमानता का कोई आधार नही होता तथा विशेष बिना कार्य नही होता, पर्यायो की प्रवृत्ति

नही होती. अतएव पञ्चास्तिकाय सामान्य और विशेष स्वभाव वाले हैं। अब प्रथम सामान्य का लक्षण बताते हैं–जो सदा अविनाशी और नित्य हो किन्तु आकाशवत् निरवयव हो, जिसका विभाग या अंश न हो वह निरवयवी होता है। और, मात्र एक है, दो नही होते। स्वजाति में द्विधाभाव नहीं होता, वह एक होता है। जानने की परस्पर कोई क्रिया न करे, वह अक्रिय होता है। किसी पर्याय मे व्याप्त हो, किसी में न हो, ऐसा नही, किन्तु सर्व पर्यायो में व्याप्त हो। यह सामान्य भाव श्री सवज्ञ देव द्वारा कहा गया है। श्री **विशेषावश्यक भाष्य** मे भी यही कहा है—

"एगं निच्चं निरवयवमक्किय सव्वगं च सामन्नं ॥२२०६॥"

अर्थ–एक, नित्य, निरवयव, अक्रिय और सर्व द्रव्य व्यापी सामान्य है।

इसका ज्ञान निम्न प्रकार से समझे—जो नित्यत्व है, वह सामान्य धर्म है, क्योकि वह पदार्थ मे नित्य रहता है। उस नित्यत्व के प्रदेश, पर्याय रूप अवयव नही होते, अतः निरवयव है। वह नित्यत्व एक ही है। वह जानना–ज्ञान करना आदि कोई क्रिया नही करता, अत. अक्रिय है वह नित्यत्व प्रदेश मे, गुण मे, पर्याय मे सब मे व्यापक है, इससे सर्वगत है। इतने लक्षणो मे पहुचता है, अतः नित्यत्व सामान्य है। इस प्रकार अनित्यत्व आदि भी सर्व सामान्य मे ही अन्तर्भूत जानने चाहिये। यह सामान्य स्वभाव है।

अब विशेष स्वभाव का लक्षण बताते है—वह सामान्य से इतर–दूसरे सावयव, सप्रदेशी, अविभाग पर्याय सयुक्त, अनेक अनित्य सावयव युक्त है अर्थात् सप्रदेशी एव सक्रिय है, वह विशेष स्वभाव है, किन्तु व्यक्ति, पदार्थ तथा गुणान्तर के भेद से उन मे भेद पड़ता है अर्थात् सर्व प्रकार की अभिव्यक्ति मे विशेषता पृथक्-पृथक् है, अतः विशेष की सर्वत्र पृथक्ता है। उस विशेष स्वभाव मे ज्ञानादि गुणो के भेद जानने चाहिये। यह सामान्य-विशेष भेद बताया। ये सामान्य और विशेप द्रव्य के सत्तागत धर्म हैं।

एकता पिण्ड ने नित्य अविनाशता,
अस्ति निज ऋद्धि थी कार्यगत भेदता ।
भाव श्रुत गम्य अभिलाप्य अनन्तता,
भव्य पर्याय नी जे परावर्त्तिता ।।३।।

अर्थ—यह सर्व धर्मनाथ प्रभु का धर्म है । अब सामान्य स्वभाव के लक्षण बताते है—

१ एकता—अर्थात् एक स्वभाव, पिण्ड–द्रव्य के सर्व प्रदेश, गुण पर्याय और इनका समुदाय एक पिण्ड रूप है, किन्तु भिन्न रूप मे रहने वाले नही हैं, अत उसे एक स्वभाव कहते हैं ।

२ नित्य अविनाशता—अभगुरता, नष्ट नही होने का स्वभाव है अर्थात् ध्रुवत्व है । यह द्रव्य का द्वितीय स्वभाव है ।

३ निज ऋद्धि का अस्तित्व—सर्व द्रव्य स्वभाव से विद्यमान है । कदापि स्व-ऋद्धि का परित्याग नही करते । यह अस्ति स्वभाव है ।

४ भेद स्वभाव—यह कार्यगत है, अर्थात् ज्ञानादि गुण सर्व अपना-अपना कार्य करते है, किन्तु कोई गुण अन्य गुण का कार्य नही करता । ज्ञान–जानने का दर्शन–देखने का चारित्र–रमणता का और भोग गुण भोगने का कार्य करता है । इस प्रकार गुणों के कार्य भेद से भेद स्वभाव है ।

५ अभिलाप्य स्वभाव—वचन से कहे जा सकें, ऐसे भी आत्म-द्रव्य मे अनन्त धर्म है । जो भाव, श्रुतज्ञान से जाने जा सके, वे अभि-लाप्य है । श्रुतज्ञान की शक्ति भी अभिलाप्य भावो तक सीमित है ।

६ सर्व द्रव्य में पर्यायों का परिवर्त्तित्त्व—अर्थात् परिवर्तन का स्वभाव, वह भव्य स्वभाव है । ये छह स्वभाव द्रव्य मे, गुणो मे और पर्यायो मे है, सामान्य है ।

क्षेत्र गुण भाव अविभाग अनेकता,
नाश उत्पाद अनित्य पर नास्तिता ।
क्षेत्र व्याप्तत्व अभेद अवक्तव्यता,
वस्तु ते रूप थी नियत अभव्यता ॥४॥

अर्थ—पुन सामान्य स्वभाव को कहते हैं :—

१ अनेक स्वभाव—क्षेत्र के अविभाग प्रदेश हैं, जिससे पदार्थ अनेक स्वभावी है । गुण अविभाग–एक-एक गुण के अनन्त अविभाग है । जैसे चारित्र गुण के अविभाग सयम श्रेणी मे कहे हैं । वीर्य के अविभाग **कम्मपयडी** ग्रन्थ के योगस्थान अधिकार मे वर्णित हैं । अत. गुण अविभाग रूप से भी अनेक स्वभाव हैं । एक-एक गुण के अनन्त अविभाग हैं, यह भी अनेक स्वभावता है । और, भाव विभाग से पर्याय धर्म–ज्ञानादि गुणो की अनन्तता पर्यायो की सूक्ष्मता गहन है । यह भी अनेक स्वभावता है । अर्थात् क्षेत्र, गुण और पर्यायो से सर्व प्रकार से द्रव्य मे अनेकता है ।

२ अनित्य स्वभाव—नाश–व्यय स्वभाव और उत्पाद स्वभाव, यह परिणति सर्व द्रव्यो मे है, अतः अनित्य स्वभाव है ।

३ नास्ति स्वभाव—द्रव्य मे नास्ति स्वभाव है । पर अर्थात् अन्य द्रव्य का धर्म अन्य मे नही है । एक द्रव्य के धर्म दूसरे धर्म मे नही मिलते ।

४ क्षेत्र व्याप्यत्व– यद्यपि आत्मा के सर्व गुण एव पर्याय भिन्न-भिन्न कार्य करते है, तथापि सर्व का भाजन–पात्र, स्थान–क्षेत्र का आधार आत्मा है, अत गुण-पर्याय की अनन्तता है, किन्तु, कोई गुण मूल द्रव्य को नही छोड सकता । एकाधार रूप से व्याप्यत्व है, अवगाह कर रहे हुये हैं । अभेदता द्रव्य का स्वभाव है ।

५ अवक्तव्य स्वभाव—वस्तु के स्वरूप मे केवलज्ञान-गम्य रूप से ज्ञात किन्तु वचन अगोचर–वचन द्वारा जिनका कथन नही हो सकता; यह द्रव्य का अनभिलाप्यत्व अवक्तव्य स्वभाव है । **विशेषावश्यक भाष्य**

में कहा है—"**अभिलाप्यभावेभ्योऽनभिलाप्या अनन्तगुणा इति**। कथन योग्य भावो मे अकथनीय भाव अनन्त गुण हैं।

६ अभव्य स्वभाव—अनेक पर्यायो का परिवर्तन है, किन्तु वस्तु के मूल रूप का परिवर्तन नहीं होता, वह उसी रूप मे रहती है। ऐसा नियत होने से वस्तु में अभव्य स्वभाव है। अभव्य का अर्थ है—"**न भवितु योग्यं अभव्यम्**" अर्थात् जो वैसा होने योग्य न हो, वह अभव्य है।

ये सर्व स्वभाव, श्री **सम्मतितर्क** तथा **धर्मसंग्रहणी** नामक ग्रन्थो की व्याख्या में देखने चाहिये। ये सामान्य स्वभाव हैं और पदार्थ की द्रव्यास्तिकता के मूल धर्म हैं। ऐसे परिणमन से सर्व पदार्थ स्याद्-वादमय हैं। एक-अनेक, नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति, भिन्न-अभिन्न, वक्तव्य-अवक्तव्य, भव्य-अभव्य आदि धर्म युगपत्–एक समय वर्तते हैं। एक-एक स्वभाव की सप्तभगी वनती है। ऐसे अनन्त स्वभावों की अनन्त सप्तभगी द्रव्य में होती है। **स्याद्वादरत्नाकर की रत्नाकराव-तारिका** में कहा है— "नित्या-नित्याद्यनन्तस्वभावभेदतो प्रतिधर्म भिन्ना-भिन्ना सप्तभगी, एवमनन्ता सप्तभग्यो भवन्ति।" इसका अर्थ उपर्युक्त कथन मे आ चुका है। श्री **जिनवल्लभसूरि** ने भी स्वकृत **लघु अजित-शान्ति स्तोत्र** मे कहा है—

"वहुविह नय भंगं वत्थु णिच्चं अणिच्चं,
सदसदणभिलप्पा लप्पमेगं अणेगं ॥

अर्थात् वहुत प्रकार के नय भग हैं। वस्तु नित्य-अनित्य, सद् असद्, अभिलाप्य-अनभिलाप्य, एक-अनेक स्वभाव वाली है। इन स्व-भावो का समर्थन श्री **यशोविजय जी महोपाध्याय** ने भी स्वकृत **द्रव्य गुण पर्याय रास** मे किया है, वहाँ से देख लें।

धर्म प्राग्भावता सकल गुण शुद्धता,
भोग्यता कर्त्तृता रमण परिणामता।

शुद्ध स्वप्रदेशता तत्व चैतन्यता,
व्याप्य व्यापक तथा ग्राह्य ग्राहकता ।।५।।

अर्थ—अब प्रभु के विशेष स्वभाव धर्म का वर्णन करते है—

१. प्राग्भाव –आत्म द्रव्य के ज्ञानादि धर्मो की प्राग्भावता-प्रकटता यह आविर्भाव धर्म है, यह प्राग्भाव धर्म है ।

२ सकल गुण शुद्धता—ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि सकल गुण सर्वथा शुद्ध कर्ममल-रहित हो गये हैं ।

३. भोग्यता—ज्ञानादि सर्व गुण शुद्ध हो गये है, अतः भोग्य बन गये हैं । यह स्वगुण भोग्यता है ।

४. कर्त्तृता—प्रदेश कार्यानुगत समुदाय प्रवृत्ति कार्योत्पादकता रूप है । धर्मास्तिकायादि द्रव्यो के प्रत्येक प्रदेश मे गति सहाय गुण रूप कार्य होना, यह भिन्न-भिन्न प्रदेशाश्रित है और जीव द्रव्य का ज्ञान-दर्शनादि-जानने-देखने रूप कार्यादि, सर्व जीव के असख्य प्रदेशो के मिलने से होते हैं । अतः जीव द्रव्य मे कर्त्तृत्व विशेष स्वभाव है ।

५. रमण स्वभाव—आत्म स्वरूप में ही रमण करना, रमण स्वभाव है ।

६ पारिणामिकता—स्वगुणो मे ही परिणमन स्वरूप परिणामिता है ।

७ शुद्ध स्वप्रदेशकता—असख्य आत्म-प्रदेशो का कर्ममल नष्ट हो जाने से वे शुद्ध हो गये हैं ।

८. तत्त्व चैतन्यता—तत्त्व अर्थात् वस्तु द्रव्य के मूल धर्म को तत्त्व कहते हैं । वह तत्त्व पूर्ण रूप से चैतन्यमय है । कही भी किसी भी प्रकार की अचैतन्यता नही है ।

९. व्याप्य व्यापकत्व—आत्म-स्वरूप जो व्याप्य है, उसी मे व्याप्त रहने रूप व्यापक स्वभाव विशेष धर्म है ।

१० ग्राह्य ग्राहकता—वह भी स्वरूपाश्रित होने से उसी की है, अर्थात् स्वरूप को ग्रहण किये हुये है।

इसी प्रकार आधार-आधेय भाव, सरक्षणत्व, स्व-स्वामिभावादि सभी विशेप स्वभाव जानने चाहिये। ये सर्व श्री धर्मनाथ प्रभु के विशुद्ध निर्दोप बन गये है।

इसी प्रकार सर्व सामान्य स्वभाव और विशेष स्वभाव निर्मल बन जाने से, हे प्रभो ! आप पूर्ण परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो गये है। सामान्य स्वभाव तो सदा निर्दोप–मलविहीन रहते है, परन्तु पर-पुद्गल सयोग से विशेष स्वभावो मे द्विधा भाव अर्थात् विभावता एव स्वभावता दोनो हो जाते है। सारे विशेष स्वभाव परभाव-सयोग से परभाव रूप से बन जाते है। श्री धर्मनाथ भगवान् ने स्वरूपालम्बी होकर, करण गुणो से–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य शक्ति के स्वरूप मे एकत्व कर स्वय को स्वरूप प्राग्भाव–स्वरूप मे तन्मय कर दिया, अतः वे निरामय एव दोषमुक्त बन गये हैं।

सग परिहार थी स्वामि ! निजपद लह्यु,
शुद्ध आत्मिक आनन्द पद सग्रह्यु, ।
जहवि परभाव थी हूँ भवोदधि वस्यो,
परतणे सग ससारताये ग्रस्यो ।। ६ ।।

अर्थ—अब ऐसी अनन्त गुण निर्मलता प्रभुजी के जिस रीति से प्रकट हो गयी है, उस रीति का वर्णन करते हैं। हे स्वामिन् ! आपने पुद्गलादि के सग-परिहार थी अर्थात् सर्वथा परसग के परिहार–त्याग से निज पद-अपना परम अव्याबाध आनन्द स्वरूप पद चिद्रूप अवस्थान लह्यु–प्राप्त किया। आपने शुद्ध निर्मल पवित्र आत्मिक आत्मा का आनन्द–पूर्ण आत्म-समृद्धि स्वरूप ज्ञान दर्शन आदि ऋद्धि वाला पद–स्थान सग्रह्यु–उपलब्ध किया। हे प्रभो ! जहवि–यद्यपि हूँ–मैं परभाव थी–पर निमित्त से, मद विपय कषाय मिथ्यात्वादि के कारण से परभाव में परिणत होकर, परानुयायिता से भवोदधि–ससार रूपी समुद्र में वस्यो–निवास कर रहा हूँ और परतणे सग–पुद्गलादि के

सग से कर्मवश पराधीन बन जाने से मिथ्यात्व भाव के कारण नये-नये अध्यवसायों–परिणामो से ससारतायें–चार गति रूप ससार के ससरण रूप मे मेरी आत्मा ग्रस्यो–कर्मो द्वारा ग्रास बनायी गयी है अर्थात् इस जगत् के भावो ने मुझे ग्रास रूप बना रखा है। अत हे देव! आप असगी हैं, मै परसगी हूँ। आप मुक्त है, मैं बद्ध हूँ। आप अकर्मा है, मै कर्माश्रित हूँ, आप स्वरूप-भोगी है, मैं पुद्गल भोगी हूँ। आप स्वगुण परिणत है, मै पर-पुद्गलाश्रित राग-द्वेष परिणाम वाला हूँ। हे प्रभो! मुझ में तो अपनी भूल से कोई नवीन ही जो मेरो सत्ता में, कर्त्तृत्व में, पारिणामिकता मे नही था, वह उत्पन्न हो गया। यह अशुद्ध कर्तृत्व मैने किया, इससे मेरे स्वय के ज्ञानादि गुण आवृत्त हो गये और मैं पुद्गलो का ग्राहक बन गया। पुद्गलो का ग्रहण करने से मेरी आत्मा पुद्गल-भोक्ता बन गयी। इसमे आप मे और मुझ मे भारी अन्तर पड़ गया। मै ससार से पडा हूँ और आप सिद्ध एव ध्येय बन गये हैं।

तहवि सत्ता गुणे जीव ए निर्मलो,
अन्य संश्लेष जिम फटिक नवि सामलो।
जे परोपाधि थी दुष्ट परिणति ग्रही,
भाव तादात्म्य मा माहरु ते नही ।।७।।

अर्थ—तथापि सत्ता गुणे–द्रव्यास्तिक सग्रह नय की अपेक्षा मे यह जीव अर्थात् मेरी आत्मा निर्मल है, नि सग और अरूपी है। निम्न उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट समझाते है—जैसे स्फटिक अन्य सश्लेष-सयोग से जिस वर्ण की पन्नी पीछे लगी हुई हो, वैसा दिखता है, वास्तव में है नही। सामलो–जैसे स्फटिक के पीछे काली पन्नी लगाने से वह काला दृष्टि गोचर होता है। पन्नी हटा देने पर स्वच्छ श्वेत दिखने लगता है, क्योकि उसका मूल वर्ण तो श्वेत है, उज्ज्वल है। अपरीक्षक जन उसे श्याम समझते हैं। वैसे ही कर्म-सग से आत्मा अशुद्ध, राग-द्वेषमय परभावभोगी दिखायी पडती है, परन्तु तत्त्वज्ञानी-जन तो उसे वास्तव मे निर्मल ही जानते है। उसी प्रकार श्रद्धावान् भी आत्मा को निर्मल जानता है और पर-उपाधि से दुष्ट परिणति पर-

कर्त्तृत्व रूप को ग्रहण कर, तादात्म्य भाव में तादात्म्य सम्बन्ध रूप से उसे ग्रहण कर रखा है। वह सर्व उपाधि भाव मेरा नही है। सर्व वाह्य सम्बन्ध कर्मसयोगज है, समवाय सम्बन्ध से नही। जो विभाव है, वह तदुत्पत्ति सम्बन्ध से है अर्थात् विभाव से विभाव होता है, वह तादात्म्य सम्बन्ध नही है अर्थात् आत्मा से उत्पन्न नही है। वह मेरा नही अर्थात् कर्मो का सयोग है, कर्मज ही है, आत्मोत्पन्न नही है।

तिरो परमात्म प्रभु भक्ति रगी थई,
शुद्ध कारण रसे तत्त्व परिणति नई।
आतम ग्राहक थये तजे परग्रहरगता,
तत्त्वभोगी थये टले पर-भोग्यता ॥८॥

अथ—उपर्युक्त गाथा मे वर्णित विभाव परिणति को 'आत्मोत्पन्न नही' ऐसा कह चुके हैं। वह मेरा मूल धर्म नही है। अतः इसका निवारण किया जाय तो यह जा सकती है और मेरी आत्मा स्वरूप मे अवस्थित हो सकती है। ऐसा विचार कर, आत्मा विभाव-परिणति को दूर करने के उपाय का चिन्तन करती है। जो ससारी आत्मा परानुगत–विषय कषायादि का अनुगामी बना हुआ है, उस समय उसे यदि स्वरूप की ओर उन्मुख करके स्वरूप मे जोड़ने का प्रयास किया जाय, तो इसमे सफलता मिलना कठिन है। विभाव में ही रहने दिया जाय, तो कर्मबन्ध मे वृद्धि करता रहेगा। अत. अन्य स्वजाति आत्मा जो शुद्ध हो, मोहरहित हो, उसका सयोग कराया जाय तो उसे स्वरूप का भान हो और स्वरूप प्राप्त करने का इच्छुक बने, रसिक बने। श्री अरिहन्त का स्वरूप व स्वय की आत्मा का स्वरूप समान है, ऐसा भान होनें पर स्वरूप का रसिक बना है अर्थात् कर्मो से आच्छादित आत्मा को भी आत्म-स्वरूप पर श्रद्धा होती है, ज्ञान होता है, रमण करता है और आत्म-स्वरूप को प्राप्त करनें का उद्यम/पुरुषार्थ करता है। परभाव और पर-परिणति को छोडकर क्रमश सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है। अतएव परमात्म प्रभु श्री धर्मनाथ भगवान् की भक्ति का, दर्शन-

पूजादि का रगी थई–रसिक बनकर शुद्ध कारण शुद्ध–निर्मल कारण–निमित्तभूत भगवान् का रसिक बनने से आत्मा तत्त्व परिणतिमयी–आत्म तत्त्व की परिणति अर्थात् आत्म-स्वरूप बन जाने की स्थिति में मग्न हो जाता है। अपने आत्म-स्वरूप को देखता है, उसका ध्यान करता है, स्मरण करता है और उसी को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब आत्मग्राहक–आत्म-स्वरूप का ग्राहक थये–हो जाने पर पर-ग्रहणता–पर अर्थात् मिथ्यात्व, विषय कषायादि की ग्राहकता को तजे–परित्याग कर देता है, क्योंकि जो आत्म-स्वरूप का ग्राहक बन जाता है, वह परभाव का ग्रहण नही करता। जितनी आत्म-परिणति आत्म-धर्म की ग्राहक बनती है, वह कर्मादि पर-भाव को ग्रहण नही करती है, उसे ही सवर परिणति कहते हैं। यों की तत्त्व भोगी थये–स्वतत्त्व अर्थात् आत्म-स्वरूप का भोक्ता होने से पर भोग्यता टले अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त पुद्गलमय सर्व वस्तुओ भोग्यता –भोगना दूर हो जाता है और विषय-कषायादि की परपरिणति नष्ट हो जाती है। साराश यह है कि आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का यही सफल उपाय है। श्री वीतराग देव के साक्षात् दर्शनादि के अभाव में स्थापना निक्षेप–प्रभु-प्रतिमा की भक्ति, बहुमान, पूजा-सत्कार, दर्शन, वन्दन, स्मरण, ध्यान भी आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने में निमित्त कारण है। साक्षात् प्रभु तो निमित्त हैं ही।

शुद्ध नि:प्रयास निज-भाव भोगी तदा,
आतम क्षेत्रे नही अन्य रक्षण तदा।
एक असहाय निस्सग निर्द्वन्द्वता,
शक्ति उत्सर्ग नी होय सहु व्यक्तता॥९॥

अर्थ—यदा–जब शुद्ध–पुद्गल सगरहित, नि:प्रयास–प्रयत्न/पुरुषार्थ रहित निज भाव–आत्म-भाव, आत्म-स्वरूप का भोगी–भोगने वाला यह आत्मा हो जाता है तदा–तब आतम क्षेत्रे–आत्म-प्रदेशो में अन्य रागादि पुद्गल कर्मो का रक्षण–रहना नही होता है। रागादि के कारण ही दूसरे कर्म आत्मा मे आकर निवास करते है। रागादि के नष्ट हो जाने पर न कर्म आते हैं और न ठहरते है, क्योंकि उनके रक्षण–रखने में ये ही तत्पर रहते हैं। जब चेतना वीर्य आत्म-स्वरूप का ग्राहक बन

जाता है, तब पुद्गल कर्मो का आत्म-प्रदेशो मे कोई सम्बन्ध नही होता। जब सर्व पुद्गल आत्म-प्रदेशो से पृथक् हो जाते है, झड जाते है तब आत्मा कर्मरहित बन जाती है। ऐसी स्थिति मे आत्मा एकमात्र आत्मा, असहाय–किसी की सहायता या अपेक्षाओ से रहित, निस्सग-सगरहित, निर्द्वन्द्वता–किसी भी प्रकार के द्वन्द्व से रहित हो जाने से उत्सर्ग भाव की सारी शक्तियाँ व्यक्त–प्रकट हो जाती है और आत्मा कर्मावरण रहित हो जाती है। फलत ज्ञानादि गुणो की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है।

तेण मुझ आतमा तुझ थकी नोपजे,
माहरी सम्पदा सकल मुझ सम्पजे।
तेणे मनमन्दिरे धर्म प्रभु ध्याइये,
परम देवचन्द्र निज सिद्धि सुख पाइये ॥१०॥

अर्थ–इस कारण हे देवाधिदेव ! वीतराग ! तुम थकी–आपके निमित्त से मुझ आतमा–मेरा आत्म-तत्त्व नीपजे–शुद्ध बन सकता है। दूसरा कोई उपाय दृष्टि-गोचर नही हो रहा है। माहरी सम्पदा–मेरी ज्ञानादि रूप आत्म-सम्पदा अर्थात् सिद्धत्व अवस्था आपके स्वरूपालम्बन से ही प्राप्त हो सकती है। मेरा अनन्त गुण पर्याय रूप स्वकर्तृत्व एव स्वभोक्तृत्व स्वरूप ऐश्वर्य जो अनादि काल से मोहाधीन–कर्मावृत है वह सकल-सर्व मुझ को सम्पजे–सम्प्राप्त हो अर्थात् मैं अपनी अरूपी सत्तागत तत्त्व-सम्पदा का स्वामी व भोक्ता अविनाशी रूप से बनूँ। इसे मैं प्रभु का परम उपकार मानू। तेणे–इस कारण मन-मन्दिर में श्री धर्मनाथ भगवान् को ध्याइये–ध्यान करना चाहिये। थोडी देर के लिये अन्य उपाधियो को चिन्ता का परित्याग कर, इन प्रभु के गुणो का तथा उपकारित्व का बहुमान पूर्वक ध्यान करना ही नये साधक के लिये आधार है। इसी से नवीन अभ्यास करने वाले साधक को आत्म-स्वरूप को जानने, श्रद्धा करने और उसमे रमण करने की अभिलाषा होगी। परम–श्रेष्ठ/उत्कृष्ट देव स्वरूप मे रमण करने वाले मुनि उनमे चन्द्रमा के समान परमात्मपद को एव निज–स्व की सिद्धि अविनाशी अव्याबाध ऐसे सुख, उसको पाइये–प्राप्त करना चाहिये। यही मोक्ष का उपाय है। अत श्री अरिहन्त का दर्शन, पूजन, सेवा, गुणगान, ध्यान, स्मरण आदि करने चाहिये। □

१६. श्री शान्ति जिनेन्द्र स्तवन

(राग—आँखडिये मैं आज शत्रुंजय दीठो रे)

जगत दिवाकर जगत कृपानिधि, व्हाला म्हारा ।
समवसरण मा वैठा रे ।
चउमुख चउविह धर्म प्रकाशे, व्हाला म्हारा ।
ते मैं नयणे दीठा रे ॥
भविकजन हरखो रे । निरखी शान्ति जिनन्द ॥भवि०॥
उपशम रस नो कन्द नही इण सरिखो रे ॥स्थायी॥१॥

अर्थ—अब श्री सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान की स्तवना करते हैं। वे प्रभु कैसे हैं ? जगत्–ससार मे दिवाकर–सूर्य के समान अपने ज्ञान से उद्योत करने वाले तथा जगत् कृपानिधि–जगत् मे कृपा–दया के निधि–निधान, ऐसे प्रभु व्हाला म्हारा–मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। समवसरण मे वैठा–विराजमान है। चउमुख–चार मुखो से, चउविह–चार प्रकार के धर्म प्रकाशे–धर्म को प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे तीर्थंकर शान्तिनाथ प्रभु को, मैं नयणे दीठा–मैंने आगम रूप चक्षु से अर्थात् श्रुत ज्ञान श्रवण करने से मेरे अन्तश्चक्षु उद्घाटित हुये और मैंने उनके दर्शन किये। अतः हे भविक जनो ! आप भी शास्त्र-वचनो के श्रवण से प्रभु को ज्ञान रूपी आँखो से देखकर हरखो–हर्षित होओ। श्री शान्ति जिनेन्द्र को निरखी–निरीक्षण कर, दर्शन कर प्रसन्न होओ। सामान्य केवलियो मे इन्द्रवत् श्री तीर्थंकर देव श्री शान्तिनाथ भगवान के दर्शन कर हर्षित वनो। वे भगवान् उपशम रस–परम क्षमा रूप रस के कन्द हैं। इनके सदृश अन्य कोई नही है। ये प्रभु शान्तरसमय है।

प्रातिहारिज अतिशय शोभा व्हाला०,
ते तो कहिय न जाये रे।
घूक बालक थी रविकर भरनूँ व्हाला०,
वर्णन केणी परे थाये रे ॥भविक०॥२॥

अर्थ—पुन उन प्रभुजी के प्रातिहारिज-अष्ट महाप्रातिहार्य—१ अशोक वृक्ष, २ सुर पुष्प वृष्टि, ३ दिव्य ध्वनि, ४. चामर युग्म, ५ स्वर्ण सिंहासन, ६ भामण्डल, ७ देव दुन्दुभि, ८ छत्र त्रय और ३४ अतिशय की शोभा, ते तो–वह तो मुझ सदृश व्यामोही जीव से कहिय न जाये–नही कही जा सकती। इसे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। घूक बालक थी–उल्लू के बच्चे द्वारा कभी रविकर भरनूँ–सूर्य की किरणो के समूह का वर्णन केणी परे थाये–वर्णन किस प्रकार हो सकता है? क्योकि, घूक या उसके शावक (बच्चे) को आँखो से दिन मे दिखायी ही नही देता, तो सूर्य की ओर देखना तो उसके लिये असम्भव ही है। इसी प्रकार मुझ से भी प्रातिहार्यादि शाभा का वर्णन नही हो स कता।

वाणी गुण पात्रीश अनुपम व्हाला०,
अविसवाद स्वरूपे रे।
भव दु ख वारण शिव सुख कारण व्हाला०,
सूधो धर्म प्ररूपे रे ॥भविक०॥३॥

अर्थ—वाणी–भगवान श्री शान्तिनाथ की वाणी भी पात्रीस–पैंतीस अनुपम–उपमा रहित गुण वाली है। अविसवाद स्वरूपे–परस्पर विरोधी वाक्यो से रहित है। भगवान श्री शान्तिनाथ प्रभु ने भवदुःखवारण–जीवो के ससार के जन्म-मरणादि सर्व दुःखो को दूर करने के लिये तथा शिवसुख कारण–शिव/मुक्ति सुख कें प्रबल कारण के लिये सूधो–सीधा, सरल, यथार्थ मार्ग–ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना स्वरूप मार्ग को प्ररूपे–बताया है। इस प्रकार के धर्म का उपदेश समव-

सरण में विराजमान होकर प्रभु करते हैं। स्थापना निक्षेप को वन्द-नीय व पूजनीय न मानने वालो को श्री **समवायांग सूत्र** का अवलोकन करना चाहिये। वहाँ सभी का समवसरण रचना, तीर्थंकर देवो के ३४ अतिशय और पैंतीस वाणी के अतिशयो का वर्णन है।

दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशिमुख व्हाला०,
ठवणा जिन उपकारी रे।
जसु आलम्बन लहिय अनेके व्हाला०,
तिहाँ थया समकित धारी रे ।।भविक०।।४।।

अर्थ—समवसरण मे पूर्वाभिमुख तो भगवान तीर्थ कर देव स्वय विराजते हैं और तीन दिशाओ—दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओ मे देवता भगवान के साक्षात् स्वरूपमय ठवणा–स्थापना-जिन अर्थात् प्रभु के जैसी प्रतिमा विराजमान करते है। एकदम साक्षात् भगवान जैसे ही ये प्रति-बिम्ब होते है और ये प्रतिबिम्ब उपकारी भी है। तसु आलम्बन–उनके आलम्बन को लहिय-पाकर, उस आश्रय स अनेके–अनेक समवसरण स्थित देव, मनुष्य, तिर्य च–गज अश्वादि एव श्वापद जन्तु सिंहादि भी समकित–तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व के धारी–धारण करने वाले तिहाँ थया-वहाँ समवसरण मे हो गये है वर्त्तमान में होते हैं और भविष्य मे होगे। आगे की गाथा मे स्थापना निक्षेप के विषय मे सप्त नय के द्वारा विशद वर्णन किया गया है।

षट् नय कारज रूपे ठवणा व्हाला०
सग नय कारण ठाणी रे।
निमित्त समान थापना जिन जो व्हाला०
ए आगम नी वाणी रे।।भविक०।।५।।

अर्थ—अव पुन स्थापना–जिन प्रतिबिम्ब का उपकारित्व तथा सत्यता का विशेष रूप से वर्णन करते हैं। श्री अर्हन्तदेव तथा सिद्ध भगवान्

भी आत्म-स्वरूप का बोध कराने मे निमित्त कारण हैं और श्री जिन-प्रतिमा भी तत्त्व-आत्मबोध कराने में निमित्तभूत हैं। स्थापना जिन-प्रभु प्रतिमा मे अरिहन्तत्व और सिद्धत्व की स्थापना की जाती है। उसमे षड् नय से अर्हन्तत्व और सिद्धत्व है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अरिहन्त और सिद्ध दोनो ही विद्यमान नही हैं, अभी तो उनकी यहाँ स्थापना है, उसमे सातो ही नय से कहना चाहिये, छह ही नयो से क्यो कहते हो ? उत्तर—मूल स्थापना निक्षेप मे स्थापना तीन निक्षेप से है **"नाम-स्थापना-द्रव्य-निक्षेपत्रयं नैगमादि नयवर्ति इति अत उच्यते"** इसलिये कहते है कि नामादि चार निक्षेपो के एक-एक के चार-चार भेद होते है। जैसा कि **विशेषावश्यक भाष्य** मे कहा है— **"नामादि प्रत्येकं चतू रूपम्"** अत प्रथम स्थान, यह स्थापना मे है। यह स्थापना का नाम निक्षेप है। द्वितीय स्थापना का ग्रहण हेतु नाम है, इसे स्थापना निक्षेप जानना चाहिये। तृतीय समुदायता अनुपयोगता, यह स्थापना का द्रव्य निक्षेप है। चतुर्थ 'आगारोऽभिप्पाओ' आकार का अभिप्राय जिसकी स्थापना है, उसे बताने का है। वे धर्म का कारण बनते है। अतः भाव निक्षप है अथवा—

> **"नत्थि नयेहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमये किंचि।**
> **आसज्जउ सोयारं नए नयविसारओ बूया॥**
>
> **—विशेषावश्यक भाष्य**

अर्थ—जिणमये-जिनमत जैन शासन मे इन सात नयो से विहीन कुछ भी सूत्र या अर्थ नही है। अत नयविशारद को श्रोता के समक्ष नय की सारी स्थिति स्वरूप समझाने को प्रस्तुत रहना चाहिये।

समवसरण मे या अन्यत्र जहाँ भी अरिहन्त या सिद्ध की स्थापना है, उन्हे नयो से समझाते है।

१ नैगमनय :—स्थापना देखने से अरिहन्त सिद्ध के सकल्प की स्थापना प्रभु प्रतिमा मे होती है अथवा पद्मासनस्थ नासाग्रदृष्टि ध्यानस्थ असग स्वरूप प्रतिमा मे अशतः अरिहन्तत्व या सिद्धत्व है, अतः अ शग्राही नैगमनय की अपेक्षा प्रतिमा मे अ श है ही।

२ सग्रह नय :—अरिहन्त या सिद्ध भगवान के गुणो की सग्रह बुद्धि धारण कर प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती है, अत सग्रहनय से उक्त स्थापना है।

३ व्यवहार नय :—अरिहन्त के आकार रूप प्रतिमा का दर्शन पूजन, वन्दन, नमनादि सब व्यवहार अरिहन्त को किया जाने वाला होता है। इस व्यवहार का कारणत्व आकार मद्रादि प्रभु प्रतिमा मे है, अत यह व्यवहार नय से स्थापना है।

४. ऋजुसूत्र नय :—जिन प्रतिमा रूप स्थापना के दर्शन कर भव्य जीवो की बुद्धि मे विकल्प होता है कि ये भगवान् हैं, अरिहन्त वीतराग हैं, इस विकल्प से ही स्थापना की गयी है, अत यह ऋजुसूत्र नय से स्थापना है ।

५ शब्द नय —अरिहन्त, सिद्ध ये शब्द प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध शब्द होने से यहाँ प्रवृत्त होते है, अतः यह शब्द नय से स्थापना है।

६ समभिरूढ नय —अरिहन्त के पर्यायवाची शब्दो–वीतराग, सर्वज्ञ, तीर्थंकर, जिनेश्वर, जिनेन्द्र, पारगतादि की प्रवृत्ति भी स्थापना मे है। यह समभिरूढ नय स्थापना है। परन्तु, केवलज्ञान केवल-दर्शनादि गुण उपदेशकता स्थापना मे न होने से एवभूत नय नही है। इस कारण से इसमे एवभूत नय का धर्म नही मिलता। दूसरे ठवणा/स्थापना रूप कार्य अरिहन्त सिद्धता रूप षड् नय से है, एव-भूत नय से नही, क्योकि एवभूत नय वास्तविक आत्मा मे अर्थात् अरि-हन्त सिद्ध की आत्मा मे हैं। इस कारण कार्य रूप से साक्षात् अरिहन्त मे भी षड् नय है।

विशेषावश्यक मे स्थापना निक्षेप के प्रसग मे आरम्भ के तीन नय ही कहे है। यहाँ षड् नयो का ग्रहण उपचार भावना से किया गया है। समभिरुढ का लक्षण भी यहाँ मिलता है, अत षड् नय कहे गये है।

जिन प्रतिमा रूप स्थापना निक्षेप सम्यक्त्वी, देशविरति, सर्व विरति के लिये मोक्ष-साधन का निमित्त कारण है। वह निमित्त कारण सप्त नयो से है। और, निमित्त कारण कर्त्ता के वश है। वह निमित्तत्व कारणता भी सप्त नयो से है, वह बताते है—

१. **नैगम नय** —अनादि काल से ससार मे भ्रमण करते हुए पुद्गलानुयायी जीव को जिन प्रतिमा के दर्शन होने पर अरिहन्त या जिसकी प्रतिमा है, उसे जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिन भगवान को वन्दन की भावना उत्पन्न होती है। इस सन्मुखता जिज्ञासा का निमित्त है वह प्रतिष्ठा। अत नैगम नय से निमित्त कारण हुआ।

२ **संग्रह नय :**—जिन प्रतिमा के दर्शन से समस्त गुणो का अर्थात् सम्यग् दर्शन ज्ञानादि गुणो का सग्रह होता है। आत्मा के साधकतादि गुणो के सन्मुख चेतना की अभिमुखता होती है। आत्म-तत्त्व के अभिमुख बनने से उसकी अद्भुत स्वरूपता-प्राप्ति की इच्छा आदि कार्य होते है। यह सग्रहनय की निमित्तता है।

३ **व्यवहार नय :**—वन्दन नमनादि व्यवहार जो साधक के आवश्यक कार्य हैं, उनका निमित्त प्रभु प्रतिमा है। यह व्यवहार नय से निमित्त है।

४ **ऋजुसूत्र नय** —तत्त्व ईहा रूप उपयोग का स्मरण होना ऋजुसूत्र नय से निमित्त है।

५ **शब्द नय :**—सम्पूर्ण अरिहन्तत्व के उपयोग ज्ञान मे जो उपादान है अर्थात् आत्मा निमित्त से तत्त्व-साधना मे परिणत होती है। शब्द नय स्थापना निमित्त है। ऐसा सम्यक्त्वधारी, आदि साधक के होता है।

६ **समभिरुढ नय .**—वीतराग अरिहन्त सर्वज्ञ आदि अनेक शब्द जो अरिहन्त के पर्याय हैं। उनमे से किसी शब्द या समग्र शब्दो से चेतना के वीर्य की परिणति साधकता के सन्मुख हुयी। यह समभिरुढ़ नय से स्थापना की निमित्त कारणता जाननी चाहिये।

७. **एवंभूत नय** —स्थापना/जिन-प्रतिमा का निमित्त पाकर साधक तत्त्व-रुचि व तत्त्वरमण करने वाला हो जाता है और उसकी साधना शुद्ध शुक्लध्यान रूप मे परिणत हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण निमित्त कारणता प्राप्त करके उपादान की पूर्ण कारणता उत्पन्न हुयी।

इससे एवभूत नय से निमित्त कारणता सिद्ध हुयी अर्थात् निमित्त कारण का यह धर्म 'कर्त्तव्य है कि वह उपादान को उपादान कारण रूप की प्राप्ति करावे और उपादान कारण कार्य रूप सिद्ध हो।

इससे जिन-प्रतिमा मोक्ष का निमित्त कारण है। वह निमित्त सप्त नय से है। इनमे शय्यम्भवादि[1] को शब्द नय पर्यन्त कारण हुआ था और पुण्यरुचि को व्यवहार नय तक निमित्त कारणत्व प्राप्त हुआ था। मार्गानुसारी एव सम्यक्त्वी को 'योग-दृष्टि-समुच्चय' मे वर्णित आठ दृष्टियो मे से आरम्भिक चार दृष्टि वालों को ऋजुसूत्र नय पर्यन्त निमित्त कारणत्व प्राप्त होता है और पुण्याढ्यादि को तो जिन-प्रतिबिम्ब पूर्णतः एवभूत नय तक निमित्त कारण बना दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार साराश यह है कि जिन प्रतिमा मे सम्पूर्ण सप्त नय स्वरूप निमित्त कारणता है। कार्यकर्त्ता जहाँ तक इसका प्रयोग करे वहाँ तक कार्य होता है। अत. स्थापना प्रभु प्रतिमा 'सग नय' सप्त नयो से कारण–निमित्त कारणता के स्थान पर है। इस स्थापना मे अरिहन्त पद के मूल तो द्रव्य और भाव निक्षेप है, परन्तु निमित्त कारण के चार निक्षेप सप्त नय संयुक्त है।

कहा भी है :—

"निमित्तस्यापि सप्तप्रकारत्वं नयप्रकारेण। निमित्तस्य द्वैविध्यं द्रव्य-भावात् तथा उपादानस्यापि सप्त प्रकारत्वं नयोपदेशात्।"

अर्थात् नय प्रकार से निमित्त भी सात प्रकार का है। द्रव्य भाव भेद से भी निमित्त दो प्रकार का है और उपादान कारण के भी सप्त नय से सात भेद है, क्योकि शास्त्र मे कहा है—**"णो अभिहाणं अणयं"** अर्थात् अभिधान–नाम निक्षेप नयविहीन नही होता है।

नत्थि नयेहिं विहुणं सुतं अत्थो य जिणमये किंचि।
आसज्जउ सोयारं नये नयविसारओ बूया ॥२२७७॥

---

१ यशवैकालिक सूत्र के प्रणेता शय्यम्भवसूरि

२ ३ पुण्यरुचि एव पुण्याढ्य के कथानक प्राप्त हैं।

जिनमत मे सूत्र और अर्थ आदि कुछ भी नयरहित नही हैं। नय विशारद नयो को कहे और श्रोताओ की योग्यता देखकर समझावे। अत स्थापना–जिन-प्रतिमा और साक्षात् जिनेन्द्र भगवान दोनो ही निमित्त रूप से समान है। इस प्रकार विचरते अरिहत परमात्मा और जिन-प्रतिमा का तुल्यत्व होने से साधकजनो के लिये दोनों ही निमित्त कारण है किन्तु उपादान नही। इन दोनो मे निमित्तता है। 'ए आगम नी वाणी' अर्थात् यह आगम/सिद्धान्त/शास्त्र सूत्र की वाणी–वचन है, जिसमे श्री अरिहन्त व अरिहन्त प्रतिमा के वन्दन का फल समान ही कहा गया है।

साधक तीन निक्षेपा मुख्य, व्हाला०
ते विण भाव न लहिये रे।
उपगारी दुग भाष्ये भाख्या, व्हाला०
भाव वन्दक नो ग्रहिये रे ।।भविक०।।६।।

अर्थ—तीन निक्षेप–नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीन निक्षेप मुख्य हैं और भाव के कारण हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

**"अहवा णामं ठवणा–दव्वाइं भावमंगलंगाइं।
पाएण भावमंगल–परिणामनिमित्तभावाओ ।।५६।।"**

अर्थ—अथवा नाम, स्थापना और द्रव्य भाव मगल है। भाव मगल पाकर ही जीव के भाव–परिणाम शुद्धि का कार्य होता है। अत· तीनो निक्षेप साधक निमित्त हैं। इन तीन निक्षेपो के विना भाव निक्षेप नही होता है। और, नाम, स्थापना ये दो निक्षेप **भाष्य** मे उपकारी कहे है, क्योकि द्रव्य निक्षेप तो पिण्ड रूप है जिसे ग्रहण करके रखा नही जा सकता और भाव निक्षेप भी अरूपी है। ये दोनो निक्षेप प्रारम्भ के नाम, स्थापना निक्षेप के विना ग्रहण नही किये जा सकते, न सेवा आदि की जा सकती है। अत पहले के दो निक्षेप ही वास्तव मे उपकारी हैं। **विशेषावश्यक** भाष्य मे कहा है :—

"वत्थुसरूवं नामं तप्पच्चयहेउम्रो सधम्मव्व ।
वत्थु नाणऽभिहाणा, होज्जाऽभावो वि वाऽवच्चो ।।६१।।
वत्थुस्स लक्ख-लक्खण-संववहाराऽविरोहसिद्धीओ ।
अभिहाणाऽहीणाम्रो, बुद्धी सद्दो य किरिया य ।।६३।।

नाम वस्तु का स्वरूप है, क्योकि नाम प्रत्यय (प्रतीति) का हेतु है और वह स्वभाव धम के समान ही है । यदि वस्तु का नाम न हो तो वस्तु को जानेगे कैसे ? तब वस्तु का अभाव ही हो जायेगा, क्योकि नाम बिना तो अवाच्य रहेगा और अवाच्य वस्तु के समान अभाव वाला होता है । अभिधान —नाम युक्त वस्तु का ही लक्ष्य, लक्षण, सव्यवहार और अविरोध सिद्धि कार्य किया जा सकता है । बुद्धि शब्द क्रिया आदि सभी कार्य नाम युक्त पदार्थ का ही किया जा सकता है ।

'इति वाक्यात् नाम्न प्रधानत्वम्।' इन वाक्यो से नाम की प्रधानता सिद्ध है । स्थापना के विपय मे भी विशेषावश्यक भाष्य का कथन द्रष्टव्य है :—

"आगारोऽभिप्पाम्रो बुद्धी किरिया फल च पाएण ।
जह दीसइ ठवणिदे न तहा नामे न दव्विदे ।।५३।।
आगारोच्चिय मइ-सद्द-वत्थु-किरिया-फलाऽभिहाणाइं ।
आगारमयं सव्वं जमणागारं तयं नत्थि ।।६४।।

अर्थ—जैसे स्थापना इन्द्र का आकार-चित्र मे सभी किरीट, कुण्डल, वज्र, अत्यन्त सुन्दर तेजस्वी आकृति आदि दिखा देते है । स्थापना कर्त्ता का सद्भूत इन्द्र का स्वरूप सम्पन्न अभिप्राय दिखता है । देखनें वाले को 'इन्द्र है' ऐसी वुद्धि हो जाती है । वैसी ही क्रिया नमन-पूज-नादि फल भी इष्ट-प्राप्ति रूप मिलता है । वैसा नामेन्द्र और द्रव्येन्द्र मे नही मिलता । आकार मे ही मति शब्द, वस्तु, क्रिया, फल अभिधानादि होते है । सर्व वस्तुए आकारमय हैं, दृश्यमात्र आकारवान् है । अनाकार कुछ भी नही है । अतएव नाम तथा स्थापना ये दो निक्षेप उपकारी है । और, मोक्ष-साधना में, सवर निर्जरा करने में तो 'भाव वन्दक नो ग्रहिये' अर्थात् वन्दना करने वाले के भाव को ही ग्रहण करना चाहिये, क्योकि

भावो के अनुसार ही बन्धन, क्षय, क्षयोपशम होते है और अरिहन्त का भाव निक्षेप तो अरिहन्त देव मे ही है। यदि वे पर-जीव को ससार से तारते हो तो किसी जीव को ससार मे रहना ही न पडे। यह तो न कभी हुआ, न होता है और न भविष्य मे होगा। अतएव साधक का भाव ही अरिहन्त का अवलम्बन लेना है और मोक्ष मार्ग पर चलना है। साधक स्वभावानुसार सिद्धि प्राप्त करता है। अत. प्रभु के नाम और स्थापना/मूर्ति के निमित्त से साधक को स्वभाव का स्मरण होता है। साधक के भाव-ग्रहण का यही आशय है। समवसरण स्थित/विराजमान अर्हन्त तीर्थ कर भगवान का भी नाम और आकार स्थापना सर्व जीवो के लिए उपकारी होते है। छद्मस्थ-ससारी जीव द्वारा ये दो ही ग्राह्य है, अत इनका ही अवलम्बन लेना चाहिये। नाम स्थापना ही प्रमाण है। निमित्त का आलम्बन ग्रहण करने वाले साधक के लिए स्थापना-पुष्ट निमित्त/आलम्बन है।

ठवणा समवसरणे जिन सेती, व्हाला०
जो अभेदता वाधी रे।
ए आतम ना स्व-स्वभाव गुण, व्हाला०
व्यक्त योग्यता साधी रे ।।भविक०।।७।।

अर्थ—अतएव 'ठवणादि' जब साक्षात् श्री तीर्थ कर विद्यमान थे, समवसरण मे पूर्वाभिमुख स्वय विराजमान होते थे, उस समय मेरी आत्मा किसी गत्यन्तर-अन्य गति मे थी, अत. मैं साक्षात् दर्शन से वचित रहा। अब मैं इस भव मे दुर्लभ नरदेह आदि सामग्री पाकर, समवसरण मे विराजमान प्रभु की स्थापना मूर्ति के दर्शन पाकर, चेतना को भी अर्हन्त गुणो का अवलम्बन करने वाली बनाकर सेवना करते हुए प्रभु के सिद्धावस्था रूप अनन्त गुणो के स्वरूप से 'अभेदता वाधी' मेरी चेतना की अभेदता/अभिन्नता, एकत्व परिणामता की वृद्धि हुयी है। इससे 'ए आतम ना स्व-स्वभाव गुण' इस आत्मा को यह अनुमान हो गया है कि इन शुद्धात्म-स्वरूप देव से अभेदत्व बहुमान रूप से प्राप्त हो जाने से मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरी आत्मा को स्व-स्वभावगत अनन्त गुणो-अनन्त ज्ञान दर्शनादि गुणो के 'व्यक्त योग्यता साधी' अभिव्यक्ति

की योग्यता प्राप्त हो गयी है, सिद्ध हो गयी है। ऐसा अनुमान से निर्धारण किया है। यह जीव को जो अनादि काल मे विषयरसिक अर्थात् पाच इन्द्रियो और मन के भोग्य पदार्थो को भोगने का ही मात्र रसिक था, वह शुद्ध आत्मा वाले श्री अरिहन्त वीतराग का रसिक बना है, तो कभी अवसर पाकर स्व स्वरूप मे रमणकर्त्ता भी बनेगा, ऐसा अनुमान हुआ है। यदि कारण से अभेद रहा तो कार्य भी सिद्ध करेगा। यह परिवर्तन-भाव अनन्त काल से नही हुआ था, वह परिवर्तन हो जाने से यह तो जाना कि इस आत्म द्रव्य मे परिवर्तन की योग्यता है। अनादिकालीन गतिविधि का परिवर्तन भव्यत्व के लिंग (चिन्ह) का अनुमान तो हुआ, अर्थात् 'मैं भव्य हू' ऐसा भान हुआ। यह भक्ति की अतिरेक के हर्षमय उद्गार हैं।

भलु थयु मै प्रभ गुण गाया, व्हाला०
रसना नु फल लीधो रे।
देवचन्द्र कहे म्हारा मन नो, व्हाला०
सकल मनोरथ सीधो रे ॥भविक०॥८॥

अर्थ—अत हे प्रभो! भलु थयु-अर्थात् बहुत अच्छा हुआ। मेरे लिये अत्यन्त आनन्द का विषय है कि मैंने 'प्रभु गुण गाया' परम शान्त रसमय भगवान श्री शान्तिनाथ परमात्मा के गुणो की स्तवना की। इससे मैंने 'रसना नु फल लीधो रे' पुण्य से प्राप्त रसनेन्द्रिय-जिव्हा प्राप्त करने का फल ले लिया, प्राप्त कर लिया अर्थात् रसना की प्राप्ति को सार्थक बना लिया। श्री देवचन्द्र मुनि हर्षित होकर कहते है कि ऐसा होने से 'म्हारा मन नो' मेरे मन का 'सकल मनोरथ सीधो रे' मन की सम्पूर्ण अभिलाषाए पूर्णतया सिद्ध हो गयी अर्थात् पूर्ण हो गयी।

---

१७. श्री कुन्थु जिनेन्द्र स्तवन

(चरम जिनेसरु—ए देशी)

समवसरण बेसी करी रे, बारह पर्षदा माँह ।
वस्तु स्वरूप प्रकाशता रे, करुणाकर जगनाह रे,
कुन्थु जिनेसरु ।।१।।
निर्मल तुझ मुख वाणी रे,जे श्रवणे सुणे ।
तेहिज गुण मणि खाणी रे ।।कुन्थु० ।।२।।

अर्थ—अब सतरहवें श्री कुन्थुनाथ भगवान की स्तपना करते हैं। कुन्थु जिनेश्वर देवकृत समवसरण मे अशोक वृक्ष और चैत्य वृक्ष के अधोभाग में, छत्रत्रय सहित स्वर्ण सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान होते है। तीन दिशाओ में देवरचित प्रतिबिम्ब होते है। चारो ओर बैठी परिषद् के सामने साक्षात् भगवान विराजमान है ऐसा भास/भान होता है। प्रभु समवसरण में 'बेसी करी' बैठकर 'बारह पर्षदा माह' द्वादश प्रकार—साधु-साध्वी, वैमानिक देव-देवी और ज्योतिष देव-देवी, व्यन्तर देव-देवी, भुवनपति देव-देवी,श्रावक-श्राविकादि नर-नारी की पर्षदा—परिषद् (सभ्य श्रोताओ) के मध्य वस्तु स्वरूप—छहो द्रव्यो के मूल स्वरूप को प्रकाशित करते हैं अर्थात् जीव-स्वरूप को जीव स्वरूप से, अजीव—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, काल, पुद्गल, आकाशास्ति, इन पाचो अजीव द्रव्यो को अजीव रूप से तथा उपादान कारण, निमित्त कारण, शुद्ध कार्य, अशुद्ध कार्य का तद्रूप से प्रकाशन करते हैं। द्रव्य से शुभ परिणति को कारण रूप व भाव से शुभ परिणति को कार्य के रूप व भाव साधन परिणति को कारण रूप और भाव से सिद्ध परिणति कार्य रूप है, वही उपादेय है, उसे ही लक्ष्य करके सारी साधना करनी चाहिये। उसी रुचि मे रहना यही साधन है, ऐसा उपदेश करते हैं। हे करुणाकर! कृपा के आकर—खानि! हे जगनाह!

आप तीन जगत के नाथ है, ऐसे श्री कुन्थुनाथ जिनेसरु-जिनेश्वर। तुम-आपकी मुख वाणी से निःसृत ध्वनि-वचन जो निर्मल-मल दोष-रहित स्वच्छ है उसको जो प्राणी 'श्रवणे' श्रोत्रो से 'सुणे' सुनता है, वह भाग्यशाली प्राणी 'गुणमणिखाणी' गुण रूप मणि-चन्द्र कान्तादि मणियो की खाणी-खान है। ऐसे श्री कुन्थुनाथ भगवान को नमस्कार करो।

गुण पर्याय अनन्तता रे,
वलिय स्वभाव अगाह।
नयगम भग निक्षेपना रे,
हयादेय प्रवाह रे ।।कुन्थु०।।३।।

अर्थ—गुण वस्तु-द्रव्य के सहभावी धर्म हैं। **तत्त्वार्थ सूत्र** मे कहा है—'द्रव्यार्थतया निर्गुणा गुणा"—उन्हे गुण कहते है। तथा पर्याय क्रमभावी उभयाश्रित है। द्रव्य के गुण, पर्याय और स्वभाव जो सर्व द्रव्यो मे वर्तमान रहते हैं। इन तीनो की अनन्तता, अर्थात् गुणो, पर्यायो ओर स्वभाव की अनन्तता, ये सभी अगाह-अगाध हैं। इनका अवगाहन नही किया जा सकता। नय अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का अवलम्बन लेकर कहा जाय वह नय है। **तत्त्वार्थ सूत्र मे** कहाहै—**"अनेकधर्मकस्यत्रकोपेतस्य वस्तुन एकेन धर्मेण उन्नयनं अवधारणात्मक नित्य एवं अनित्य एव एवंविध नयव्यपदेशमास्कन्दति"**। अनेक धर्म-समूह से युक्त का एक धर्म से उन्नयन करना, मुख्य रूप से उसी धर्म को कहना अर्थात् निश्चयात्मक रूप से "यह नित्य ही है" "यह अनित्य ही है," इस प्रकार से नय व्यपदेश कहलाता है। ऐसे मूल सात नय हैं। उनके उत्तर भेद सात सौ है। गम—**"गम्यते इति गमा अंशभेदेन अन्य धर्म अभेदेन वस्तु निरूपणात्मकं वाक्यं गमात्मकं उच्चते"** गम् धातु गत्यर्थक, ज्ञानार्थक और प्राप्त्यर्थक तीनो अर्थों मे प्रयुक्त होती है। यहाँ गम शब्द ज्ञानार्थक है। अशभेद से, अन्य धर्म के अभेद से वस्तु का निरूपण-ज्ञान कराने वाला वाक्य 'गम' कहलाता है तथा 'भग' सप्तभगी-स्याद्वाद-मय वाक्य जो स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति इत्यादि सात प्रकार के होते है तथा निक्षेप—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव रूप वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने वाला प्रकार है, इन सब के अनेक

प्रवाहमय-अनेक भाति के वस्तु धर्म से, उपचार धर्म से, कारण धर्म से प्रभु स्वरूप का उपदेश करते है। पुनः वे हेय धर्म के नय, निक्षेप, भग हेय रूप से, उपादेय धर्म के नय, निक्षेप, भग उपादेय रूप से प्ररूपित करते है। ऐसी श्री कुन्थुनाथ भगवान की देशना है। पुनः एक द्रव्य मे अनन्त गुण, अनन्त पर्याय और अनन्त स्वभाव है, इनका उपदेश करते हैं। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिये कि गुण पर्याय पर आवरण आता है, स्वभाव पर नही, अस्तित्व एव नित्यत्वादि के विशेष स्वभाव विकृत होते हैं, किन्तु सामान्य स्वभाव नही। प्रभु सर्व धर्म का, नय का, भग और निक्षेप सहित उपदेश करते है, बताते हैं।

कुन्थुनाथ प्रभु देशना रे,
साधन साधक सिद्ध।
गौण मुख्यता वचन मा रे,
ज्ञान ते सकल समृद्ध रे ॥कु०४॥

अथ—पुनः प्रभु की देशना/वाणी की विशेषता का वर्णन करते है। श्री कुन्थुनाथ प्रभु की देशना ऐसी है कि उसमे साधन रत्नत्रयी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की पूर्णता-आत्मा से अभेदता स्वरूप बताने के लिए जिनमुद्रा, दर्शन, पूजन, वन्दन, सेवन, मुनिजनो की वन्दना, उपासना, अनुकम्पा, सयम, तपादि से लेकर शुक्लध्यान पर्यन्त साधना का प्रतिपादन करते है। मार्गानुसारी से लेकर क्षीण मोह नामक बारहवे गुणस्थान तक अपवाद और उत्सर्ग से अयोगी गुणस्थानवर्ती साधक जीव कहे जाते है। इनका तारतम्य (कमी—अधिकता) कहते है। प्रथम मार्गानुसारी साधक है। वह सम्यक्त्व की साधना करता है। सम्यक्त्वधारी जीव विरति की ओर, विरति से शुक्ल ध्यान की ओर, शुक्लध्यान से क्षायिक गुणो की ओर तथा क्षायिक गुणी सिद्धि की साधना करता है। यह साधक का क्रम है। इन सर्व का वर्णन प्रभु की देशना में होता है तथा सिद्धत्व—सम्पूर्ण कर्मो का क्षय होकर आत्मा की शुद्ध निरावरण अवस्था का वर्णन भी आपकी देशना मे है। प्रभु के वचन गौणता, मुख्यता अर्थात वस्तु के अनन्त गौण धर्म है उन्हे न कहकर वचन ग्राह्य धर्म को मुख्यता से कहते हैं। साराश यह है कि वस्तु मे अनन्त धर्म है और वे एक समय मे परिणत होते हैं,

उन्हे जिनेन्द्र भगवान एक समय मे जानते हैं, किन्तु वचन द्वारा जो धर्म मुख्यता से कहे जाये उन्हे मुख्यता से कहते है और अन्य सब को गौण रूप से जानते हैं। इस प्रकार वचन में गौणता और मुख्यता है। कुन्थुनाथ भगवान ज्ञान-केवलज्ञान से समस्त पदार्थों के ज्ञान रूप समृद्धि से सम्पन्न है। अर्थात् प्रभु का ज्ञान ऐसा नही कि अभी इतना जाना है, आगे इतना और जानेंगे। सकल भावो को वे एक समय में ही जानते हैं, अत ज्ञान मे गौणता नही होती है। हा, वचन प्रवृत्ति तो क्रम से होती है; क्योकि एक शब्द कहने के पश्चात् दूसरा शब्द कहा जाता है। इस कारण वचन मे गौणता मुख्यता है।

वस्तु अनन्त स्वभाव छे रे,
अनन्त कथक तसु नाम ।
ग्राहक अवसर बोध थी रे,
कहवे अर्पित काम रे ॥कु० ५॥

अर्थ—वस्तु अर्थात् जीवादि पदार्थ द्रव्य अनन्त स्वभावमय हैं, सर्व वस्तु अनन्तता युक्त है तथा वस्तु जीव कथन से उसके अनन्तधर्मो का और अजीव कहने से पुद्गलादि के अनन्तधर्मो का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार सर्व वस्तु मे समझना चाहिये। अत वस्तु का नाम वस्तु के सर्व धर्मो का ग्राहक है। इसी कारण नाम निक्षेप मे सग्रह और व्यवहार नय ये दोनो नय मुख्य हैं। और नैगम (कारण) गौण है, यह रीति है। परन्तु तीर्थंकर भगवान 'ग्राहक अवसर बोध थी' ग्राहक-श्रोतागण के अवसर-प्रसगानुसार और बोध-श्रोता की जितनी बुद्धि जानने की है उसके योग्य वैसा ही वचन मे अर्पित कर-वाणी मे सजो-कर कहते हैं। अर्थात् ज्ञानी महाप्रभु तो एक समय मे सर्व जानते हैं, किन्तु उपदेश के समय में केवली भगवान जैमे श्रोता हो, उनकी ग्रहण शक्ति के अनुसार उतना ही कहते हैं। अत. देशना देने मे अर्पित नय आगे करके अर्थात् उस अपेक्षा से कहते हैं। अर्पित-अनर्पित का स्वरूप **तत्त्वार्थ सूत्र** मे इस प्रकार बताया है **"अनेकधर्मा च धर्मो तत्र प्रयोजन वशात् कदाचिद् कश्चिद् धर्मो वचनेन अर्पितेविवक्षिते तदर्पिते सन्नपि वचनविवक्षिते प्रयोजनाभावात् तदनर्पितमिति ।"**

अर्थ—धर्मी पदार्थ के अनेक धर्म है जिसको जिस धर्म के कहने का प्रसग/प्रयोजन उत्पन्न हो, उस समय उस धर्म को वचन मे अर्पित करे, अर्थात् विवक्षा करके ग्रहण करे उसे अर्पित कहते हैं। जो धर्म सत् है, विद्यमान है, परन्तु प्रयोजन बिना उसकी गवेषणा न करे, यद्यपि वह श्रद्धा मे अपेक्षित है, उसे अनर्पित कहते हैं। छद्मस्थ का ज्ञान बोलना अर्पित अनर्पित दोनो के मिलने पर ही शुद्ध होता है। और, केवली भगवान का समग्र ज्ञान तो एक समयवर्ती है, परन्तु वचन अर्पित-अनर्पित मिलने से शुद्ध है।

शेष अनर्पित धर्म ने रे,
सापेक्ष श्रद्धा बोध।
भय रहित भासन होवे रे,
प्रगटे केवल बोध ॥कु०॥६॥

अर्थ—जो वचन बोलने मे शेष रहे वे अनर्पित धर्म थे। उन पर सापेक्ष श्रद्धा रखना, बोध-ज्ञान भी रखना, यह छद्मस्थ अर्थात् सम्यक्त्वी देशविरति, सर्वविरति, क्षीण मोही पर्यन्त के लिये है, ऐसा जानना चाहिये। और, उभय अर्पित-अनर्पित दोनों से रहित जो भासन-ज्ञान होता है वह बोध-केवली भगवान का ज्ञान है, जो समग्र का सम-काल मे ज्ञाता है। इस कारण केवलज्ञान मे अर्पितत्व-अनर्पितत्व नही है। वचनो मे अर्पितत्व-अनर्पितत्व है, किन्तु ज्ञान में नही है।

छति परिणाहि गुण वर्तना रे,
भासन भोग आनन्द।
समकाले प्रभु ताहरे रे
रम्य रमण गुणवृन्दो रे, ॥कु० ७॥

अर्थ—हे प्रभु! आप में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख, अरूपता आदि अनन्त गुण रूप धर्म की सत्ता है तथा अनन्त पर्यायो की भी सत्ता

है। और, वैसे ही स्वभाव गुण पर्याय की परिणति–पारिणामिकता द्रव्य मे परिणमन होना अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप तथा षड् गुण हानि-वृद्धि रूप परिणत होती है। वही ज्ञानादि गुण पर्याय की वर्तना अर्थात् स्व-स्वकार्य का कर्त्तृत्व ज्ञान से जानना, दर्शन से देखना, चारित्र से रमण करना, भोक्ता रूप से भोगना, इस प्रकार सर्व गुण स्व-स्ववर्तना से वर्तते हुए स्व-स्व कार्य करते हैं, उसे वर्तना कहते हैं। हे प्रभो! ये सब आप मे है, उन अनन्त गुणो के भोग का आनन्द आपके है अर्थात् अनन्त गुण पर्याय की सत्ता, परिणति, वर्तना, भासन, भोग और आनन्द ये सब समकाल मे ही अर्थात् एक समय में परिणमन होते हैं, अतः आप ऐसे अनन्त परमानन्द के भोगी हैं, महासुखी हैं। पुन हे प्रभो! हे सर्वज्ञ! हे सर्वानन्दमय! हे नाथ! हे शुद्ध उपकारिन्! आपके रम्य–रमण करने योग्य अनन्त आत्म स्वरूप में रमण करने रूप गुणवृन्द है अर्थात् गुणो का समूह/राशि है।

निज भावे सिय अस्तिता रे,

पर नास्तित्व स्वभाव।

अस्ति पणे ते नास्तिता रे,

सिय ते उभय स्वभाव ॥कु०॥८॥

अर्थ—अब सप्त भगी रूप से प्रभुता का वर्णन करते है। यहाँ कोई विद्वान् सप्तभगी मात्र पर्यायास्तिक नय से ही कहते हैं, किन्तु वह वस्तुत. घटती नही है। वस्तु मात्र द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक दोनो नययुक्त हैं, इनमें स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य ये तीन भग सकला देशी है, अत. द्रव्यास्तिक वाले हैं। जैसाकि **तत्त्वार्थ टीका** मे उल्लेख हैं—"**एवं एते नया सकलादेशा भाष्यानुसारिणः, एव सग्रह-व्यवहारानुसारेण आत्मद्रव्ये विकलादेशश्चत्वारः पर्यायाः नयाश्रया इति।**" इस प्रकार ये तीन सकलादेश भाष्यानुसार हैं और ऐसे ही सग्रह व्यवहारानुसारी आत्मद्रव्य मे चार विकलादेश पर्याय नय आश्रय वाले हैं अर्थात् शेष चार विकला देशी हैं। इसका परमार्थ ऐसे है कि स्यादस्ति इस भग में सर्व अस्तित्व अर्पित है। दूसरा नास्तित्व धर्म और अवक्तव्य धर्म वह

स्याद् रूपत्व मे आ जाता है। अर्थात् स्यादस्ति कहने से सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण होता है। और, १. स्यादस्ति नास्ति, २. स्यादस्ति अवक्तव्य ३. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य ४ स्यादस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य ये चार भग वस्तु के अश अर्थात् पर्याय को ग्रहण करते है। साराश यह है कि प्रथम स्यादस्ति नास्ति यह चतुर्थ भग है इसमें अवक्तव्य धर्म नही आया। कोई ऐसा कहे कि स्यात् पद से अवक्तव्य धर्म ग्रहण कर लेगा ? उत्तर यह हैं कि, स्यात् पद अस्ति तथा नास्ति धर्म की अनेकान्तता का ग्राहक है, अवक्तव्य का ग्राहक नही। स्यादस्ति अवक्तव्य यह पांचवा भग है। इसमे वस्तु का अस्तिधर्म एकसमयी है, उसे वचन से कहने मे या उपयोग मे लाते हुए असख्यात समय लगता है, अत यह अस्तित्व अनेकान्त रूप से है, किन्तु वचन गोचर नही। ऐसे ही 'नास्ति अवक्तव्य' यह छठा भग भी समझना चाहिये। स्यादस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य इस भग में स्याद् अर्थात् अनेकान्त से अस्ति कहते हुए असख्य समय लगते है और नास्ति कहते हुए भी असख्य समय लग जाते है, अत अवक्तव्य हैं, सयुक्त हैं, किन्तु जिस रीति से वस्तु मे इनका परिणमन होता है उस रीति से कहे नही जा सकते। इस कारण इन चार भगो मे समग्र धर्मो का गाहक नही होने से ये चार भग विकलादेशी हैं, सकलादेशी नही। अव इन सात भगो का आत्मा पर अवतरण करते है।

१. स्यादस्ति—यह आत्मा वर्त्तमान समय में ज्ञान, दर्शनादि स्वपर्याय की परिणति रूप से अस्ति है, अर्थात् अतीत पर्याय विनष्ट है और अनागत है, अत. वर्तमान पर्याय का गहण किया गया है। यहाँ स्यात् पद नास्ति अवक्तव्य धर्म की अनर्पितता का द्योतक है इस प्रकार स्यादस्ति यह प्रथम भग हुआ।

२ स्याद्नास्ति—स्यात्–कथचित् रूप से गति, स्थिति, अवगाहोपकारी, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा वर्णादि पुद्गल ये सर्व अचेतन, अजीव, पर-द्रव्य धर्म और स्वय के अतीत अनागत पर्याय साम्प्रत मे वर्तन रूप मे नही हैं। यह नास्ति भग द्रव्य रूप से अर्थात् आत्मा को आत्मा रूप से स्थित रखता है, अन्यथा किसी भी समय जीव अजीव बन सकता है।

३ अवक्तव्य —अस्ति धर्म भी वचन-अगोचर है और नास्ति धर्म भी वचन-अगोचर है क्योंकि वचन गोचर धर्म से वचन अगोचर धर्म अनन्त गुणा है, अत स्यात् कथचित् रूप से द्रव्य मे अवक्तव्यता है अर्थात् उपर्युक्त दोनो नय युगपत् अर्पण करते हुए सब पदार्थ अवक्तव्य रूप हैं। ये तीन भग सकलादेशी है। इन्हे द्रव्यास्तिक नय रूप से जानना चाहिये। इन तीन भगो मे सग्रह और व्यवहार नय की प्रवृत्ति है।

४ स्यादस्ति नास्ति —यह समुच्चयाश्रयी स्वद्रव्यार्थ पर्यायार्थ के अस्तित्व रूप से तथा इन्हे ही स्व-द्रव्यार्थ पर्यायार्थ को भिन्न उपयोग रूप होने से अतीत अनागत पारिणामिक रूप से नास्तित्व कहा है। इन दोनो धर्मो नें स्वय की गवेषणा की है।

५ स्यादस्ति अवक्तव्य —जो विवक्षित वचन गोचर द्रव्यार्थ मुख्य आत्मधर्म की अपेक्षा से अस्ति है उसी आत्म द्रव्य का सामान्य-विशेष द्रव्य की भिन्न प्रवृत्ति रूप धर्म समकाल मे अंगीकार करना स्यादस्ति अवक्तव्य भग है, किन्तु कहा नही जा सकता।

६ स्याद् नास्ति अवक्तव्य :—यह भी पचम भग के समान ही है, इसमें अस्ति के स्थान पर नास्ति लगा देना चाहिये। यह पर्याय की सूक्ष्मता और अनन्तता की अपेक्षा कहा गया है।

७. स्यादस्ति नास्ति युगपत् अवक्तव्य —यह किसी द्रव्यार्थ विपय की अपेक्षा से अस्ति पर्याय विशेष सम्बन्धी जो नास्तित्व है, वही स्वदेश मे भिन्न रूप से अवक्तव्य है। ये सर्व पर्याय हैं जो युगपत् एक साथ नही कहे जा सकते।

यह सप्तभगी नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, आदि धर्मों की तथा ज्ञान दर्शनादि गुणों की भी होती है। यह इस प्रकार बनती है।

ज्ञान जो है उसकी अस्ति, ज्ञायक, परिच्छेदक आदि की स्व-पर्याय मे अस्ति है, दर्शन चारित्रादि स्वद्रव्य पर्यायो में और जडत्वादि पर पर्यायो मे वही ज्ञान नास्ति रूप से है। इस प्रकार अनन्त गुणो की

अनन्त सप्तभगी हो सकती हैं, उनको बुद्धिशाली जन वना सकते है। **तत्वार्थ सूत्र वृत्ति और सन्मति-वृत्ति** मे भी इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। **स्याद्‌वादरत्नाकर** मे तो इनका स्वरूप, प्रवृत्ति, परिणति, नय आदि सबकी व्याख्या की गई है। जिज्ञासु जन इनका विस्तार उन शास्त्रो मे देख। अब गाथा का अर्थ कहते है।

निज स्वभावे–भाव मे, स्व आत्म, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्वभाव की सिय–स्यात्/कथचित् रूप से अस्तिता और उसी आत्म द्रव्य में पर क्षेत्र काल भाव की नास्तिता–नास्तित्व है। वह नास्तित्व धर्म भी आपकी आत्मा मे सत्ता रूप से विद्यमान है। सिय–स्यात्/कथचित् रूप से दोनो का अस्तित्व और नास्तित्व का अवक्तव्य स्वभाव अर्थात् आदिम और अन्तिम भग को कह देने से मध्य के पाच भगो का भी ग्रहण हो जाता है। हे प्रभो ! एसी स्याद्‌वाद परिणति को आपने प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा जानकर उपदेश किया है। ऐसी आपकी वाणी है। वस्तुत. अरिहन्त भगवान का उपदेश शुद्ध, अनन्तता, अनेकता सत्वता, साधकता, युक्त ही होता है।

अस्तित्व स्वभाव जे आपणो रे,
रुचि वैराग्य समेत।
प्रभु सन्मुख वन्दन करी रे,
मागीश आतम हेत रे ॥कु० ६॥

अर्थ —अब स्वय का मनोरथ कहते है कि ऐसा अस्तित्व स्वभाव अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अव्याबाध, पूर्णानन्दता, रूप आपणो–मेरा अपना है जो मेरा सत्तागत, स्याद्‌वादमय है उसे उपयोग से ज्ञान-दर्शन से ग्रहण किया जाता है। उसकी रुचि–पाने की इच्छा करके वैराग्य–ससार से उदासीनता के भाव अर्थात् यह ससारी भाव विभावो की उपाधि मेरे योग्य नही है, उसका सर्वथा त्याग कब करू गा, ? उसे विष-भक्षण और तप्तलोहपदधृति अर्थात् तपे हुए लोहे के पात्र पर पाव रखने के समान जानकर कव उससे विरक्त होऊ गा ? अत. मैं मोक्षा-भिलाषी और केवलज्ञान के आनन्द की इच्छा वाला होकर, आपके सम्मुख खड़ा होकर, वन्दना कर अपने आत्महित के लिए आपसे मागता हू कि

हे तारक ! हे प्रभो ! मुझे तारिये ! मुझे तारिये ! भव भ्रमण से मुझे उबार लीजिये। जगत् के ये जन्म-मरणादि दुःख अब मुझसे सहन नही होते। मेरा अनन्त स्वाधीन आनन्द पराधीन हो गया है और मै पुद्गल-ग्राही बना हुआ हूँ, अतः तत्त्व-आत्मतत्त्व को भोगता हुआ भी उस आत्मतत्त्व को नही जान सकता। औदयिक भाव रूप अशुद्ध पर्याय की श्रेणी मे पडा हुआ हूँ, और अब हे वीतराग प्रभु ! आपकी शरण मे आया हूँ, अतः मुझे अपने अस्ति-स्वभाव की अभिव्यक्ति हो, ऐसा आत्मा का हितकारी सम्यक्त्व युक्त चारित्र का प्रसाद प्रदान करे। यही मागता हूँ अथवा ऐसा मागीश-मागूगा, याचना करूंगा। ऐसी भावना करनी चाहिये। वही धन्य है जब सेवक की ऐसी भावना होगी और वह प्रभु से आत्महित की याचना करेगा।

अस्ति स्वभाव रुचि थई रे,
ध्यातो अस्ति स्वभाव।
देवचन्द पद ते लहे रे
परमानन्द जमाव रे ।।कु० १०।।

अर्थ —अतएव अहो भव्य-जीवो ! यदि आप सब सुख के अभिलाषी हैं तो सत्तागत आत्मा मे रहे हुए अस्तिस्वभाव की अनन्तता का ध्यान करते हुए 'देवचन्द्र' सर्व देवो मे चन्द्र-श्रेष्ठ श्री वीतराग सिद्ध परमात्मा का पदस्थान/सिद्धशिला पर अशरीरता, निर्मलानन्दता, निःसगता रूप परमानन्द, स्वाधीन और आत्यन्तिक सुख का जहाँ जमाव-सघनता है, मात्र आनन्द ही है, ऐसा पद लहे-प्राप्त करे, इसलिए आप तत्त्व स्वरूपी शुद्धात्मस्वरूप-अरूपी रूपरहित (क्योकि रूपादि पुद्गल के होते हैं।) ज्ञानस्वरूपी श्री कुन्थुनाथ भगवान के चरणो की सेवा करो, आज्ञा-पालन करो। हे बन्धुओ ! यही परम सुख का हेतु है।

——

१८. श्री अरनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग— रामचन्द्र के बाग चम्पो मोरी रह्यो री)

अब अठाहरवें भगवान श्री अरनाथ जिनेन्द्र की स्तवना में कार्य कारणता का वर्णन करते हैं।

प्रणमो श्री अरनाथ,
शिवपुर साथ खरो री।
त्रिभुवन जन आधार,
भव निस्तार करो री ॥१॥

अर्थ —श्री अरनाथ स्वामी-को प्रणमो बारम्बार उत्कृष्टभाव से नमस्कार करो। यही वीतराग अमोही परमेश्वर नमस्कार करनें योग्य है। शिवपुर शिव–निरुपद्रव सिद्ध जीवो का पुर–नगर मे पहुचाने का-खरो–सच्चा साथ है। इससे श्री अर्हन्त भगवान को सार्थवाह की उपमा दी गई है। जो निःस्वार्थ भाव से भव्यजनो को भवारण्य मे से पार कर मोक्षनगर में परमानन्द रूप से पहु चा देते हैं। इस प्रकार के कारण रूप श्री अरनाथ अर्हन्त हैं। वे 'त्रिभुवन' तीन भुवन–स्वर्ग मृत्यु पाताल मे रहने वाले सभी प्राणियों के आधार स्वरूप हैं। मिथ्यात्व, असयम कपायादि से पीड़ितजनो के लिए आधार–अवष्टम्भ रूप हैं तथा चार गति रूप भव–ससार से द्रव्य और भाव से अर्थात् आधि व्याधि रूप वाह्य और भाव-कर्म रूप–जन्म मरण रूप से निस्तार करने वाले हैं।

कर्त्ता कारण योग, कारज सिद्धि लहे री ।
कारण चार अनूप, कार्यार्थी तेह ग्रहे री ।।२।।

अर्थ —अब मुक्ति रूपी कार्य सिद्ध करने के लिए कारण एव कार्य की नीति कहते है । सभी कार्य कर्त्ता द्वारा किये जाने पर होते है । कार्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है और उनके कर्त्ता भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । कार्य से कर्त्ता भिन्न होता है । जैसे, घट कार्य का कर्त्ता कुम्भकार घट से भिन्न होता है । और, अभिन्न कार्य का कर्त्ता भी अभिन्न होता है । जैसे, ज्ञान का कर्त्ता आत्मा ज्ञान से भिन्न नही होता, उसी प्रकार पूर्ण सिद्धत्व का कर्त्ता आत्मा भी सिद्धत्व कार्य से भिन्न नही होता है, किन्तु जब कर्ता आत्मा को सिद्धत्व कार्य करने की सामग्री मिले तब सिद्धत्व कार्य करता है। अर्थात् एकाकी कर्त्ता कार्य सामग्री बिना कार्य नही कर सकता । कारण सामग्री मिलने पर ही कार्य कर सकता है । कारण के चार भेद हैं —१ उपादान, २ असाधारण, ३. निमित्त, ४ अपेक्षा । जो कार्यार्थी हो, वह चार कारण ग्रहण करे । बहुत से शास्त्रो मे तो कारण के दो ही भेद कहे है– उपादान और निमित्त । **विशेषावश्यक** मे १ समवायी, २. असमवायी ये दो कारण कहे है तथा **आप्तमीमांसा** मे ३ कारण कहे हैं—१ समवायी, २ असमवायी, ३. निमित्त। इनमे समवायी, को उपादान कारण और असमवायी को असाधारण कारण कहते है । निमित्त कारण के दो भेद है—१ निमित्त कारण, २ अपेक्षा कारण । **तत्त्वार्थसूत्र** मे अपेक्षा कारण पहले कहा है । यथा—**घटस्योत्पत्तावपेक्षाकारणव्योमादि अपेक्षते"** घट की उत्पत्ति मे अपेक्षित व्योम–आकाशादि की अपेक्षा होती है, अतः अपेक्षा निमित्त से पूर्व है। यद्यपि दो कारण मे ही चारो का अन्तर्भाव हो जाता है। तथापि विस्तार रुचि वालो के लिए चार कारण कहे हैं । इससे बुद्धि में भिन्नता के रूप समझ मे आ जाते है अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होती है । इन चारो कारणो को जब कार्य रुचि वाला कर्त्ता ग्रहण करता है और चारो की प्रवृत्ति करता है, तब ये कारण है। अन्यथा कर्त्ता के प्रयोजन बिना ये कारण नही बनते, यह साराश है ।

जे कारण ते कार्य, थाये पूर्ण पदे री ।
उपादान ते हेतु, माटी घट ते वदे री ।।३।।

अर्थ —अब प्रथम उपादान कारण का स्वरूप बताते है। जो कर्त्ता के कार्य के सन्मुख हो अर्थात् कर्त्ता जिसे कार्य रूप देने की इच्छा करे वही पूर्ण वदे-पूर्णता के समय कार्य रूप बनता है। उसे ही उपादान हेतु/कारण कहते है। **महाभाष्य (विशेषावश्यक)** मे कहा है :—

"तद्दव्वं कारणं तंतवो पडस्सेह जेण तम्मयया।
विवरीयमन्नकारणमिट्ठं वेमादओ तस्स ॥२१००॥"

अर्थ :—जिस वस्तुमय कार्य दिखता है वही उपादान कारण है। जैसे, पट के कारण तन्तु है, क्योकि पट तन्तुओ से बनता है। अन्य कारण जो पट रूप नही बन सकते, वे विपरीत है। वे अन्य वस्तु के हो सकते हैं या निमित्त हो सकते हैं। जैसे वेमादि पट बनाने के साधन हैं।

इस गाथा की व्याख्या में **"यदात्मकं कार्य दृश्यते तदिह तद् द्रव्य-कारणं, उपादानकारणं यथा तन्तवः पटस्य इति।"** जिस वस्तुमय कार्य दिखता है, यहाँ वही द्रव्य-कारण उपादान कारण है, जैसे तन्तु पट के कारण हैं। कर्त्ता के प्रयोग से तन्तु पट बनते हैं। यहाँ तन्तु उपादान कारण है। ऐसे पट घट रूप कार्य के लिए मिटटी उपादान कारण है। यहाँ कारण ही कार्यरूप को प्राप्त हो गया। यहाँ कारण-कार्य की एक-समय रूप व्याख्या है, वह भी उपादान कारण की है। ऐसा **महाभाष्य** के मति ज्ञानाधिकारगत जमालि निन्हव के अधिकार मे कहा है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि आप कारण को ही कार्य रूप कहते है तो कारण-कार्य की एकता हो जायेगी। उत्तर-अभिधान फल, लक्षण, सख्या, सस्थानादि का भेद है। इससे दोनो भिन्न है। जैसे पहले मिट्टी नाम था, फिर वही घट वन गया। घट नाम हो गया। मिट्टी मृदुता रूप थी, द्रव्यता धर्मवान थी, घट वनके जलधारण धर्मवान वन गयी, अत दोनो मे भिन्नता है। ऐसे ही फल, लक्षण, सख्या, सस्थान, आदि की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है। अतः उपादान कारण कार्य रूप परिणत होता है। ऐसा उपादान कारण का स्वरूप है।

उपादान थी भिन्न, ते विण कार्य न थाये ।
न हुवे कारण रूप, कर्त्ता ने व्यवसाये ।।४।।

कारण तेह निमित्त, चक्रादिक घट भावे ।
कार्य तथा समवाय, कारण नियत ने दावे ।।५।।

अर्थ —अब निमित्त कारण का लक्षण कहते हैं—जो कारण उपादान से भिन्न है और उस कारण के बिना कार्य नही होता। उसमे जो कारणत्व है, वह कर्त्ता के व्यवसाय–उद्यम पर निर्भर है। उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे घट रूप कार्य के लिए चक्र, चीवर, डोरा, धागा, दण्डादि निमित कारण है और मृत्तिका का उपादान कारण है। उस उपादान कारण से चक्र चीवरादि सर्व भिन्न है और इन निमित्तो के बिना मिट्टी से घटरूप कार्य नही हो सकता। वैसे ही चक्रादि कदापि घट कार्य रूप नही बनते और चक्रादि को जब कर्ता–कुम्भकार घट नर्माण रूप कार्य मे प्रयुक्त करे तव चक्रादि कारण रूप बनते है, नही तो वे कारण रूप नही होते। वह भी समवायी कारण उपादान कारण को कार्य रूप में करता हो, उस समय जो उपकरण काम में लेता है, वे सब निमित्त कारण कहलाते हैं। जब कर्ता कार्य न करता हो, तब वे कारण नही कहलाते। निमित्त कारण का यही स्वरूप है। जो अप्रयुक्त काल मे दण्डादि को कारण कहते है वह तो आरोप मात्र है। उसे नैगम नय की अपेक्षा से जानना चाहिये। परन्तु, वास्तव में है नही। अतः कार्य का कर्ता उपादन कारण को कार्य रूप देता हुआ उसमें जिन उपकरणो से कार्य करता है वे-वे उपकरण निमित्त कारण है। जो जिस कार्य के लिए बनाने मे नियत नियामकता वाले हैं वे सर्व निमित्त जानने चाहिये। घट कार्य मे चक्रादि और पट कार्य में तुरी व्योमादि निमित कारण हैं। सर्वत्र ऐसा समझना चाहिये।

वस्तु अभेद स्वरूप, कार्य पणुं न ग्रहे री ।
ते असाधारण हेतु, कुम्भे थास लहे री ।।६।।

अर्थ—अब असाधारण कारण का स्वरूप बताते है। यह वस्तु अर्थात् उपादान कारण से अभेद स्वरूप है और कार्य का रूप नही लेता, अर्थात् कार्य हो जाने पर नही रहता, जैसे घट बन जाने पर उसमें मृत्तिका तो रहती है पर वह उसी रूप में नही, घट रूप ले लेती है, किन्तु मृत्तिका तो है ही। जो मृत्तिका रूप तो रहे पर आकार नाम आदि वे न रहकर उनमें परिवर्तन हो जाता है वह असाधारण कारण है। जैसे घट रूप कार्य मे मृद् के स्थास-कोश, कुशूलाकार बन जाते है वे मृत्पिण्ड, उपादान कारण से अभेद है, किन्तु घट रूप कार्य सिद्ध हो जाने पर वे नही रहते। अत ये सब असाधारण कार्य है। कहा है—**"प्रमाणनिश्चयेन उपादानस्य कार्यत्वाऽप्राप्तस्य अवान्तरावस्था असाधारणम्।"** प्रमाण निश्चय से उपादान कार्य को अप्राप्त अवान्तर अवस्था असाधारण कारण है।

जेहनो नवि व्यापार, भिन्न नियत बहुभावी।
भूमि काल आकाश, घट कारण सद्भावी ॥७॥

अर्थ—अब अपेक्षा कारण का वर्णन करते हैं। जिस कारण का व्यापार-प्रवर्तन नही, तथा कर्त्ता को भी उसे प्राप्त करने का प्रयास नहीं करना पडता और जो कार्य से भिन्न है, नियत—नियमा निश्चय से उसकी आवश्यकता है, 'वहुभावी' अन्य वहुत से अनेक कार्यों में भावी—अनिवार्य है, आवश्यक है, अतएव कारण है और उसे ही अपेक्षा कारण कहते है। भूमि—पृथ्वी काल-समय और आकाश, इनके बिना कोई भी कार्य नही हो सकता। इनमे भूमि जैसे घटादि का कारण है वैसे ही अन्य कार्यों मे भी कारण है। घट का कारणत्व तो भूमि में स्पष्ट दिखता है, परन्तु अन्य मे वैसा न होने पर भी पृथ्वी बिना कोई आधार रूप अन्य वस्तु नही है, इसी पर सारे कार्य होते हैं। ऐसे ही काल और आकाश भी जानने चाहिये, यह अपेक्षित अवश्य है, पर जो कार्य उपादान और निमित्त व्यापार से होता है वैसा इस अपेक्षा कारण का व्यापार कर्त्ता नही करता, ये स्वत ही है।

एह अपेक्षा हेतु, आगम माँहि कह्यो री।
कारण पद उत्पन्न, कार्य थये न लह्यो री ॥८॥

अर्थ —आगम मे इसे अपेक्षा हेतु कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्रादि मे भी इसका उल्लेख है —"यथा घटस्योत्पत्तौ अपेक्षा कारण व्योमादि अपेक्षते तेन विना तद्भावाभावात् निर्व्यापारमपेक्षाकारणम्।" इति तत्त्वार्थवृत्तौ। अर्थात् जैसे घट की उत्पत्ति मे अपेक्षा कारण, व्योम-आकाशादि अपेक्षित है। इनके बिना ससार का ही अभाव हो जाता है। निर्व्यापार भी अपेक्षा कारण है। तथा विशेषावश्यकेऽवधिज्ञानाधिकारे—"द्वारभूतशिलातलादि, द्रव्यानुत्पद्यमानस्यावधि सहकारकारणानि भवन्ति, अत्र सहकारकारण गवेष्यम्। अर्थात् द्वार भूत शिलातलादि द्वार न बनने तक सहकार कारण होते है। यहाँ सहकार कारण की गवेपणा करनी चाहिये। यह सहकार कारण नामक जो चतुर्थ कारण है उसे उपर्युक्त रीति से समझना चाहिये। ये चार कारण बतलाये। अब कारण पद अर्थात् जिनमे कारणत्व तो है पर मूल धर्म नही है और उत्पन्न किया जाता है तथा जब कर्त्ता काय का अर्थी—इच्छुक ह कर उपकरणो तथा मूल पिण्ड को उस कार्य के करने में लगावे-प्रवृति करे तब वे उस कार्य के कारण है। जैसे, काष्ठ है, उसमे दण्डादि अनेक रूप बनने की सत्ता (योग्यता) है, किन्तु कोई कर्त्ता उससे दण्ड रूप कार्य करता है, कोई पुतली बनाता है, इत्यादि। उन दण्डादि का प्रयाग भिन्न-भिन्न कार्यो मे होता है। कोई दण्ड से घट निर्माण करता है और उसी दण्ड से घट का ध्वस भी कर सकता है। अत उपकरणो का कारणत्व कर्त्ता के आधीन है। विशेषावश्यक में कहा है—"ये कारकास्ते कर्त्तुराधीना इति कारणं कार्योत्पादकं तेन कार्योत्पत्तौ कारणत्वं न च कार्याकरणे।" अर्थात् जो कारक उपकरणादि हैं वे कर्त्ता के आधीन है। अत कारण का कार्योत्पत्ति करते हुए ही कारणत्व प्राप्त है। कार्य नहीं करते समय उनमे कारणत्व नही होता। अतः कारणत्व कर्त्ता द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, किसी वस्तु मे कार्य का कारणत्व तो विद्यमान है, उसे कर्त्ता के आधीन क्यो कहते है। उत्तर—उस कारण मे जिस विवक्षित कार्य की कारणता उत्पन्न है अथवा जिस समय कर्त्ता द्वारा उत्पन्न की गई है, वह कारणता कर्त्ता के प्रयोग पर निर्भर है। उस कारण में कार्य-शक्ति कर्त्ता द्वारा ही उत्पन्न की जाती है, कार्य समाप्त होने पर उसमे कारणता नही मिलती है। जैसे, कोई अनादि मिथ्यात्वी जीव यद्यपि भव्यत्व की सत्ता वाला है और वैसे ही कोई अभव्यत्व की सत्ता वाला है, किन्तु दोनो के उपादान मे सिद्धता के कार्य का उत्पादन

करने वाला नही है। अत सिद्धता कार्य उनमे उत्पन्न नही होता है। जब भव्य सत्ता वाले जीव उपादान—अरिहन्तादि निमित्त पाकर कारणता रूप परिणमन होने पर वह सिद्धता रूप कार्य करता है, फलत वह सिद्धता रूप कार्य उत्पन्न हुआ। और, कार्य सिद्ध होने पर वे निमित्त रूप नही रहते। जो सिद्धता म साधकता की सत्ता माने तो सिद्धावस्था मे साधकता है ही नही। अतः कार्योत्पत्ति के बाद कारणता नही रहती और घट कार्य मे निमित्त रूप दण्डादि है, वे भी भिन्न कार्य के व्यवसाय मे कारणता कर तो भिन्न कार्य करते हैं, किन्तु घट की कारणता उस समय उसमे नही रहती, ऐसी धारणा रखनी चाहिये।

कर्त्ता आतम द्रव्य, कार्य सिद्धि पणो री।
निज सत्तागत धर्म, उपादान गणो री ॥६॥

अर्थ :—अब सिद्धता रूप कार्य के चार कारण बताते हैं। जो सिद्धता रूप कार्य है, वह आत्मा से अभेद स्वरूप है। इसका कर्ता आत्म-द्रव्य स्वय है और सिद्धत्व आत्मा का कार्य है, जो आत्मा सिद्धता को परमानन्द रूप से जान ले। यही रूप जानना मेरा भी कर्त्तव्य है। इस कार्य की रुचि बिना मैंने अनन्त काल ससार मे भ्रमण किया है, स्वरूप को भ्रष्ट कर दिया है। मैं महामोह से ग्रसित हो रहा हूँ। अब मैंने अपने मूल धर्म ज्ञानादि स्वभाव को श्रद्धा भासन गोचर किया है, अत यह सिद्धता कार्य करना है। ऐसा निर्द्धार—निश्चय करके तदनुगत चेतना वीर्य शक्ति करके पुरुषार्थ द्वारा स्वरूप-कार्य सिद्धता के कार्य की सिद्धि करता है। वह इस रीति से होता है कि, प्रथम तो अंश रूप कार्य होता है, फिर उत्तरोत्तर गुण वृद्धि होने पर सम्पूर्ण कर्त्तृत्व पाकर सिद्धता रूप कार्य उत्पन्न करता है। इस सिद्धता रूप कार्य का उपादान कारण आत्मा के स्वय के सत्तागत ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्यादि अनन्त गुण हैं, वे ही सत्तागत धर्म सिद्धि रूप अर्थात् पूर्णतया शुद्ध—कर्म-मल से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। यही सिद्धता रूप कार्य है। यह आत्मा ही उपादान कारण है अर्थात् आत्मद्रव्य की मूल सत्ता अरूपित्व को प्रकट करना कार्य है और मूल स्वरूप का शुद्ध रूप होना सिद्धता रूप कार्य है। वस्तुत यह आत्मा ही उपादान कारण है।

योग समाधि विधान, असाधारण तेह वदे री ।
विधि आचरणा भक्ति,जिणे निज काय सधे री ॥१०॥

अर्थ —अब सिद्धता रूप कार्य का असाधारण कारण बताते है । योग–मन वचन काय का राग-द्वेपरहित स्व-गुणो मे रमण कराने को समाधि कहते हैं । इस समाधि का विधान अर्थात् करना । चतुर्थ गुण-स्थान से आरम्भकर सिद्धावस्था की प्राप्ति पर्यन्त गुण वृद्धि करना अर्थात् अभिनव गुणो-ज्ञान,दर्शन,चारित्र की वृद्धि,उपशम क्षपक श्रेणीगत ध्यान के परिणाम, क्षयोपशम भाव, शास्त्रोक्त विधि-पूर्वक सर्व आचरण तथा भक्ति और गुणीजनों का बहुमान–आदर सत्कार आदि करे । जिससे स्वय के सिद्धता रूप कार्य की सिद्धि हो । इस प्रकार ज्ञान क्रिया रूप साधक अवस्था की तरतमता आदि को असाधारण कारण कहते है । यह असा-धारण कारण–उपादान, आत्म-गुण रूप की भिन्न-भिन्न न्यूनता अधि-कता की अवस्था मे रहता है। पूर्व पर्याय सदा उत्तर पर्याय का कारण है, उसी समय क्रिया काल और निष्ठा काल का अभेद रहता है, इसे ही असाधारण कहते हैं ।

नर गति पढम सघयण, तेह अपेक्षा जाणो ।
निमित्ताश्रित उपादान,तेहने लेखे आणो ॥११॥

अर्थ :—अब सिद्धता रूप कार्य के अपेक्षा तथा निमित कारणो का स्वरूप कहते है। नरगति–मनुष्य गति, पढम सघयण–वज्रर्षभनाराच सघयण (अस्थि रचनाविशेष), पचेन्द्रियत्व इत्यादि को सिद्धता रूप कार्य के अपेक्षा कारण जानने चाहिये । यहाँ कर्त्ता का व्यापार नही, किन्तु निश्चय ही इनकी अनिवार्यता है, क्योकि इनके बिना मोक्ष रूप कार्य की साधना नही होती । अतः ये अपेक्षा कारण है । मनुष्य गति आदि सर्व मे उपादान कारण–आत्मा का परिणमन होने से देव,गुरु, धर्म, के निमित्त का यदि धर्मार्थी होकर आश्रय लेता है तो उस आत्मा की मनुष्य गति आदि सामग्री की सफलता जाननी चाहिये और वे भी तभी कारण बनते हैं, अन्यथा नही । अर्थात् जिसके निमित्त देहादि अपेक्षा कारण नही बने वह अभी तक अनादि की मिथ्या-प्रवृत्ति विषय-कषायादि

मे ही रमण करता है उसमे परिवर्तन नही करता है। इस प्रकार अपेक्षा कारण निमित्त आश्रय से मोक्ष का कारण वनता है।

निमित्त हेतु जिनराज, समता अमृत खाणी।
प्रभु अवलम्बन सिद्धि, नियमा एह वखाणी ॥१२॥

अथ—अब आत्मा के सिद्धता रूप कार्य मे निमित हेतु–कारण जिनराज भगवान श्री तीर्थ कर देव है, वे वीतराग सर्वज्ञ हैं और समता रूप अमृत की खाणी–आकार, खान है। इष्टता और अनिष्टता मे समभाव रहना ही समता है और शुद्ध चारित्र ही अमृत है। इन दोनो के ही वे भण्डार है। ऐसे प्रभु परमेश्वर, परम दयालु, परमात्मा, शुद्धात्म रूप भोगी, पूर्णानन्दी चिदानन्द श्री अरनाथ भगवान का आलम्बन लेने पर स्वय के आत्म स्वरूप का भासन, ज्ञान होता है। उस भासन का योग प्रभु गुणो के साथ कर देना चाहिये, प्रभु के अनन्त गुणो को जानकर उनके प्रति वहुमान रखना, उस पर परम भक्तिभाव रखना चाहिये। ऐसे आलम्बन के निमित्त से ही सिद्धि की निश्चय से प्राप्ति होती है, ऐसा आगम-शास्त्रो मे वर्णन है। यही मोक्ष का अव्यर्थ उपाय है। इसे ही निमित्त कारण कहते है।

पुष्ट हेतु अरनाथ, तेहने गुण थी हलिये।
रीझ भक्ति बहुमान, भोग ध्यान थी मलिये ॥१३॥

अर्थ :—आत्मा की सिद्धता कार्य के पुष्ट–नियामक हेतु–कारण श्री अरनाथ प्रभु हैं। अर्थात् आत्मा को नियन्त्रित कर नियम मे रहने वाला अपने वशीभूत रखकर उचित कार्य मे नियोजित करने वाला पुष्ट निमित्त अर्हन्त देव है। तेहने गुण थी–उनके गुणो से 'हलिये' सम्पर्क स्थापित कर उनमे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। केवलज्ञान, केवलदर्शनादि अनन्त गुणों से आकर्षित होने पर आत्मा प्रभु-प्रेमी वनती है और प्रेमी-जन अपने प्रिय पर रीझता है अर्थात् उससे राग करता है, उन पर मोहित हो जाता है और उसका उसी मे मन लगा रहता है। वह सर्व प्रकार से उसकी भक्ति करता है, बहुमान आदर-सत्कार करता है, उसी का भोग अर्थात् उसी मे तन्मय–एकरूप बनता है और दूरस्थ होने

पर ध्यान द्वारा मिलता है, अतः साधक को शुद्ध देव श्री अर्हन्त भगवान का अवलम्बन लेना मोक्ष-प्राप्ति में पुष्ट हेतु है, बलवान निमित्त है ।

मोटा ने उत्सग, बैठाने शी चिन्ता ।
तिम प्रभु चरण पसाय, सेवक थया निचिता ।।१४।।

अर्थ :—अब लौकिक दृष्टान्त द्वारा प्रभु के सेवक की निश्चिन्तता को पुष्ट करते हैं । जैसे जगत् में कोई बालक समर्थ–बड़े/सम्पन्न शक्तिशाली व्यक्ति के उत्संग–गोद मे जा बैठता है तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता या भय नहीं होता. उसी प्रकार आपके सेवक भी आपके सदृश समर्थ देवाधिदेव के चरणों का आश्रय लेकर आपके प्रसाद से निश्चिन्त 'थया' हो गये हैं ।

जो परमात्मा सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुण सम्पन्न, निरालम्ब किन्तु अनेको को आलम्बन स्वरूप, चिन्मय, अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यमय श्री जिनेश्वर देव, कर्म-कलक मुक्त देवतत्त्व, परभाव के अकर्त्ता, अभोगी और परानुयायिता-रहित हैं ऐसे श्री देवाधिदेव का मैंने शरण लिया है, तो अब मोह का मुझ पर कोई अधिकार नही चलेगा । अब ससार भ्रमण किसका होगा ? मेरा तो नही होगा । कर्म का भय किसे है ? मुझे तो नही है । जिस परमोत्तम स्वामी को मैंने अपना नाथ बनाया है, उनसे मेरी कर्मो की कारागार से मुक्ति होगी । ऐसे देव का मुझे सयोग मिला है अत अब मुझे कोई चिन्ता नही है । **पूज्यवर श्री जिनवल्लभसूरिजी** ने कहा है —

पसरइ तिय लोए ताव मोहंधयारं,
भमइ जयमसण्णं ताव मिच्छत्त छण्णं ।
फुरइ फुडफलंताणतणाणं सुपूरो,
पयडमजियसंतीज्झाण सूरो न जाव ।।६।।

अर्थ —तब तक ही तीन लोक में मोह रूप अन्धकार की प्रबलता रहती है और तब तक ही मिथ्यात्व से व्याप्त सज्ञा रहित जगत् विपरीत प्रवृत्ति वाला रहता है जब तक इन दो तीर्थ करो (अजितनाथ शान्तिनाथ) के स्पष्ट और उल्लास प्राप्त ध्यान रूप किरणो के समूह युत

सूर्य का उदय न हो अर्थात् ध्यान रूप सूर्य के उदय होने पर मोह नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर अधेरा और प्राणिगण की निद्रा पलायन कर जाती है वैसे ही दोनो भगवान के ध्यान से मोह और मिथ्यात्व नष्ट हो जाते हैं।

अर प्रभु प्रभुता रग, अन्तर शक्ति विकासी।
देवचन्द्र नो आनद, अक्षय भोग विलासी ॥१५॥

अर्थ :—अतः अठाहरवे तीर्थ कर श्री अरनाथ भगवान जिन्होने तत्त्वरुचि बनकर और तत्त्वाभिलाषी, तत्त्वसाधक, तत्त्व ध्यानी होकर आत्मा को शुद्ध तत्त्व बनाया, उन प्रभु की प्रभुता, शुद्ध ज्ञायकता, शुद्ध रमणता, शुद्धानुभवता, अपौद्गलिकता, असगता, अयोगिता, सकल प्रदेश निरावरणता, प्राग्भावी शुद्ध-सत्ता-भोक्तृत्व के रग में जो रग गये साधक और उनकी सम्यक्त्वी-सम्यग्दृष्टि, देश विरति सर्वविरति जन की अन्तरग शक्ति, तत्त्व प्राग्भाव करने की साधक-कारकता साधक-कर्त्तृत्व, परम संवर पूर्वक श्रेष्ठ सकाम निर्जरा रूप शक्ति विकासी-विकसित हो गई। ऐसा होने पर, उस शक्ति से सर्व कर्मो का नाश होनें पर तथा सर्व आत्मिक धर्म समान श्रीपूर्ण परमेश्वर तीर्थंकर देवो का आनन्द अव्याबाध, शिव, अचल, अरुज, अविनाशी रूप और उसके अक्षय स्वरूप के भोग अनुभव की विलासी आत्मा बन जाती है अर्थात् स्व-सम्पद्, स्वतत्त्वता, आत्मा की शुद्ध परिणति को सादि अनन्त काल भोगता है अथवा 'देवचन्द्र' स्तवन रचयिता अक्षय आनन्द का भोगी बने। अत भव्यो ! स्वरूप-सिद्ध अरूपी चिद्रूप श्री परमेश्वर की सेवा करो, ध्यान करो, उन्हे नमस्कार करो, उनके गुणगान करो, उनके गुणो का स्मरण करो, यही मोक्ष साधन का पुष्ट निमित्त है। इस निमित्त से उपादान कारण रूप होकर, असाधारण कारणता से आगे आरोहण कर्त्ता मनुष्य गति आदि को अपेक्षा कारण रूप बनाकर तत्त्वानन्द-प्राप्ति रूप कार्य करेगा। इसलिए उपादानादि तीन कारण की कारणता निमित्त के अवलम्बन से प्रकट होती है। अतः आशसादि दोषो का वर्जन करके शुद्ध निमित्त श्री अर्हद् देव का आलम्बन लेना चाहिये, जिससे स्वकर्तृत्व स्वरूप का स्मरण हो। इसकी स्मृति होने पर ही स्वकार्य होगा। श्री अरनाथ भगवान की भक्ति ही अभी तो मात्र आधार है।

१६. श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग—देखी कामिनी दोय कामे अथवा श्री शखेश्वर पास जिनेश्वर)

मल्लिनाथ जगनाथ चरण युग ध्याइये रे,
शुद्धातम प्रागभाव परम पद पाइये रे ।
साधक कारण षट्क करे गुण साधना रे,
तेहिज शुद्ध स्वरूप थाय निराबाधना रे ।।१।।

अर्थ —अत्र श्री मल्लिनाथ भगवान की स्तवना–स्तुति करते हैं । कारक-शक्ति पलटनें पर सिद्धता उत्पन्न होती है । आत्मा की कारक-शक्ति मे परिवर्तन होनें का उपाय श्री अरिहत देवाधिदेव की उपासना मेवा है । अरिहत देव श्री मल्लिनाथ भगवान की स्तवना उसी कारक-परिवर्तन रूप मे करते हैं । श्री मल्लिनाथ 'जगनाथ' जग–लोक के नाथ हैं, जगत् मे भ्रमण करते प्राणियों के रक्षक है । 'जग' शब्द से यहाँ मोह ग्रहण कर 'नाथ' शब्द से रक्षा करना अर्थ ले, तो यहाँ विभक्ति कारक का परिवर्तन करने पर, सम्बन्ध के स्थान पर अपादान करनें पर, 'जगतः मोहात्' मोह से छुडाने वाले, रक्षा करनें वाले बनता है । अर्थात् प्राणियों को जगत् मे भ्रमण कराने वाले मोह कर्म से भगवान् छुड़ाते हैं । मोह ही आत्मा का अतरग महाबलवान रिपु/शत्रु है, अत मोह की कारा से मुक्त होनें के लिए उन्ही के चरण युग/पाद-युगल, दोनों चरणो की ध्यान, सेवा, और आराधना करनी चाहिये । बारबार प्रभु के चरणो का स्मरण करना चाहिये । ऐसे प्रभु का ध्यान/स्मरण करने से ध्याता को शुद्ध/निर्मल आत्मा का प्राग्भाव–वास्तविक स्वरूप अनन्त गुण निर्मलता स्वरूप परमात्म भाव प्रकट होता है, उसे पाइये/प्राप्त करिये ।

स्वयं की आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर सके और सर्वथा मुक्त हो सके, ऐसी आत्म सिद्धि करने के छह कारक हैं। साधक अर्थात् सिद्धि की प्राप्ति का इच्छुक कारक षट्क–छह कारणों का प्रयोग करे। ये मुक्ति रूपी कार्य-सिद्धि के लिए-आवश्यक हैं, क्योंकि समस्त कार्यो में कारक प्रवृत्ति की कारणता है, कारक-चक्र के बिना कार्य-सिद्धि नही होती है। यथ—१. कुंभकार कर्त्ता है। २ कुम्भ निर्माण कार्य है। ३ मृत्-पिण्ड चक्र-दण्डादि कारण हैं। ४ मिट्टी के पिण्ड को नये पर्याय की प्राप्ति सम्प्रदान है। ५ पिण्ड को स्थास आदि पर्यायो का समूह अपादान है। ६. घटादि पर्यायो का आधारत्व ही आधार है। जिस प्रकार घट रूप कार्य में षट्-कारक हैं, उसी प्रकार आत्मा के ये षट् कारक बाधक रूप से परिणत हो रहे हैं जो निम्न हैं :—

१. कर्त्ता :—आत्मा अनादि काल से रागादि भाव-कर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म का कर्त्ता हो गया है।

२. कर्म :—द्रव्य-कर्म भाव-कर्म रूप कार्य ही कर रहा हैं; यह कर्म है।

३ करणः—अशुद्ध विभाव परिणति रूप भावास्रव और प्राणातिपादि रूप द्रव्यास्रव इन दो करणो से कर्म बन्ध का कार्य करता है, अतः यह करण है।

४. सम्प्रदान :—अशुद्ध परिणाम और द्रव्य-कर्म का आदान हो रहा है, यह सम्प्रदान है।

५. अपादान :—स्वरूप,रोध, क्षयोपशम की हानि, परानुयायिता आदि आत्म-गृहीत कर्मो से हो रहे हैं, यह अपादान है।

६. आधार :—आत्मा अनन्ती अशुद्ध विभावता तथा ज्ञानावरणादि कर्मो का आधार बना हुआ है, यह आधार है।

इस रीति से ये षट् कारक-चक्र अनादि काल से अशुद्ध रूप से, बाधक रूप से आत्मा में परिणत हो रहे हैं। जब साधक आत्मा स्वय का स्वधर्म प्रकट करने के रूप मे इन्हें परिणत करे, तब ये षट् कारक साधक रूप से प्रवृत्त हो जाते है और आत्मिक गुणो की साधना में

साधक बनते है। इस प्रकार ये पट् कारक साधक रूप मे परिणत होने पर सिद्धता रूप कार्य सिद्ध होता है और आत्मा का शुद्ध रूप प्रवट होता है। यह कार्य किसको सिद्ध होता है? उत्तर यह है कि, ये कारक निराबाध सिद्ध भगवान के तो शुद्ध साधक रूप से प्रवृत्ति करते है और ससारी मिथ्यात्व गुण-स्थानवर्ती जीवो के लिए बाधक रूप से परिणत हो रहे है। किन्तु, चतुर्थ गुणस्थान सम्यग्दृष्टि से आरम्भ होकर चतुर्दशम गुणस्थान पर्यन्त साधक रूप से प्रवृत्ति करते हुए सिद्धावस्था प्राप्ति पर्यन्त साधक रूप मे परिणत होते हैं, पश्चात् शुद्ध स्वरूप मे परिणत होते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य मे कारणो की व्याख्या के प्रसग मे कहा है :—

'छव्विह—कारणं कत्ताइ कारणकम्मं च तत्तो अ।
संपयाणाऽवायाण तह ना सविहाणाय ॥"

तथा च कारक षोढा—

"कारणमहवा छद्धा तत्थ सतंतोत्ति कारणं कत्ता।
कज्जस्स साहगतमं करणम्मि उ पिण्डदण्डाई ॥२११२॥

कम्मं किरिया कारणमिह निच्चिट्ठो जओ न साहेइ।
अहवा कम्मं कुंभो स कारण बुद्धिहेउत्ति ॥२११३॥

होइ पसत्थं मोक्खस्स कारणमेगविह दुविह तिविहं वा।
तं चेव य विवरीय अहिगार पसत्थएणेत्थ ॥२१२१॥"

कारण षड्विध कर्त्तादि है, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण मे छहो सविधान के लिए है, अथवा कारण छह हैं। सबमे स्वतन्त्र कर्त्ता है, कार्य में प्रसाधकतम करण है, जैसे पिण्ड-दण्डादि। कर्म, क्रिया और करण तीनो निश्चेष्ट हैं, यदि कर्त्ता साधक न हो। अथवा कर्म कुम्भ है, वही बुद्धि का हेतु है। प्रशस्त मात्र मोक्ष का कारण है। एक विध, द्विविध, त्रिविध जो अप्रशस्त कहे है, वे विपरीत ससार के कारण है। प्रशस्त भी उनसे विपरीत है, जैसे सयम असयम से, विरति ज्ञान

असयम विरति से और सम्यक्त्व ज्ञान सयम मिथ्यात्व अज्ञान अविरति से विपरीत हैं। अतः साधकत्व रूप में परिणत हुए कारक सिद्धता रूप कार्य को करते हैं। इसमे निराबाध जो सिद्ध हैं वे निरावरण, अव्याबाध सुख-रूप है। उसमे कर्त्तादि कारक शुद्ध पारिणामिक भाव शुद्ध रूप हो जाते हैं। उनका स्वरूप ही कर्त्तृत्व रूप से परिणत हो जाता है।

कर्त्ता आतम द्रव्य कार्य निज सिद्धता रे,
उपादान परिणाम प्रयुक्त ते करणता रे।
आतम सम्पदा दान तेह सम्प्रदानता रे,
दाता पात्र ने देय विभाव अभेदता रे ॥२॥

अर्थ —१ प्रथम कारक कर्त्ता का स्वरूप कहते हैं। कर्त्ता आत्म-द्रव्य तत्त्व है, वह आत्म शुद्धि का कार्य सिद्ध करने मे प्रवृत्त हुआ है और स्वय के इस शुद्धि रूप कार्य का कर्त्ता बना है।

२ कर्म :—आत्मा की स्वय की सिद्धता, सर्व गुण पूर्णता, सर्व स्वभाव, स्वरूपावस्थानता ही कर्म है। जो कार्य जिस परिणति-चक्र की प्रवृत्ति रूप से उत्पन्न हो, उस प्रवृत्ति रूप क्रिया का प्रवर्तन करना ही कर्म है। इसकी कारणता कार्य करने तक है। भाष्य मे कहा है — 'तस्मात् बुद्ध्यध्यवसितमध्यात्मकारणमेष्टव्यम्।' इसलिए बुद्धि में अध्यवसित अर्थात् रहा हुआ कार्य भी आत्म करण को चाहता है, अर्थात् मन में सोचा हुआ कार्य भी करने से ही होता है।

३ करण —उपादान स्वरूप आत्मा के स्वगुणो—सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय की परिणति, तत्त्व निश्चय, तत्त्वरुचि, तत्त्व-ज्ञान, तत्त्वरमणादि रूप स्वगुणों में अहिंसकता, बध-हेतु अपरिणमन रूप स्वरूप—यथार्थ भासन रूप, परभाव-अग्रहण रूप, अभोक्ता रूप, स्वरूप भोगी स्वरूप एकत्वरूप तत्त्वाराधन चेतना स्वरूप प्रगटतानुयायी, वीर्यादि उपादान कारण है। और, द्रव्ययोग अर्थात् मनो वाक् काया को प्रशस्त

करने के लिए अर्हन् देवाधिदेव का आलम्बनादि एव यथार्थ आगम श्रवणादि निमित्त कारण है। इन सर्व को प्रयुक्त करना अर्थात् आत्म कार्य करने रूप मे आत्मा का प्रयोग करना। इन उत्कृष्ट कार्यो को करने वाला तीसरा करण कारक है। **'साधकतम करणम्'** ऐसा पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। आत्म सिद्धि रूप कार्य के उत्कृष्ट कारण आत्म-शक्ति-स्वरूपानुयायी योग और शुद्ध देवादि प्रमुख करण कारक है।

४ सम्प्रदान —आत्म-सम्पदा अर्थात् ज्ञान पर्याय, दर्शन पर्याय, का दान करना। आत्मा को आत्मगुण करने रूप दान करने से जो-जो आत्म धर्म प्रगट होते जाय, उसे सम्प्रदान कहते है। कहा है :—

"देओ स जस्स तं संपयाणमिह तं पि कारणं तस्स।
होइ तदत्थिताओ न कीरइ तं विणा जं सो ॥"

अर्थ :— जिसे दिया जाय वह सम्प्रदान कारक जानना चाहिये। यहाँ दाता आत्मा तथा पात्र भी आत्मा और आत्मा को देय आत्मधर्म इन तीनो की अभेदता है। गुणो को प्रकट करना 'देय' है, आत्मा ही दाता है तथा आत्मगुणो को प्रकट करना कर्त्तृत्व है और गुणो का लेने वाला पात्र भी आत्मा है अर्थात् दान, दाता और पात्र तीनो ही अभिन्न हैं।

स्वपर विवेचन करण तेह अपादान थी रे,
सकल पर्याय आधार सम्बन्ध आस्थान थी रे।
बाधक कारण भाव अनादि निवारवा रे,
साधकता अवलम्बी तेह समारवा रे ॥३॥

अर्थ :—५. अपादान – जो आत्मा मे समवाय रूप से है, वह स्वधर्म या आत्मधर्म है। इनसे विपरीत मोहादि कर्मरूप अशुभ प्रवृत्ति परभाव पर धर्म है। इनका विवेचन करना, दोनो को भिन्न करना, अशुद्धता का उच्छेद करना, दोषो का त्याग कारना, विश्लेष, वियोग करना,

अनादि ससार का कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व त्याग कर आत्मस्वरूप का कर्त्तृत्व एव भोक्तृत्व प्रकट करना, अपादान कारक है।

६ आधार —समस्त पर्यायो का आधार आत्मा है। आत्मा तथा आत्म-पर्यायो का स्व-स्वामित्व सम्बन्ध है। व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध है और आधार आधेय सम्बन्ध है। इन सबका आस्थान–कारक रूप क्षेत्र आत्मा है, इनकी आस्थानता के लिए आत्मा आधार है। इस प्रकार ये छह कारक साधकत्व के बताये। अब साधकत्व की प्राप्ति कैसे हो ? यह बताते हैं।

बाधक रूप परभाव के अनुयायी, अशुद्ध कर्त्तादि कारकत्व मिथ्यात्व, असयम, कपाय, प्रमाद रूप भाव, अशुद्धता रूप सामान्य चक्र और अशुद्ध साध्यानुगत अशुद्ध कर्तृत्व को दूर करना तथा उस चक्र को रोक कर स्वरूपानुगत बनाना है। अनादिकाल से हो रही इस भूल को सुधारना है. क्योंकि जब तक कर्त्ता/आत्मा परभाव का कारक है तब तक सिद्धि की साधकता का अभाव है। और, जब तक कर्त्ता अशुद्ध कार्यानुयायी सामान्य चक्र है तक तक शुद्ध साधकता का अंश भी उत्पन्न नही होता। **पूज्य भाष्यकार** ने कहा है कि 'आत्मा के स्व-तत्त्व का कर्त्ता रूप हुए बिना सभी शुभ प्रवृत्ति बाल-क्रीडा मात्र है।' अतः कारक चक्र को परभाव से हटाकर, स्वभाव साधकता का अवलम्बन लेकर सारे कारण-चक्र को परिष्कृत करना और स्वरूपानुयायी बनाना चाहिये। स्वय आत्मा को इस प्रकार उद्बोधन देना चाहिये कि, हे चेतन ! तू परभाव का कर्ता-भोक्ता और ग्राहक नही है, तू तो सम्पूर्ण शुद्ध आनन्द का विलास करने वाला है। इस समय परभाव मे जो तेरा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि है वह तेरे योग्य नही है। तेरे लिए तो अनन्त पारिणामिक ज्ञान दर्शनादि गुण रूप स्वरूप का भोक्तृत्व ही योग्य है। अत. हे चेतन ! अब तू स्वरूप का भान करने के लिए जिनेश्वर भगवान् की अमृतवाणी का पानकर, जिससे तेरी अनादि कालीन मिथ्यात्व विष की बेभानता (बेहोशी) दूर हो, तुझे स्वरूप का भान हो और तू स्वय का भान करके स्व-पर का विवेचन कर सके। स्वय को, स्व के सहजानन्द का कर्त्ता बना, यही तेरा कार्य है। तू उसका उपादान कारण है, शक्ति-सम्पन्न है और ग्राहक है। तू स्व-सम्पदा का स्वामी है। तेरे असंख्य प्रदेशो से प्रकट करने रूप सम्प्रदान का कार्य तेरे मे है। अतः हे प्रिय

मित्र, चेतन ! इस अनादि के अशुद्ध परिणमन को तू ही त्याग कर सकेगा, और तेरी सत्ता का आधार भी तू स्वय है, अत तू स्वय ही स्वतत्त्व को शुद्ध कर । तेरा कार्य तू ही कर । इस प्रकार स्व आत्मा को जागृत कर, साधकत्व स्वीकार करना चाहिये । ऐसा करने पर कारकत्व की स्मृति होगी और आत्मा स्वकार्य मे प्रवृत्त हो जायेगा तथा इसके फलस्वरूप सिद्धता कार्य की सिद्धि प्राप्त होगी । यही साधना का मार्ग है । साधना करने पर ही कार्य सिद्धि होती है ।

शुद्ध पणे पर्याय प्रवर्तन कार्य मे रे,
कर्त्तादिक परिणाम ते आतम धर्म मे रे ।
चेतन चेतन भाव करे समवेत में रे,
सादि अनन्तो काल रहे निज खेत में रे ।।४।।

अर्थ :—१ कर्त्ता - शुद्ध रूप से निष्पन्न/सम्पन्न आत्मा के ज्ञानादि गुण पर्याय के जानने-देखने रूप कार्य की प्रवृत्ति और उत्पाद-व्यय रूप परिणमन कार्य का कर्त्ता आत्मा है । यह प्रथम कारक कर्त्ता है ।

२ कर्म : –आत्म गुणो का परिणमन रूप कार्य है ।

३ करण —आत्मा के ज्ञानादि गुण करण है ।

४. सम्प्रदान – आत्मगुणो का लाभ होना सम्प्रदान है ।

५ अपादान .—आत्मा से परभाव को पृथक् करना अपादान है ।

६ आधार : – अनन्त गुणो को धारण करना आधार है ।

इन छह कारको का चक्र सिद्धावस्था मे सदा स्वाधीन रूप से भ्रमण करता है, अतः शुद्ध निष्पन्न रूप से स्वपर्यायो का प्रवर्तन होता है । इन षट् कारण चक्र का परिणमन आत्मधर्म मे ही होता है । अर्थात् सिद्ध अवस्था मे षट् कारक स्वरूप में ही अवस्थित हैं । चेतन–आत्मा स्व के

चेतन भाव का यह समवेत-समवाय है, अर्थात् आत्मा आत्मभाव का कर्त्ता है। यह समवाय सम्बन्ध से सादि अनन्तकाल पर्यन्त निज खेत मे-स्वय आत्मा के असख्य प्रदेश रूप क्षेत्र मे आत्मधर्म प्राप्त सिद्धत्व मे रहे-रहता है। सिद्ध जीवो की आदि है पर अ त नही है, अत यहाँ सादि अनन्त भग का ग्रहण किया गया है।

पर-कर्त्तृत्व स्वभाव करे त्यां लग करे रे,
शुद्ध कार्य रुचि भास थये नवि आदरे रे।
शुद्धातम निज कार्य रुचे कारक फरे रे,
तेहिज मूल स्वभाव ग्रहे निज पद वरे रे ॥५॥

अर्थ—परकर्त्तृत्व–पर/द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म को कर्तृत्व स्वभाव से करता है, अर्थात् परकर्तृत्व अनादिकाल से कर रहा है। यह तभी तक करता है जब तक पर का रागी व पर का भोगी बना रहता है। तब तक इस आत्मा मे परकर्तृत्व है। किन्तु, जब शुद्ध निर्मल, निरावरण स्वरूप प्रकट करने रूप कार्य की रुचि का भास/ज्ञान हो जाने पर परगुण का राग-भोग-कर्त्तृत्व 'नवि आदरे' अर्थात् उसका ग्रहण नही करता है, त्याग देता है। शुद्ध आत्म स्वरूप का स्याद्वाद रीति से एव परमानंद स्वभाव से भासन तथा रुचि ये ही कारक परिवर्तन के मूल बीज है। इस कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष के मूल है। शुद्धात्म अनन्त ज्ञान दर्शन, अव्याबाध सुखमय, अरूपी, सहजानन्द रूप आत्मधर्म, सत्ताप्रागभाव, सकल परभाव-व्यतिरेकी, अरागी, अद्वेषी, असज्ञी, अयोगी, अलेशी, अकषायी, असहायी, ऐसे शुद्धानद रूप कार्य की रुचि होने पर कारक-चक्र मे परिवर्तन होता है। जब तक पौद्गलिक सुख रुचि है तब तक पर कर्त्ता है। इससे सारा कारक-चक्र उसी रूप मे कार्य करता है। और, जब भेद-ज्ञान-धारा से आत्मा पर-जड रूप कर्म नोकर्म का स्वरूप से विभजन-पृथक्करण करके स्वय के आत्मधर्म को एक अपूर्व उछरग-उत्साह उमग रूप से जान लेता है, उसे ही हितकारक मानता है तब आत्मधर्म की रुचि उत्पन्न होती है। फिर तो रुचि के अनुसार ही कार्य करता है, क्योकि जगत् में सभी अपनी-

अपनी रुचि का कार्य करने मे प्रवृत्त होते है और सर्व कारक-चक्र स्व-कार्य करने लगता है। फलत. तब वही आत्मा स्वय का अचल, अखण्ड, अविनाशी, निष्प्रयासी, स्वरूप परिणमन रूप मूल स्वभाव/स्वधर्म को ग्रहण करता है, क्योकि कारक अब मूल धर्म के ग्रहण कार्य मे लगा है। अत निज स्वय के परमात्मपूर्ण ब्रह्ममय परमानद पद को वरण करता है और आत्मा कृतकृत्य होकर अक्रिय अकम्प अनत चित्शक्ति अरूपी अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।

कारण कारज रूप अछे कारक दशा रे,
वस्तु प्रकट पर्याय एह मन मे वस्या रे।
पण शुद्ध स्वरूप नो ध्यान ते चेतनता ग्रहे रे,
तब निज साधक भाव सकल कारज लहे रे ।।६।।

अर्थ —ये छह कारक कारण तथा कार्य रूप है कार्य की सिद्धि रूप हैं, अत कारण के ही भेद है। समस्त कार्य कर्त्ता के आधीन हैं और कर्त्ता जो कार्य करे, वह कारण बिना नही होता, अत वस्तु आत्मद्रव्य के ये छह कारक प्रकट निरावरण पर्याय है, ऐसा मन में वस्या–विश्वास हो गया कि कर्तृत्व पर आवरण नही है, कर्तृत्व विशेष स्वभाव है और विशेष गुण एव पर्याय पर आवरण हैं, परन्तु स्वभाव पर नही। स्वभाव और उसकी कारणभूत चेतना तथा वीर्य शक्ति पर आवरण होने पर कर्तृत्व प्रवृत्ति मन्द हो जाती है, परन्तु मूल कर्तृत्व आवरित नही होता है। चेतना एव वीर्य की विपरीत परिणति से परभाव कर्तृत्व रूप में प्रवृत्त हो गया जिससे स्वय का स्वरूप भी आवृत हो गया और उसके आवृत हो जाने से स्व-स्वभाव को नही कर सका। अक्षर का अनतवा भाग चेतना और योगस्थान रूपी वीर्य क्षायोपशमिक ही रहा. फलत वह अनादि से परभावानुयायी ही बना हुआ है। स्वरूप कर्तृत्व नही होने से वह कर्तृत्व रूप से परभाव को ही करता रहा। आस्रव बध रूप कार्य का कर्त्ता बन जाने से वह अशुद्ध कार्य करता रहा। परन्तु, सर्वथा आवृत कभी नही हुआ और कर्तृत्व अनावृत रहने से अन्य कारक भी अनावृत रहे। यदि कारक-चक्र आवृत हो जाय तो आस्रव और बन्ध भाव का

कार्य कौन करे ? आस्रव और बध भाव के अभिनव पर्यायो का आदाता और पूर्व पर्यायो के त्यागी का आधार कौन हो ? अत कारक निरावरण है, किन्तु विकारी बने हुए हैं, मूल स्वरूप को भूले हुए हैं, ऐसा हुआ। अब इनमे परिवर्तन भी आत्मा करे तो वैसा कैसे हो ? यही वतलाते है। चेतन की चेतना–साकार-अनाकार को ज्ञान दर्शन का यथार्थ भासन रूप बनाकर स्वय के शुद्ध स्वभाव का भान करे और भासन के अनुसार रुचि से आचरण स्वीकार करे, तव ये ही सकल कारक निज–स्वय के साधक भाव को जो कर्म-विदारण है, उसको अभिव्यक्त करने रूप भाव को प्राप्त करता है। अर्थात् कर्त्ता–स्वधर्म का कर्त्ता कर्म–स्वधर्म का परिणमन,करण–स्वधर्मानुयायी गुण-परिणति, चेतना वीर्य–शक्ति, सम्प्रदान–साधन गुण शक्ति का प्रकट होना, अपादान–पूर्व पर्याय अशुद्ध से निवृत्त होना, आधार–स्वगुणो को धारण करना। इस प्रकार षट् कारक साधक रूप बनकर सिद्धता–परमोत्तमता का उल्लास समाधि एव पूर्ण निर्मल रूप को प्राप्त करता है। स्व-धर्मावलम्बन करने योग्य निम्नांकित भावना सदा करनी चाहिये।

"अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दंसण-समग्गो।
तम्मिठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयंणेमि ॥"

—समयसार गाथा ७३

अर्थ —मैं ज्ञान दर्शन पर्याय रूप अनन्त धर्ममय तथापि द्रव्यरूप से अखण्ड रूप से, समुदाय रूप से एक हूँ। निश्चय नय से शुद्ध हूँ। यद्यपि अनादि से परभाव मे लुब्ध हो जाने से स्वभाव भ्रष्ट होकर अशुद्ध हो रहा हूँ, तथापि स्वजाति से मेरा मूल धर्म अनत ज्ञानादि गणमय, शुद्ध, निष्कलक, निरामय, निस्सग होने मे निर्दोषी हूँ। सर्व ममत्वभाव एवं परभाव में मेरेपन से रहित हूँ। सकल भासन रूप ज्ञान, सर्व परिच्छेद रूप दर्शन और सामान्य उपयोगमय हूँ। ऐसे भासन, रमण, परिणमन रूप रहा हुआ यह आत्मा समस्त पर-उपाधि का, कर्मो का क्षय कर स्व के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण कर सर्व परभाव को भेद कर निर्मल आनद को उत्पन्न करता है।

माहरु पूर्णानद प्रकट करवा भणी रे,

पुष्टालम्बन रूप सेव जिनवर तणी रे।

देवचन्द्र जिनचन्द्र भक्ति मन मे धरो रे,

अव्यावाध अनन्त अक्षय पद आदरो रे ।।७।।

अर्थ—ऐसी वाधकता रूप मे परिणत हुए मेरे कर्त्तादि षट् कारक अशुद्ध परिणाम, अरिहत भगवान परमज्ञाता, स्वरूप-रमण करने वाले, उसी में विश्रान्त होने वाले स्वरूपानदी का स्वरूप देखते हुए एव गुणगान करते हुए पलट सकते हैं। उसके पलटने पर अशुद्ध कर्तृत्व पलट जाता है। सम्पूर्ण कारक-चक्र ही पलट जाता है। कर्म भी शुद्ध सिद्धता रूप हो जाता है और अनन्त स्वसम्पदा भी प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप भव्य जीव को तत्त्व प्राप्त कराने वाली शक्ति प्राप्त होती है। वह शक्ति श्री अरिहत भगवान की सेवा-उपासना से मिलती है। अत मैंने निर्धारण/निश्चय किया है कि उपासना करूँ। हे प्रभो! मेरा जो पूर्णानदमय पूर्ण अव्यावाध सुख है उसको प्रकट करने के लिए पुष्टालम्बन रूप श्री जिनेन्द्र देव का आलम्बन—आधार का जो भव्य जीवो के आधार, मुनिजनो के प्राणाधार आचार्य उपाध्याय पर परमदयालु, भावचिन्तामणिरत्न, सम्यक्त्वी जनो के ध्येय, ध्याता के लिए प्रतिच्छन्द रूप, अनत गुणाकर और निर्मल ज्ञानानद के पात्र हैं ऐसे श्री जिनराज की सेवा—सेवना आराधना ही पुष्टालम्बन है। अत 'देवचन्द्र' सर्व देवों मे चन्द्र-श्रेष्ठ, शीतल, कान्तिमान् श्री जिनचन्द्र, वीतराग, अर्हन् परमात्मा की भक्ति सेवना आज्ञापालन रूप एव तदनुयायित्व अर्थात् उनके पद चिन्हो पर गमन करना ही त्राण—रक्षण स्वरूप है। यही भक्ति मन मे धारण करो, स्थिर रखो। अथवा स्तवन कर्त्ता श्रीमद् देवचन्द्र महोदय स्वय को सम्वोधित करते हुए कहते है कि हे देवचन्द्र! श्री जिनचन्द्र मल्लिनाथ भगवान् की भक्ति को धारण कर, जिससे अव्यावाध—वाधा रहित जहाँ परभाव रूप विघ्न और वाधाओ का अभाव है, परम आनद रूप है, जिनके अनन्त गुणो की गणना नही हो सकती, अक्षय—जिसका क्षय विनाश या छेद नही होता ऐसा पद—मोक्ष पद आदरो—प्राप्त कर सकेगा

अर्थात् बाधकता भाव का परित्याग करने से एव साधकता में रमण करने पर सिद्धि की सम्प्राप्ति होती है, अत हे सिद्ध आत्माओं! आप परम पुरुषोत्तम परमेश्वर निष्कारण जगद्वत्सल मल्लिनाथ भगवान का गण-गान करें, स्तवन स्तुति करें, स्मरण-जाप करें, ध्यान करे, क्योकि साधक के लिए यही प्रथम साधना है ।

२०. श्री मुनिसुव्रत जिनेन्द्र स्तवन

(तर्ज—ओलगडी ओलगडी सुहेली हो श्री श्रेयास नी रे)

ओलगडी ओलगडी तो कीजे,
श्री मुनि सुव्रत स्वामी नी रे,
जेह थी निज पद सिद्धि ।
केवल ज्ञानादिक गुण उल्लसे रे,
लहिये सहज समृद्धि । ओलगडी०॥१॥

अर्थ —अब अद्भुत स्वरूप वाले परमात्मा अहिंसक प्रभु श्री मुनिसुव्रत भगवान का स्तवन करते हैं। मुनि–निर्ग्रन्थ, साधु सुव्रत–मुनियो के श्रेष्ठ व्रत-महाव्रतो के पालक ऐसे सार्थक नाथ वाले मुनिसुव्रत भगवान की ओलगडी–ओलू (मारवाडी शब्द) अर्थात स्मृति करना और उनके गुणो का स्मरण करना, अथवा ओलग–सेवा करना । अर्थात् गुण-ग्राम का स्मरण करना चाहिये, जेहथी–जिससे निजपद–स्वय का परमात्म पद सिद्ध स्वरूप पद की सिद्धि हो और केवलज्ञानादि गुण उल्लसे-प्रकट हो अर्थात् ज्ञानामृत रस पान करे और सहज–अकृत्रिम स्वाभाविक समृद्धि–अनन्त ज्ञान-दर्शनादि, दान-लाभादि लहिये–प्राप्त हो, यह प्रभु सेवना का फल है, प्रभु के स्मरण से सर्व स्मृद्धि प्राप्त होती है, अत प्रभु का स्मरण करना चाहिये ।

उपादान उपादान निज परिणति वस्तुनी रे,
पण कारण निमित्त आधीन ।
पुष्ट अपुष्ट द्विविध ते उपदिश्यो रे,
ग्राहक विधि स्वाधीन ॥२॥

अर्थ—आत्म-साधन करने मे उपादान वस्तु की निज परिणति ही वस्तु का मूल धम है अर्थात् जो आत्म-सत्ता विद्यमान है, वही उपादान कारण है। किन्तु, उपादान को इष्ट रूप देना निमित्त कारण के आधीन है। निमित्त रूप प्रभु का सेवन करते हुए कारण–उपादान स्व-आत्मा का स्मरण होता है। वह निमित्त कारण दो प्रकार का है :— १ पुष्ट निमित्त, २. अपुष्ट निमित्त। कौनसा निमित ले :—यह ग्राहक–कर्त्ता के ऊपर निर्भर है, आधीन है। किस रूप मे किस कार्य के लिए कैसी विधि है, इसकी जानकारी हो, तभी इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। जानकारी के अनुसार विधि का सही प्रयोग होने पर कार्य-सिद्धि निर्भर है। विधि पूर्वक कार्य करने पर ही निमित्त हेतु बनता है। अविधि से ग्रहण किया निमित्त कार्य नही करता। जैसे, कुम्भकार दण्ड-चक्रादि का सही उपयोग करे, तब घट रूप कार्य सिद्ध होता है। मृत्-पिंड को चक्र पर स्थापित कर दिया और चक्र नही घुमाया तो घट नही बनेगा। दण्ड का उपयोग भी सही न करे, स्वय के करने का कार्य भी ठीक नही करे तो घट का निर्माण नही होगा। ऐसे ही श्री अर्हन मोक्ष के निमित्त कारण तो है, परन्तु आगम-शास्त्र मे निर्दिष्ट विधि के अनुसार आशातनादि से बचकर पौद्गलिक भोगाशसा रहित होकर एव केवल-ज्ञानादि गुणो की जानकारी सहित प्रभु की सेवा करे तो मोक्ष के कारण होते हैं। अविधि से की गयी सेवा कर्म-बध का कारण बन जाती है। अतः विधि पूर्वक ग्रहण किया गया कारण ही कार्य करता है।

साध्य साध्य धर्म जे माँहे हुवे रे,
ते निमित्त अति पुष्ट।
पुष्प माँहे तिल वासक वासना रे,
नवि प्रध्वसक दुष्ट ॥३॥

अर्थ—अब पुष्ट निमित्त का स्वरूप कहते है। साध्य–इष्ट कार्य करने योग्य धर्म जिसमे हों उस निमित्त को पुष्ट निमित्त कहते है। वह पुष्ट निमित्त भी विधि से कार्य करने के लिए विधि से ग्रहण करने पर कार्य करता है, वह कार्य का प्रध्वसक–नाशक नही होता। इसे उदाहरण देकर समझाते हैं। जैसे, तेल को सुगधित करने के लिए पुष्प कारण रूप

है, तेल को सुवासित करना साध्य है। सुगन्ध पुष्पों में है, वे पुष्प तेल को सुवासित करने के कार्य के ध्वसक नही, अतः वे पुष्प निमित्त हैं। विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है—"कार्यस्य आसन्ननिमित्तं इति तदेव पुष्टम्, दुश्तर यत् कारण तत् अपुष्टनिमित्तम्" जो निमित्त कार्य के समीप हो, वह पुष्ट निमित्त है, जो अतिदूर हो वह अपुष्ट निमित्त है। अतः निवारण साध्य परमात्मा अरिहन्त देव मे है। जैसा कि पूज्य **सिद्धसेन दिवाकर** ने कहा है—"पुष्टहेतु जिनेन्द्रोऽयं मोक्षसद्भाव-साधने" जिनेन्द्र भगवान मोक्ष के सद्भाव साधन में पुष्ट हेतु है। साधक का साध्य आत्मा का निरावरण–कर्मावरण से मुक्त करना है। ऐसा साध्य प्रभु मे सिद्ध हो गया है, फलत वे पुष्ट निमित्त हैं। विधि से सेवन कार्य हो तो मोक्ष साध्य की प्राप्ति होती है।

दण्ड दण्ड निमित्त अपुष्ट घड़ातणो रे,
नवि घटता तसु माहि।
साधक साधक प्रध्वसक अछे रे,
तिण नही नियत प्रवाह ॥४॥

अर्थ —अब अपुष्ट निमित्त बतलाते हैं। दण्ड घट का अपुष्ट निमित्त है। कारण कि पुष्प मे जैसे सुगध का निवास है, वैसे दण्ड में नही, क्योकि दण्ड में घट धर्म नही, दण्ड घट नही बनता। कर्त्ता की प्रेरणा पर घट कार्य निर्भर है। दण्ड कारणत्व का प्रयोग कर्त्ता के आधीन है, क्योकि कर्त्ता दण्ड का प्रयोग घट बनाने में भी कर सकता है और घट ध्वस मे भी। इस कारण नियत प्रवाह निश्चय से एक ही कार्य करता हो, ऐसा नही है। जबकि अरिहन्त भगवन्त की सेवा तो निश्चय से सिद्धता का कारण है। सिद्धि कार्य की रुचि वाला अर्हत् भगवान की आराधना, उपासना, सेवा करे तो निश्चित रूप से सिद्धता की प्राप्ति होती है।

षट् कारक षट् कारक ते कारण कार्य नो रे,
जे कारण स्वाधीन।
ते कर्त्ता ते कर्त्ता सहु कारक ते वसु रे,
कर्म ते कारण पीन ॥५॥

अर्थ —अब कारण की पुष्टता कहने के लिए कारकों का वर्णन करते हैं। १. कर्त्ता, २ कर्म, ३ करण, ४ सम्प्रदान, ५ अपादान और ६. अधिकरण ये छह कारक है। ये प्रत्येक कार्योत्पत्ति में कारण भूत है। कर्त्ता कोई क्रिया करे, वहाँ ये छह कारक जानना चाहिये। यहाँ स्वय सिद्धता रूप कार्य करने की क्रिया आत्मा करती है, तब छहों कारक होते हैं। कर्त्ता आत्मा का सिद्धता रूप कार्य आत्मा से अभिन्न है तो उसके कारक भी अभेद है। भिन्न कार्य का कर्त्ता भी भिन्न होता है तो सभी अन्य कारक भी भिन्न होते हैं, ऐसी नीति है। परन्तु, निमित्त कारण तो सभी कार्य में भिन्न ही होता है, अतः सिद्धि रूप कार्य के निमित्त कारण अर्हन् वीतराग भी कर्त्ता से भिन्न है, उन्हे कारक उपादान रूप से सभी प्राप्त होते हैं।

इन छह कारकों में प्रथम कर्त्ता नामक कारक है, उसका लक्षण बताते हैं। जो कार्य करने मे स्वाधीन हो, अर्थात् अन्य सभी कारक कर्त्ता के स्वाधीन रहते हैं। कहा भी है—"स्वतन्त्रः कर्त्ता" (पाणिनीय व्याकरण) अथवा "कारणमहवा छद्धा तत्त सततोत्ति कारण कर्त्ता" भाष्य-सुधाम्बुधौ।" सभी कारक कर्त्ता के वसु-आधीन हैं। दूसरा कर्म कारक है। जो इष्ट हो और करने से हो वह कर्म कारक है। "कर्तुरीप्सितम कर्म" कर्त्ता जिसे करना चाहे वह कर्म है, "कम्म किरिया करण" क्रिया करना कर्म है।

कार्य कार्य सकल्पे कारक दशा रे,
छती सत्ता सद्भाव।
अथवा तुल्य धर्म ने जोयवे रे,
साध्यारोपण दाव ॥६॥

अर्थ :—यहाँ कोई प्रश्न करे कि कर्म तो कार्य है, कारण नही है? उसका उत्तर इस प्रकार है कि, प्रथम तो कर्त्ता को कार्य करने का संकल्प होता है। उस समय कर्त्ता उसको सकल्प रूप से विचारता है, तदनन्तर कार्य करता है, अतः उसे कारण कहते हैं। विशेषावश्यक में कहा है–"सर्वेपि बुद्धौ सकल्प्य कार्यं करोति" अर्थात् सभी कर्त्ता पहले बुद्धि में संकल्प कर विचार कर कार्य करते हैं। "इति व्यवहारस्ततो बुद्ध्यध्यवसितस्य कुम्भस्य चिकीर्षितो मृन्मयः कुम्भस्तद् बुद्ध्यालम्बनतया कारण भवति।" ऐसा व्यवहार है कि सकल्प के पश्चात् बुद्धि में निश्चित कर

कुंभ को बनाने की इच्छा करने से मृद्–मिट्टी उस बुद्धि के आलम्बन से कारण होती है अथवा स्थास आदि कार्य उस घर-निर्माण कार्य के कारण हैं। कर्त्ता के स्थासादि भी कार्य हैं। अथवा कार्य करने के मृत्-पिण्डादि मूल उपादान उसमें जो कार्य की स्थिति सत्ता मे योग्यता रूप में रही हुयी है, वह कार्यत्व सत्तागत है, वह प्राग्भावी कार्य का कारण है। कहा है—"**अथवा भव्यो योग्य स्वरूपलाभस्य इति शक्यं उत्पादयितुमतः सुकरत्वात् कार्यमपि आत्मन. कारणमिष्यते। अवश्य च कार्मण. कारणत्व एष्टव्यम्।**" स्वरूप-लाभार्थ भव्य होने योग्य है, अत. यह कार्य होना शक्य है, क्योकि सुकरणीय है। यह कार्य भी, आत्मा को कारण रूप से इष्ट है। कर्म का कारणत्व अवश्य एष्टव्य है, अर्थात् इष्ट है। सद्भाव समीप मे रहे हुए निमित्त उपादान को समीप करता है, कार्य के लिए कारण के सद्भाव को कार्य बुद्धि से प्राप्त करता है, अत कार्य को कारण कहते हैं। अथवा तुल्य धर्म को देखना कि मुझे भी यह कार्य करना है। जैसे कोई भव्यात्मा मोक्ष/पूर्ण परमानन्द प्राप्त करने के लिए उद्यत होने पर वह सिद्ध रूप प्राप्त तत्त्व-अर्हन्त को देखता है और विचार करता है कि, 'मुझे भी ऐसा स्वरूप प्राप्त करना है' ऐसा सकल्प करके कार्य करे, क्योकि तुल्य धर्म देखने से कार्य मे तत्परता अधिक बढती है, अत कार्य भी कारण बन जाता है। पूज्य श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने कहा है–"**यथा युक्तितो घटते तथा सुधिया कर्मणः कारणत्वं वाच्यम्, अन्यथा कर्माणि कारणत्वं करोति इति कारकम्, इति षण्णां कारकत्वमुपपत्तिरेव स्यात्।** अर्थात् जो युक्ति से घटे–सिद्ध हो, पडित को उसे कर्म का कारण कहना चाहिये। अन्यथा कर्म मे कारणत्व करता है ऐसा लोक कहेंगे। इस प्रकार छहो ही कारकत्व की सिद्धि ही होती है। इस रीति से कर्म में कारणत्व मानना चाहिये। ऐसे ही कारकता है। साध्य का आरोपण करना यह कर्म का कारणत्व है।

अतिशय अतिशय कारण कारक करणता रे,
निमित्त अने उपादान।
सम्प्रदान कारण पद भव नथी रे,
कारण व्यय अपादान ॥७॥

अर्थ :—उत्कृष्ट अतिशय से जिसका प्रवर्तन हो, वह तृतीय कारक कारण है। इसके दो भेद है–निमित्त और उपादान। आत्मा के सत्ताधर्म का भान कराने वाले निमित्त कारण अरिहन्त भगवान् हैं। अरिहन्त स्वरूप का दर्शन, पूजन, गुणो का मनन, गुणगान स्मरण आदि से आत्म-भान होता है। इससे उपादान कारण में स्वरूप की अभिव्यक्ति का कार्य प्रारभ होता है और उपादान अधिकाधिक कारणत्व प्राप्त करता है। यह कारण पर्याय का लाभ होने से सम्प्रदान है अर्थात् उपादान कारण में नव-नवीन पर्याय प्राप्त होना सम्प्रदान कारक है। अथवा नये-नये कार्य की पर्याय प्रकट होना सम्प्रदान है और पूर्व के कार्य पर्याय का व्यय/विनाश अपादान है। जीर्ण कारण पर्याय का नाश होने से नवीन कारणता की उत्पति होती है। इस रीति से कार्य की निष्पत्ति सिद्धि होती है।

भवन भवन व्यय बिनु कारज नवी हुए रे,
जिम दृषदे न घटत्व ।
शुद्धाधार शुद्धाधार सुगुण नो द्रव्य छे रे,
सत्ता धार सुतत्त्व, ॥८॥

अर्थ :—कोई प्रश्न करे कि सम्प्रदान और अपादान में क्या कारणता है! इसका उत्तर देते है—भवन–उत्पाद नवीन पर्याय की उत्पत्ति,व्यय-पूर्व पर्याय का नाश, इनके विना कार्य की सिद्धि नही होती। जैसे मृत्-पिण्ड पर्याय का व्यय और स्थास पर्याय की उत्पत्ति, स्थास पर्याय का व्यय और कोश पर्याय की उत्पत्ति, कोश पर्याय का व्यय और कुशूल पर्याय की उत्पत्ति, कुशूल पर्याय का व्यय और कपाल पर्याय की उत्पत्ति, कपाल पर्याय का व्यय और घट पर्याय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार घट कार्य सम्पन्न होता है। सिद्धता का कार्य भी इस तरह सम्पन्न होता है। आत्मा की अनादिकालीन मिथ्यात्व पर्याय का व्यय और सम्यक्त्व पर्याय की उत्पत्ति, प्राचीन बाधक भावो का व्यय और अभिनव साधक भावो की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार व्यय और

उत्पाद का क्रम कार्य-सिद्धि में अनिवार्य है। इनके बिना कार्य की सिद्धि नही होती है। जैसे दृषद्–पत्थर से घट बनाना कुम्भकार का कार्य नही है। यदि कुम्भकार मृत्तिका से घट-निर्माण के समान पत्थर से घट बनाना चाहे तो असभव है। हाँ, पत्थर की वस्तु बनाने वाला शिल्पकार पत्थर का भी घट बना सकता है, पर कुम्भकार नही। प्रस्तर घट मे मृत्तिका के समान पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल पर्यायो का व्यय एव उत्पाद नही होता, और न चक्र-दण्डादि साधनो का प्रयोग हो सकता है।

छट्ठा अधिकरण बताते है। ज्ञानादि स्वगुणो का आधार आत्मा है, अर्थात् आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, अव्याबाध, अमूर्तता, अगुरुलघुत्व, अखण्डता, निर्मलता, कर्तृत्व, परिणामिकत्व, आदि मूल गुणो का आधार है। आत्मा जीव द्रव्य है, यद्यपि धर्मास्तिकायादि सभी द्रव्य अपने-अपने गुणो के आधार हैं, पर उनमे कर्तृत्व तथा ज्ञान, दर्शनादि नही है, वे अचेतन है। अत वहाँ कारकत्व की गवेषणा नही की गई है। शुद्ध आत्मतत्त्व को सत्ता का आधार है, उसी मे कारकत्व है। सत्ता आत्मा का मूल धर्म है। वह निरामय है और उसका आधार सुतत्त्व शुद्धात्मा है।

आतम आतम कर्त्ता कार्य सिद्धता रे,
वसु साधन जिनराज।
प्रभु दीठे प्रभु दीठे कारज रुचि ऊपजे रे,
प्रगटे आतम समाज ॥९॥

अर्थ —अब उपनय करते हैं —आत्मा का स्वरूप–रुचि होना, ससार-भ्रमण से घबराहट–भय होना, मोक्षाभिलापी होना, सम्यग्दर्शन-तत्त्वश्रद्धा होना आदि सर्व का कर्त्ता आत्मा है। विरतित्व, आत्मतत्त्व का ध्यान एव तत्त्व में तन्मयतादि का कर्त्ता आत्मा है, अर्थात् तत्त्वार्थी आत्मतत्त्व की शुद्धता का इच्छुक साधक कार्य सिद्धता, सकल गुणो की अभिव्यक्ति एव निष्कर्म–कर्म रहित अवस्था के प्रकट करने के साधन अरिहत परमात्मा जिनराज है, क्योकि परमात्मा के दर्शन से यथार्थ

भासन होता है। कारज रुचि–सिद्धता रूप कार्य की अर्थात् प्राग्भाव भोगी बनने की रुचि उत्पन्न होती है। वह रुचि ही सम्पूर्ण सिद्धता का मुख्य कारण है। वृद्धिगतरुचि ही साधना की भावना बनती है और ध्याना-वस्था का आलम्बन लेने से पूर्वानन्दता प्राप्त होती है तथा आत्म-सम्राज अर्थात् आत्मा का साम्राज्य प्रकट होता है। यह सच है कि मोक्ष का कर्त्ता आत्मा है, किन्तु मोक्ष की रुचि बिना कर्तृत्व प्रकट नही होता और वह रुचि वीतराग सर्वज्ञ के दर्शन से होती है, अतः अरिहन्त देव का दर्शन ही रुचि का कारण है। इस प्रकार मोक्ष रूप कार्य का कारण अरिहन्त भगवान् ही है। मेरा भी मोक्ष रूप कार्य सिद्ध हो, एतदर्थ यह उपकार करने वाले प्रभु श्री अरिहन्त देव को जानो।

वन्दन वन्दन नमन सेवन वलि पूजना रे,
स्मरण स्तवन वलि ध्यान ।
देवचन्द्र देवचन्द्र कीजे जगदीशनो रे,
प्रगटे पूर्ण निधान ॥१०॥

अर्थ.—वन्दन, अभिवादन, स्तुति और नमन–मस्तक झुकाने रूप नमस्कार सेवन–आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना, पूजन–चन्दन, कस्तूरी, वरास आदि से नवाग पूजा तथा पुष्पों से अलकृत करना, स्मरण–बारम्बार प्रभु गुणो का स्मरण, स्तवन–राग-रागिणी-बद्ध प्रभु गुणो का गायन करना, ध्यान–प्रभु के गुणो मे मन को एकाग्र करना, ये सब सिद्धता रूप कार्य के उपाय हैं, जो उत्तरोत्तर आत्मशुद्धि मे सहायक है। स्तवन रचयिता श्रीमद् देवचन्द्र स्वय को सम्बोधित करते हुए कहते है कि देवचन्द्र ! जगदीश के ये उपर्युक्त वन्दनादि कर्त्तव्य करो, जिससे पूर्ण निधान–अनन्तगुण आत्मशक्ति, परमान्द रूप निधान प्रकट हो। जिनेन्द्र भगवान की सेवा करने से स्वय की परमात्मता प्रकट होती है। अवि-नाशी, आत्मधन की प्राप्ति होती है। यह देवाधिदेव श्री मुनिसुव्रत भग-वान का परम उपकार है।

———

२१. श्री नमिनाथ जिनेन्द्र स्तवन

(राग – पीछोला री पाल ऊभा दोय राजवी)

श्री नमि जिनवर सेव, घनाघन ऊनम्यो रे । घ० ।
दीठा मिथ्या रोर, भविक चित थी गम्यो रे ।
शुचि आचरणा रीति, ते अभ्र वधे बडा रे । ते० ।
आतम परिणति शुद्ध, ते बीज झबूकडा रे ।।ते० १।।

अर्थ —अब श्री नमि जिनेश्वर जिनवर–समान्य जिनमे परम-श्रेष्ठ तीर्थ कर देव, वीतराग देव, परम-परमात्मा, शुद्ध स्वरूप भोगी, चिदानदघन, निर्विकारी देव का सयोग एव दर्शन, उनके स्वरूप को पहचानना अत्यन्त दुर्लभ है । कहा भी है :—

"इंदत्तं चक्किकतं सुरमणी कप्पद्दुम्मस्स कोडीणं ।
लाभो सुलहो दुलहो, दंसणो तित्थनाहस्स ।।"

अर्थ —इन्द्रत्व, चक्रित्व, सुरमणि–चिंतामणी, कल्पद्रुम-कल्पवृक्षादि की कोटि–श्रेणी प्राप्त होना सुलभ है, किन्तु श्री तीर्थ कर भगवान् का दर्शन मिलना दुर्लभ है, अत श्री जिनेश्वर देव का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है । वह दर्शन ससार-चक्र मे फसे, मोह से बेसुध बने एव स्वतत्त्व से अज्ञ एव दीन जीव को जिन-सेवा की उपलब्धि कहा से हो ? किसी पुण्यानुबन्धि पुण्य के उदय से जीव को जिन-दर्शन सेवा आदि का शुभावसर प्राप्त हुआ है । फलत वह जीव हर्षोन्मत्त होकर कहता है कि जिनेन्द्र भगवान की सेवा रूप घनाघन–मेघ ऊनम्यो–उमड़ रहा है, चारो ओर से काले काले बादल उमड़ रहे हैं ।

जैसे वर्षाकाल मे आकाश मेघो से आच्छादित हो जाता है वैसे ही मेरे मन-गगन मे और वचन तथा शरीर मे श्री नमि जिनेन्द्र के प्रति वहुमान, पूज्यभाव, नमनादि विनय प्रवृत्ति प्रभु-प्राप्ति के आश्चर्य रूप मेघा से आच्छादित हो रहे हैं। जैसे बादल चारो ओर से घटा रूप मे आकाश पर उमड आते है, तो जन-जन के मन में से दुष्काल का भय पलायन कर जाता है वैसे ही मेरा भी मिथ्यात्व रूपी गौरव अर्थात् नरक या पुण्य के दुष्काल का भय मन से दूर हो गया। मिथ्यात्व के चले जाने से अब शुचि-पवित्र आचरण रीति स्वरूप मेघ उमड-उमड कर चले आ रहे है। प्रभु-भक्ति रूप मेघ मे शुचि आचरण हो जाने से अविधि एव आशातना रहित तथा पौद्गलिक सुख की आशसा से मुक्त उत्तम आचरण हो रहा है, वही मेघाडम्बर है। वे ही अभ्र-पटल बढे-बढते हुए आ रहे हैं।

मेघो में जैसे विद्युत्-विलास होता है वैसे ही प्रभु-भक्ति रूप मे प्रभु की सेवा करते हुए आत्म-परिणति की शुद्धता रूप बीज झबूकडा-विजली का बारम्बार चमकना चल रहा है, अर्थात् आत्म परिणति में ज्ञान का प्रकाश पुन पुन हो रहा है।

वाजे वायु सुवायु, ते पावन भावना रे, । ते० ।
इन्द्र धनुष्य त्रिक योग, ते भक्ति एक मना रे । ते० ।
निर्मल प्रभु स्तव घोष, ध्वनि घन गर्जना रे । ध्व० ।
तृष्णा गीष्म काल, तापनी तर्जना रे ।। ता० २ ।।

अर्थ —जिस प्रकार पावस ऋतु मे मेघ को बरसाने वाली अच्छी वायु अर्थात् पूर्वी हवा चलती है, उसी प्रकार प्रभु भक्ति रूप मेघ मे भी प्रभु के गुणो के प्रति बहुमान स्वरूप उत्तम-पावन पवित्र भावना रूप सुवायु-अच्छी हवा चल रही है। जैसे वर्षाकाल मे मेघो की घटा में इन्द्र-धनुप-विविध रगों से बनी धनुषाकार रेखाए दृष्टिगोचर होती हैं, जो अधिक वर्षा की सूचक होती है, वैसे ही प्रभु-भक्ति रूपी मेघ घटा में त्रिक योग-मनो वाक् काय रूप योगो की भक्ति मे एकमना-एक स्वरूपता

हो जाती है, अर्थात् तीनों ही भक्ति में तन्लीन हो रहे हैं, यही भक्ति रूप मेघ में इन्द्र-धनुष है। जैसे मेघ घटा मे गर्जन होता है, वैसे ही प्रभु-सेवा रूप वारिवाह में प्रभु के निर्मल गुणों के स्तवन की मधुर ध्वनि ही गर्जना है तथा जगत् मे वर्षाकाल में मेघ वृष्टि होने पर ग्रीष्मकालीन ताप शान्त हो जाता है वैसे ही प्रभु भक्ति रूप मेघवृष्टि होने पर जीवो को अनादिकालीन तृष्णा–विषय सुख की पिपासा रूप अतरग ताप की तर्जना–वेदना शान्त हो जाती है।

शुभ लेश्यानी आलि, ते बग पंक्ति बनी र। ते०।
श्रेणी सरोवर हस, वसे शुचि गुण मुनि रे। व०।
चउगति मारग बंध, भविक निज घर रह्यो रे। भ०।
चेतन समता सग, रग मे ऊमह्यो रे,॥ रं० ३ ॥

अर्थः—जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आकाश मे मेघ की श्यामवर्णी घटाओ के नीचे बक-पक्ति–बगुलो की हारमाला जैसी आकृति शोभित होती है वैसे ही प्रभु-भक्ति रूपी श्याम वर्ण मेघो के नीचे शुभ लेश्या–तेजो पद्म शुक्लवर्ण के शुभ मनः परिणाम शोभायमान लग रहे हैं। जैसे पावन ऋतु मे हंस पक्षी सरोवर मे निवास करते हैं वैसे ही शुचिगुणवान मुनिराज अपने पवित्र गुणो मे अथवा प्रभु-भक्ति में ध्यानारूढ उपशम श्रेणी एव क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर आत्मभाव मे रमण करते हुए केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे वर्षाकाल मे चारो दिशाओ के मार्ग बन्द हो जाते हैं वैसे ही प्रभु-भक्ति में तन्मय बने आत्मा का चतुर्गति गमन बन्द हो जाता है। अर्थात् प्रभु सेवन से आत्मा का चतुर्गति भ्रमण बन्द हो जाता है।

वर्षा ऋतु में जगत के प्राणी–मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि अपने निवास गृहो मे रहते हैं तथैव अनादि समय से उद्धत परभावाभिलाषी आत्मा जो अनेक प्रकार के विषय विकार रूप भावो में रमण करता था, उसे श्री प्रभु-भक्ति रूपी निमित्त की प्राप्ति हुई और वह चेतन अब

अपनी समता के संग रंग में मोहित हो गया अर्थात् उसी समता के सग में स्वगृह में ही रमण कर रहा है। स्वात्म-स्वभाव में रंगरेलिया कर रहा है।

सम्यग् दृष्टि मोर, तिहां हरखे घणुं रे ।ति०।
देखी अद्भुत रूप, परम जिनवर तणुं रे ।प०।
प्रभु गुण नो उपदेश, ते जलधारा वही रे ।ते०।
धर्म रुचि चित भूमि, मोहे निश्चल रही रे ।मो० ४।

अर्थ—जिनभक्ति रूप मेघाडम्बर देखकर साम्यग् दृष्टि तत्त्व-रुचि आत्मारूप मयूर अति हर्षित हो रहे हैं, आनन्दित होकर नृत्य कर रहे हैं। श्री तीर्थ कर देवाधिदेव का रूप कैसा है ? अत्यन्त अद्भुत है। सर्वोत्कृष्ट है। अनुत्तरवासी तथा सर्वशक्तिशाली समस्त देवो का मिलकर भी वैसा रूप विकुर्वित करना चाहे तब भी नही कर सकते हैं। वे प्रभु के पांव के अंगुठे जैसा भी रूप नही बना सकते हैं। ऐसा परम शीतल निर्विकार प्रभु परमेश्वर का रूप देखकर वर्षाकाल में मोर को तरह सम्यग्दृष्टि जीव आनन्दित होते है।

तीर्थंकर प्रभु की भक्ति में तल्लीन वने हुए तत्त्वरुचि भक्तजीव अपनी रसना से प्रभु गुण का स्तवन करते हैं, उस प्रभुगुणगान रूप जल का प्रवाह बह रहा हैं। जैसे वर्षा ऋतु में मेघ वर्षण से स्थान-स्थान पर जल प्रवाह धारा रूप मे बहता है वैसे ही गुणगायन रूप जल धारा प्रवाहित हो रही है और धर्मरुचि वाले आत्माओ की चित्तभूमि में एकत्र होकर निश्चल हो रही है। जैसे वर्षाकाल मे जलप्रवाह सरसी आदि जलाशयों में एकत्र होता है वैसे ही तत्त्वरुचि जीवो के चित्त मे प्रभु गुणों की जलधारा निश्चल होकर ठहर जाती है. निश्चल हो जाती है।

चातक श्रमण समूह, करे तब पारणो रे ।क०।
अनुभव रस आस्वाद, काल दुख वारणो रे ।का.।
अशुभाचार निवारण, तृण अकूरता रे ।तृ०।
विरति तणा परिणाम, ते बीजनी पूरता रे ।ते. ५।

अर्थ —प्रभु-सेवा-भक्ति रूप जलधारा बरसनें पर श्रमण/निर्ग्रन्थ तत्त्व-रसिक महामुनि रूप चातक–पपीहा पारणा करते है, अर्थात् सम्यगदर्शन होनें पर जिस तत्त्व स्वरूप–स्वय के अनुभव की पिपासा उत्पन्न हुयी थी, वह पिपासा जिन भक्तिरूप कारण पाकर आत्म-स्वरूप के यथार्थ ज्ञानमय अनुभव रस का आस्वादन रूप पारणा कर तृप्त होती है। वह पारणा/सन्तुष्टि सकल दु ख–सांसारिक विभाव रूप कर्मभार–उग्रता से गुणावरण रूप भार को वारणो अर्थात् दूर करनें वाला है, ससार के जन्म-मरण रूप दुःख का निवारण करने वाला है। जैसे वर्षा ऋतु में नवीन हरित तृण दूर्वा आदि सर्वत्र वनो एव उपवनो मे उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही मनोभूमि मे शुभ आचार रूप तृणादि के उत्पन्न हो जानें पर अशुभाचार का निवारण हो जाता है। वर्षाकाल मे कृषक गण विभिन्न प्रकार के बीजो का वपन करते हैं, जिससे भांति-भाति के फल, फूल, शाक, सब्जियाँ आदि प्राप्त होती है, वैसे ही भव्य जीव भी प्रभु-भक्ति रूप वर्षा समय मे अनेक प्रकार के दान, शील, तप तथा भावना रूप बीज के वपन से मनुष्य एव देवादि भवो में सुख-समृद्धि प्राप्त कर अन्त मे मोक्षरूप फल प्राप्त करते हैं।

पच महाव्रत धान्य, तणा कर्षण वध्यां रे ।त०।
साध्य भाव निज थापी, साधनताये सध्या रे ।सा०।
क्षायिक दर्शन ज्ञान, चरण गुण ऊपना रे ।च.।
आदिक बहु गुण सस्य, आतम घर नीपना रे ।आ० ६।

अर्थ —वर्षाकाल में बोये गये बीज उगते है और बढते हैं। प्रभु भक्ति के समय मे भी मनोभूमि मे विरति के बीजो का वपन भक्तगण

करते हैं, वे अद्भुत होकर द्रव्य भाव रूप पच महाव्रतों को धान्य रूप में धारण करते है। फलतः उत्सर्गावलम्वी महाव्रतो का निरतिचार पालन होनें से ध्यान रूप कर्षण दिन-दिन वृद्धिगत होते है। अर्थात साध्यभाव को निजथापि–अपने मैं स्थापित करनें से वे ही महाव्रत साधनता रूप मे साध्य–सिद्ध हो गये। सारांश यह है कि आत्मा की सत्ता को पूर्णत. प्राग्भाव वनानी है। उसे साध्य रूप मे स्थापित करने से वे महाव्रत परिणति रूप साधना में परिणत हो गये, जिससे क्षायिक केवलदर्शन, केवलज्ञान, क्षायिक चारित्र, यथाख्यात चारित्र और अनन्त बल ऊपना–उत्पन्न हो गये। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मो के क्षय हो जाने से उपर्युक्त गुण प्रकट होते हैं। इनकी अनन्तता रूप सस्य–धान्य आतम रूपी क्षेत्र में जिन सेवना रूपी वर्षा से अकुरित होकर वृद्धिगत हो गये है। अर्थात् आत्म प्रदेश इन सर्व गुणो की पूर्णता से सम्पन्न हो गये हैं।

प्रभु दर्शन महामेह, तरणे प्रवेश मे रे, ।त०।
परमानन्द सुभिक्ष थयो, मुझ देश मे रे ।मु०।
देवचन्द जिनचन्द तणो अनुभव करो रे ।त०।
सादि अनन्तो काल, आतम सुख अनुसरो रे ॥आ० ७॥

अर्थ —ऐसे इक्कीसवे तीर्थंकर श्री नमिनाथ भगवान देवाधि-देव परमदयालु गुणससुद्र जगत्रय जीवो के भाव भास्कर और कर्म रोग के महावैद्य के दर्शन रूप महामेह धनघोर वृष्टि होनें मे अर्थात् प्रभु की मुद्रा का दर्शन अथवा शासन, दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यक्त्वरूपी महावृष्टि के होने पर परमानद–श्रेष्ठ आनन्द रूप सुभिक्ष–सुकाल, धान्य, पुष्प, फल, तृण आदि की प्रचुरता से मुझ देश मे–मेरी आत्मा के असख्य प्रदेशो में गुण रूपी बीजो का वपन, अकुरण और वर्द्धन होनें से धान्य की वालियाँ पक्व हो जानें से सुभिक्ष हो गया है। सुकाल होनें से ससार भ्रमण रूप दुष्काल का भय दूर हो गया है। अतः हे प्रिय भव्यात्माओ! आप भी देवचन्द–सर्व देवो में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि एव इन्द्र–अहमिन्द्रो में चन्द्र–श्रेष्ठ शीतल, सौम्यनयन मुख मुद्रा तथा कान्ति

वाले श्री जिन चन्द्र वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान के अनन्त ज्ञानादि गुणो का अनुभव-आस्वाद करो। अथवा स्तुतिकार श्रीमद् स्वय को ही सम्बोधित कर उपर्युक्त उद्बोधन दे रहे है। प्रभु के अनंन गुणो का अनुभव करो, जिससे वे गुण अभिव्यक्त हो, उनका बहुमान करो, जिससे थोडे ही समय मे सादि-जिसकी आदि है, अनन्त-जिसका अन्त नही है ऐसा अविनाशी आत्म-सुख जो मुक्तावस्था-कर्मों से सर्वथा मुक्त है उस सिद्धरूप को अनुसरो-प्राप्त करो। हे भव्य बन्धुजनो! आप निर्मलानन्द पूर्ण स्वरूप-भोगी श्री जिनेश्वर देव के गुणो का बहुमान और उनकी आज्ञा का पालन करो। ये दोनो कार्य सम्पूर्ण सद्धि के दाता हैं। इससे अक्षय आत्मिक-सुख एव अविनाशी आत्म-सम्पदा प्राप्त होती है। यह स्वसम्पदा प्रकट करने का निश्चित रूप से पुष्ट उपाय है।

———

२२. श्री अरिष्टनेमि जिनेन्द्र स्तवन

(राग—पद्मप्रभ जिन जई अलगा वस्या)

नेमि जिनेश्वर निज कारज कर्यु ,
छांड्यो सर्व विभावो जी ।
आतम शक्ति सकल प्रकट करी,
आस्वाद्यो निज भावो जी ।।नेमि० १।।

अर्थ —श्री अरिष्टनेमि जिनेश्वर की स्तवना करते हैं। यादव कुल-तिलक महोपकारी करुणा-सिधु श्री नेमिनाथ जिनेश्वर ने निज कारज-आत्मा को कर्मो से मुक्त करने का स्वय का कार्य किया। अपनी आत्मा को कही भी किचिदपि कर्मो से मलिन नही बनाया और आबाल ब्रह्मचारी रहे। राज परिवार के माननीय सदस्य होने पर भी राज-कार्य मे कभी कोई भाग नही लिया। छाड्यो सर्व विभावो-अर्थात् समग्र चार निक्षेपो से अन्तरग रागादि और बाह्य भोग सामग्री आदि समस्त विभावो का आपने परित्याग कर दिया। आतम शक्ति-आत्मा मे रही हुई अनन्त सकल-सम्पूर्ण ज्ञान दर्शनादि-अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श, परम असगता, अयोगित्वरूप, स्वप्रभुत्व, विभुत्व, कारणत्व, कार्यत्व, व्यापकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, भेदत्व, अभेदत्व, कारकत्व, पारिणामिकत्व, सत्त्व, सप्रमेयत्व, द्रव्यत्व, ईश्वरत्व, सिद्धत्व, अखण्डत्व, आत्म-समाधि रूप सकल-सर्व शक्तियाँ प्रकट की और आस्वाद्यो निज भावो-निरावरण स्वरूप स्वभाव का आस्वादन किया। स्व-रूप का रस भोगा। स्व-रूप का भोक्तृत्वरूप से स्व-ज्ञानादि भाव का भोग किया। ऐसे श्री अरिष्टनेमि भगवान की स्तुति मुझे भी स्वरूप का-स्वय की अनन्त शक्तियों का भान करा कर उसे प्राप्त करने की प्रेरणा करेगी।

राजुल नारी रे सारी मति धरी,
अवलम्ब्या अरिहंतो जी ।
उत्तम सगे रे उत्तमता वधे,
सधे आनन्द अनन्तो जी ।।नेमि.२।।

अर्थ :—राजुल/राजीमती जो उग्रसेन नृपति की कन्या थी और जिसका श्री कृष्ण वासुदेव के आग्रह से, उग्रसेन राजा ने नेमिकुमार के साथ वाग्दान कर दिया था। विवाह के समय तोरण के समीप आकर भी पशुओ की चीत्कारो से वे करुणाभाव से द्रवित हो गये थे तथा तोरण से वापिस लौट गये थे। राजकुमारी राजुल के लिए अनेक वर प्रस्तुत थे, परन्तु उसने भारतीय नारी के आदर्श पर उन्हे अस्वीकार कर दिया था। प्रभु ने दीक्षा ले ली । उन्हे केवलज्ञान प्राप्त होने पर राजुल ने भी दीक्षा ले ली। कवि कह रहे हैं कि राजुल नारी ने सयम धारण करने की सारी–बहुत श्रेष्ठ बुद्धि धरी-धारण की और गृह-परिवार एव परिजनो का सग त्यागकर अवलम्ब्या अरिहंतो–तीर्थंकर अरिहत पर प्रशस्त राग धारण कर उनका ही अवलम्बन-आश्रय लिया। राजकुमारी ने विचार किया कि मेरे द्वारा वरण किये गये मेरे स्वीकृत पति ही मेरे मात्र आधार हैं। वे ही ससार मे सर्वोत्तम पुरुषवर-पुण्डरीक है। यदि शारीरिक सम्बन्धो से मुक्त हो गये तो क्या ? मेरे आत्मा के सम्बन्धो से नही छूट सकते। ऐसी भावना से वह साध्वी बन गयी। सग के अनुसार उन्नति और अवनति होती है। राजुल को भी केवलज्ञान हो गया। उत्तम के साथ उत्तमता की वृद्धि होती है। और, अनन्त आनन्द सिद्ध/प्राप्त होता ही है। अनन्त आनन्द अर्थात् आत्यन्तिक, ऐकान्तिक निर्द्वन्द्व, निरामय और जिसका कभी अन्त न हो ऐसा सुख प्राप्त किया। भव्य जीवो को भी राजुल जैसा ही अनन्त आनन्द को प्राप्त करने के लिए अरिहन्त भगवन्त का आलम्बन-आश्रय लेना चाहिये जिससे अनन्त मोक्ष सुख का आनन्द प्राप्त हो।

धर्म अधर्म आकाश अचेतन,

तेह विजाति अग्राह्यो जी।

पुद्गल ग्रहवे रे कर्म कलकता,

वाधं बाधक बाह्यो जी ।।नेमि० ३।।

अर्थ :—अब राजीमती राजकुमारी ने जो विचार किया उसका वर्णन करते हैं। सर्व लोक मे पञ्चास्तिकाय है और छट्ठा कालद्रव्य औपचारिक द्रव्य है वह अस्तिकाय नही है, अर्थात् सत् रूप द्रव्य नही है। **अनुयोगद्वार सूत्र** मे तथा **विशेषावश्यक भाष्य** में भी उपचार रूप द्रव्य से काल का उल्लेख है। पचास्तिकाय में भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अचेतन द्रव्य है, जो विजातोय है, स्वतन्त्र है, अग्राह्य है, अपरिणामी है और जो अचल होने से ग्रहण नही किये जा सकते है, अत. इनसे मुझ कोई कार्य नही है। पुद्गलास्तिकाय के साथ मेरा चिरकालीन सम्बन्ध होनें से उसे ग्रहण किया जा सकता है, क्योकि यह पारिणामिक और चल है। किन्तु, इसके ग्रहण के साथ कर्मों का कलकत्व है अर्थात् शुभाशुभरूप कर्मों का ग्रहण होने से आत्मा कलकित बनती है और पर-वस्तु के ग्रहण से चोरी का कलक दोष लगता है तथा नवीन शुभाशुभ कर्मो के बन्ध होते हैं, इसके फल स्वरूप बाधक भाव परकर्तृत्व, स्वगुण रोधकता और चेतनादि गुणों की विपर्यासिता वाधे–बढती हे, अर्थात् ज्ञानादि गुणो के विपरीत भाव अज्ञानादि बढ़ जाते है। पुद्गलादि को ग्रहण करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया जिससे आत्मा का अहित ही हुआ है और जीव शुभाशुभ कर्मो को भोगने के लिए चतुर्गति में भ्रमण करता ही रहा है। अतएव पुद्गल के सग मे बाह्य भीड मात्र शुभाशुभ पुद्गलो का ग्रहण न करना ही श्रेयस्कर है। उत्तम बुद्धिमान जन इन्हे ग्रहण नही करते। ऐसा राजीमती ने विचार कर निर्णय किया कि अब मुझे इन्हे ग्रहण नही करना चाहिये, क्योकि इसके ग्राहक अनन्त जीव निगोद में ही पड़े रहते हैं।

रागी सगे रे राग दशा वधे,

थाये तिण ससारो जी ।

नीरागी थी रे रागनु जोडवु ।

लहिये भव नो पारो जी ।।नेमि०४।।

अर्थ :—आत्मा पाँचवा अस्तिकाय द्रव्य हैं। आत्मा अनेक है, अनन्त हैं, स्वजातीय हैं, एक धर्मी है, इसी कारण आत्मा एक दूसरे को ग्रहण कर, अपना मानकर परस्पर राग सम्बन्ध करते हैं। किन्तु, इसमें भी एक दोष है। ससारी जीव मात्र राग-द्वेष सहित है और उस जीव के सग राग करने से स्वय की राग दशा बढती है तथा राग दशा अभिनव कर्मवन्ध की हेतु है। जिनागमो को पढने पर ज्ञात होता है कि आत्म-धर्म तो ज्ञानादि हैं। रागादि तो पुद्गल के धर्म-स्वभाव हैं, आत्मा के नही। रागादि दोष होने से वे त्यागने योग्य हैं, क्योंकि इनसे ससार-भ्रमण बढता है, अतएव इनका सग करना उचित नही है। इनके स्थान पर नीरागी–वीतराग-देव परम–श्रेष्ठ चारित्रवान् सर्व परभावत्यागी से राग करना चाहिये। भगवान श्री नेमिनाथ से राग सम्वन्ध वाँधने से भवनो पार–संसार सागर से पार हो जाते हैं।

यद्यपि राग का भी क्षय तो करना ही है तथापि राग का आधार परिर्वातित हो जाय तो राग भी परिवर्तित हो जाता है। आत्मा को भी प्रशस्त गुण राग के द्वारा स्वरूप का भान होता है और वह एक दिन राग का क्षय करने में समर्थ होकर क्षय कर देता है, अतः नीरागी से राग करने से वह ससार से निस्तार कर देता है। वीतराग का राग स्वय को वीतराग बना देता है।

अप्रशस्तता रे टाली प्रशस्तता,

करतां आस्रव नाशे जी ।

संवर वाधे रे साधे निर्जरा,

आतम भाव प्रकाशे जी ।।नेमि० ५।।

अर्थ :—अतः अप्रशस्तता—कामराग, रूपराग, आदि अप्रशस्त-राग होते हैं, टाली—उनका परित्याग करके वीतराग अर्हन्त से प्रशस्त राग करना चाहिये, क्योंकि गुणों और गुणवानो का राग प्रशस्त राग है और वह साधनाकाल मे उपयोगी है। इस प्रशस्त राग से अशुभ कर्म नष्ट होते हैं, अशुभ कर्मों का आस्रव रुक जाता है, सवर–सयम वृद्धि होती है, और पूर्वकृत् वद्ध कर्मो की निर्जरा होती है। पुनः प्रशस्त रागी आत्मा गुणवानो का अवलम्वन लेकर जीवन यापन करता है, जिससे स्वगुणो की एकत्वता वढती है। स्वगुण एकत्व के परिणामो मे सवर वढता है और पूर्वकृत् कर्मो की निर्जरा–परिशाटन (आत्मप्रदेशो से हटकर नष्ट होना) भी हो जाता है। सवर एव निर्जरा होने से आत्मा का स्वभाव धर्म एव अरूपित्व शक्ति प्रकाशित हो जाती है, अर्थात् आत्मा कर्मावरण से मुक्त हो जाती है।

नेमि प्रभु ध्याने रे एकत्वता,
निज तत्त्वे एक तानो जी।
शुक्ल ध्याने रे साधि सुसिति,
लहिये मुक्ति निदानो जी ।।नेमि० ६।।

अर्थ :—राजकुमारी राजीमती ने यही विचार कर प्रभु का अवलम्वन लिया, क्योकि श्री नेमि प्रभु के ध्यान से एकत्वता/तन्मयता करने पर साधक निज–स्वय के तत्त्वे–आत्मस्वरूप मे एकतान–एकरूप वन जाता है और जव स्वरूप मे एकत्व की प्राप्ति हो जाती है तो शुक्ल ध्यान होता है। शुक्ल ध्यान से स्वय की साध्यता–सिद्धत्व रूप की सिद्धि प्राप्त होती है। यही मुक्ति का निदान–मूल कारण है, जो उपर्युक्त रीति से मिलता है।

आगम अरूपी रे अलख अगोचरु,
परमातम परमीशो जी।
देवचन्द जिनवर नी सेवना,
करतां बाधे जगीशो जी ।।नेमि० ७।।

अर्थ :—अतएव समस्त आत्मार्थी भव्यजन आध्यात्मिक सुख हेतु ऐसे तत्त्व की उपासना करे। जो अगम है अर्थात् जिन्हे अज्ञानी जीव जान नही सकते। जो अरूपी है अर्थात् जिनके कोई वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सस्थान नही है। जो अलख है अर्थात् पौद्गलिक भौतिक सुखों के अभिलाषी, एकान्तवादी, नैयायिक, वेदान्ती, सांख्य, मीमासक, वैशेषिक, बौद्ध, नास्तिक तथा एकान्त द्रव्य दया के पक्षधर विकृत जैन लिंगी आदि द्वारा अलख/पहचाने नही जा सकते। जो अगोचर हैं अर्थात् इन्द्रिय गोचर नही, चक्षु से नही देखे जा सकते। वे अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। वे अतीन्द्रिय ज्ञान—अवधिज्ञान, मनपर्यवज्ञान, केवलज्ञान द्वारा जाने एव देखे जा सकते हैं। अथवा सापेक्ष स्याद्वाद ज्ञान से श्रद्धेय हैं और ध्यान-धारा द्वारा अनुभूत है, गोचर हैं। वे परमोत्कृष्ट सर्व विभाव-रहित एव अनन्त गुण प्राग्भाव रूप आत्मा हैं। परमीश—उत्कृट अविनाशी सहज अनन्त गुण पर्याय धर्म के ईश—स्वामी हैं। वे भगवान् नरदेव—चक्रवर्ती, भाव देव—भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक चतुर्निकाय के देवता तथा धर्मदेव—जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रतिभा प्रतिपन्न, परिहारविशुद्धि कल्प वाले, सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान-वर्ती, उपशान्त मोही, क्षीण मोही, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, पूर्वधर, श्रुतधर, सामान्य मुनि इन सर्व में चन्द्रवत्—नायक/शासनपति एव मार्गदर्शक हैं। ऐसे श्री जिनवर—तीर्थंकर भगवान की सेवना—आज्ञा शिरोधार्य करने एव पालन करने से साधक-सम्पदा तथा सिद्धात्म रूप सम्पदा वाधे—बढती है। इस कारण श्री तीर्थंकर भगवान की सेवना परम प्रधान है। द्रव्य से वन्दन नमन-और भाव से गुणो के प्रति बहुमान एव आत्म-प्रमाणता रूप सेवा करते हुये अनन्त जीव सिद्ध हो गये और भविष्य मे अनन्त सिद्ध होगे, यही सिद्धता का सफल उपाय है।

---

२३. श्री पार्श्व जिनेन्द्र स्तवन

(राग-रामगिरि, कडखा नी देशी)

सहज गुण आगरो स्वामी सुख सागरो,
ज्ञान वयराग रो प्रभु सवायो ।
शुद्धता एकता तीक्ष्णता भाव थो,
मोह रिपु जीति जय पडह वायो ।।स० १।।

अर्थ :—अब पुरुषादानीय पार्श्वनाथ परमेश्वर की स्तुति करते हैं। इसमे पार्श्वनाथ प्रभु कैसे हैं ? इसका वर्णन है। सहज-स्वाभाविक/अकृत्रिम आत्मा के मूल-धर्म ज्ञानानन्द के आगर-आकर खान/उत्पत्ति स्थान हैं। अर्थात् अनन्त आत्मगुणो के भण्डार हैं। स्वामी-स्व-सम्पत्ति के अधिपति हैं। सुख सागर-सुख के समुद्र हैं अर्थात् अतीन्द्रिय, स्वाधीन, निरामय, निष्प्रयास एव अविनाशी सुख के सागर हैं। नि.संग सुख के पात्र हैं । ज्ञान-वैरागरो-ज्ञान रूपी वज्र-हीरे की खान है। सर्वदा श्री पार्श्वनाथ सवायो-सबसे बढकर है। शुद्धता-ज्ञान की यथार्थता, आत्मा की निर्मलता, एकता, चारित्र की स्वरूप तन्मयता एव तीक्ष्णता-वीर्य शक्ति की तीव्रता से सम्पन्न हैं . वीर्य की तीक्ष्णता असि-धारा है, चारित्र की एकता रूप सेनानायक द्वारा मिलने वाली प्रेरणा है तथा ज्ञानरूपी प्रकाश के दर्शक, —मशालची या प्रकाशधारक व्यक्ति है। उक्त तीनों के मिलने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। जैसे बाह्य शत्रुओ से घिर जाने पर उपरि निर्देशित वस्तुओं द्वारा मुक्त होवे हैं तथैव आत्मा भी कर्मशत्रु से मुक्त होता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त गुणो में सम्यग्दर्शन का उल्लेख क्यो नही किया ? उत्तर-ज्ञान के साथ उसका ग्रहण हो जाता है, क्योकि

सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान अज्ञान रूप ही रहता है। वस्तुत ज्ञान शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान के लिए ही होता है, अत ज्ञान में दर्शन की नियमा है। वीर्य की तीक्ष्णता से तप का ग्रहण होता है। **आवश्यक निर्युक्ति में** कहा है—

"नाणं पयासगं सोहगो उ तवो सजमो उ गुत्तिकरो।
तिण्हम्मि समाओगो मोक्खो जिणसासणे भणियो ।।"

अत. ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और सयम गुप्तिकर-रक्षक है। तीनो के समायोग से जिन शासन में जीवो का मोक्ष कहा है अर्थात् शुद्धता एकता और तीक्ष्णता से मोहरिपु को जीतकर ज्ञान दर्शन चारित्र तथा तप के बल से मोहादि कर्म शत्रुओ को नष्ट कर श्री पार्श्वनाथ भगवान ने जय का पटह बजायो-जीत का डका बजाया, जय की उद्-घोषणा की।

वस्तु निज भाव अविभास नि कलकता,
परिणति वृत्तिता करि अभेदे।
भाव तादात्म्यता शक्ति उल्लास थी,
सन्तति योग ने तू उच्छेदे ।।स० २।।

अर्थ —अब शुद्धतादि उपर्युक्त गुणो का स्वरूप बताते हैं। वस्तु अर्थात् जीवादि षड् द्रव्य व उन जीवादि के निज भाव-गुण पर्याय रूप स्वभाव के उत्पाद-व्यय एव परिणति का अवभास-जानना ही ज्ञान है। परिणति-जीव के शुद्ध मूल परिणाम के स्वरूप मे एकत्व हो तो परभाव का प्रवेश नही होता, ऐसी परिणति आपकी है। विभावरगी ससारी जीव की तो वह मूल परिणति चारित्र मोहनीय कर्म से आवृत-आच्छादित रहती है। इससे वृत्तिता उसका वर्तन-आचारण भी राग द्वेष मुक्त एव पुद्गल भोगी के रूप मे होता है। उस वृत्तिता को आपने स्वरूप रमणी बना लिया है। इससे आपकी परिणति एव वृत्तिता-प्रवृत्ति दोनो ही एक रूप हो गयी है, अर्थात् परिणति के अनुसार प्रवृत्ति

भी वैसी ही हो जाती है। आप मे दोनो एक-रूप हो गयी है। आपने दानो को अभेद रूप कर दिया है, इसे ही एकता कहते हैं। पुनः भाव-तादात्म्यता–शक्ति अर्थात् ससारी जीव के विभाव तज्जन्य हैं, वे तदुत्पत्ति सम्बन्ध से हैं। ज्ञानावरणादि पद्गल कर्म, सयोग सम्बन्ध से है। इस तादात्म्य मम्बन्ध की आत्मिक-शक्ति क्षायिक वीर्य के उल्लास से सन्तनि योग–परम्परा से चले आ रहे कर्मो के सयोग-सम्बन्ध को आपने उच्छेदे-काट डाला, पृथक् कर दिया। अर्थात् ज्ञानावरणीयादि कर्मो की प्रकृति, स्थिति, रस प्रदेशो का बन्ध जिसमे स्थिति-परिमाण रहता है। कर्मों का आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बन्ध असख्य काल का है, उत्कृष्ट सत्तर कोडा कोडी सागरोपम का है। परन्तु एक सम्बध का विपाक भोगते हुए प्रति-समय अनेक बध बधते रहते हैं। अर्थात् कर्म पुद्गल के एक-समय के वन्ध का सयोग तो आदि सान्त है, परन्तु अभिनव बध तो परम्परा से अनादि है। जैसे पिता से पुत्र, पुन पुत्र से पुत्र, उमसे भी पुत्र की परम्परा है। उनके प्रत्येक के आयु प्रमाण से वे रहते हैं, परन्तु सन्तान परम्परा तो बहुत काल तक चलती ही रहती है, वैसे ही कर्म की परम्परा है। वे ही वे कर्म अपनी स्थिति परिमाण से रहते है, परन्तु पूर्व कर्म को भोगते हुए नवीन का बध होता है। उसे भोगते हुए पुन नवीन कर्म का बध होता रहता है। उस सन्तति-योग का आप आत्मवीर्य की तोक्ष्णता के बल से सर्वथा उच्छेद कर देते है। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, एव वीर्य के बल से अनादि कर्म सम्बन्ध का आपने विनाश कर दिया है। हे प्रभो! यह शक्ति आपमें ही है, अन्य मे नही। यह कार्य करके आप निरावरण हो गये हैं।

दोष गुण वस्तु नी लखिय यथार्थता,
लही उदासीनता अपर भावे।
ध्वस तज्जन्यता भाव कर्त्ता पणुं,
परम प्रभु तू रम्यो निज स्वभावे ॥स० ३॥

अर्थ :—अत्र पुनः इन्ही शुद्धता, एकता और तीक्ष्णता इन तीनो का अर्थान्तर कहते हैं। वस्तु, धन, वनिता, वस्त्र, शीत, आतप विषादि के दोष—अशुभ वर्णादि, गुण शुभवर्णादि को लखिये-देखकर, यथार्थता को जानो, अर्थात अशुभ दोष सहित वस्तु को अशुभ दोषवाली और शुभ गुण वाली वस्त को शुभ जानो। जड वस्तु को जड रूप और चेतन वस्तु को चेतनरूप जानो। उन्हे यथार्थ रूप से स्याद्वाद पूर्वक जानने को उदासीनता कहते है। वस्तुओ को इष्टता अनिष्टता रूप न मानकर उन पर उदासीनता रखना ही शुद्धता कहलाती है। ऐसी उदासीनता को लही-पाकर अर्थात् स्वय के असख्य प्रदेशी आत्मा मे व्यापक-व्याप्य भाव से रहे हुए गुण-पर्यायो से अपर भाव-अन्य भाव जो अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलादि अजीव पदार्थ हैं, उन सबमे उदासीन होकर आप अग्राहक, अभोगी एव असगी हो गये, यह चारित्र परिणति की एकता है। विभाव कर्तृत्व जो तज्जन्यता तदुत्पत्ति भाव से थे उसे ध्वसी-नष्ट करके उसका उच्छेदन कर दिया। यह तीक्ष्णता आपकी वीर्य तप-शक्ति की है। इन कार्यो के करने से हे प्रभो! आप निज स्वभावे-अपने स्वभाव में रम्यो-रमण करते हैं।

शुभ अशुभ भाव अवभास तहकीकता,
शुभ अशुभ भाव तिहां प्रभु न कीधू ।
शुद्ध परिणामता वीर्य कर्त्ता थई,
परम अक्रियता अमृत पीधू ।।स०४।।

अर्थ :—इसी त्रिभगी अर्थात शुद्धता, एकता, तीक्ष्णता का पुन अर्थान्तर-दूसरा अर्थ कहते हैं। शुभ-अशुभ-प्रशस्त और अप्रशस्त भाव का अवभास-ज्ञान-पहचान और यथार्थता को निश्चय रूप से आपने शुद्धता-केवलज्ञान द्वारा जान लिया। किन्तु, उन पर आपने शुभ और अशुभ भाव एव रागी द्वेषी रूप भाव नही कीधू-किया, यही आपके चारित्र धर्म की अरागी-अद्वेषी परिणति की एकता है। शुद्ध-निरावरण परिणामता-पारिणामिक भाव से वीर्य गुण के कर्त्ता (अर्थात् पहले जो वीर्य राग द्वेष के अनुयायी रूप से विकारी था वह राग द्वेष रहित

हो गया, जब वीर्य शुद्ध होता है तब स्ववीर्यबल से पारिणामिक कर्त्ता) होकर आपने परम-उत्कृष्ट अक्रियता रूप अमृत का पीधू-पान किया, अर्थात् विभाव कर्तृत्व और साधक कर्तृत्व दोनो के अभाव में अकम्प अचल वीर्यसे आप अक्रिय हो गये।

शुद्धता प्रभु तणी आतम भावे रमे,
परम परमात्मता तास थाये।
मिश्र भावे अछे त्रिगुणनी भिन्नता,
त्रिगुण एकत्व तुझ चरण आये ॥म० ५॥

अर्थ :—ऐसी प्रभु की शुद्धता-निरावरणता तथा अनन्तगुण भोगीत्वरूप प्रभुता मे जो साधक भावे—आत्म भाव में रमे—रमण करता है तो प्रभु की प्रभुता के अभिलाषी उस जीव को शुद्ध परम उत्कृष्ट परमात्म भाव थाये—प्राप्त होता है। मिश्र भावे—क्षायोपशमिक भाव में त्रिगुण—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र की भिन्नता है, अर्थात् तीनो की पृथकता है। यद्यपि वह साधक है, परन्तु सविकल्प है। अत त्रिगुण-रत्नत्रय का एकत्व तुझ चरण आये—आपके चरणों मे हो जाता है। अथवा आपका चरण यथाख्यात चारित्र मे होता है अर्थात् क्षीणमोह गुणस्थान में 'एकत्व वितर्क अप्रविचार' नामक शुक्लध्यान होने पर दर्शन तत्त्व निर्धार रूप तथा स्थिरता रूप चारित्र की धारा से ज्ञानधारा अभेद हो जाती है।

साराश यह है कि मिथ्यात्व अवस्था मे तो ज्ञान विपर्यास रूप था। सम्यग्दर्शन होने पर जब यथार्थ ज्ञान हुआ तब आत्मा ज्ञान स्वरूप में रमण करने वाला बना और स्थिरता भाव को प्राप्त हुआ है। इस प्रकार ध्यानारूढ होकर विकल्पो का परित्याग करता हुआ, अपनी आत्मा की तत्त्व-परिणति में तन्मयता प्राप्त करता है। तत्पश्चात् ज्ञान मे ही रमण, ज्ञान में ही निर्द्धार अर्थात् पर्याय भेद से वे मूलगुण एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं। यह अभेद रत्नत्रयी का स्वरूप ध्यानी गम्य है। मूल नय से आत्मा ज्ञान और दर्शन इन दो गुणो सहित है, ऐसा

आम्नाय-परम्परागत ज्ञान हैं। शेष प्रवृत्ति निर्द्धार-स्थिरता से सर्व चेतना गणो की प्रवृत्ति है अतः ज्ञान मे ही स्थिरत्व परिणति को अभेदता कहना उचित है। पूर्व मे क्षायोपशमिक चलवीर्यता से चेतना पर्याय की प्रवृत्ति असख्य सामयिकी थी। वह भासन प्रवृत्ति के अन्तर क्रमश कारण कार्य में स्थिरता परिणति के रूप थी। वही क्षीण मोह के समय रोधक-मोह का क्षय हो जाने पर समकाल असख्य सामयिकी हो जाती है। इस रीति से अभेद रत्नत्रयी हो जाती है। भाष्य में इपका वर्णन है।

उपशम रस भरी सर्वजन शकरी,
मूर्ति जिनराज नी आज भेटी।
कारणे कार्य निष्पत्ति श्रद्धान छे,
तेणे भव भ्रमण नी भीड मेटी ॥स०६॥

अर्थ —उपशम रस-कषाय के अभाव से शान्त रस से भरी-परिपूर्ण और सर्वजन शकरी-समग्र लोक मे स्थित आत्माओं का कल्याण करने वाली जिनराज श्री पार्श्वप्रभु की मूर्ति स्थापना निक्षेप से शान्त अचल निस्पृह मुद्रा वाली प्रतिमा को आज भेटी-आज दर्शन किये एव नमस्कार रूप से सेवा की। कारणे कार्य निष्पत्ति अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसी मेरी श्रद्धान-श्रद्धा/विश्वास है, प्रतीति है कि मुझे मोक्ष के निमित्तकारण श्री जिन मुद्रा का योग मिला है और उपादान कारण मूल मेरे आत्मप्रयोग आदि अध्यवसाय जिनगुण भासन से हर्ष स्वरूप प्रशस्त राग मे परिणत हो गये हैं। ऐसा कारण मुझे प्राप्त हो गया है, इससे मैं जानता हूँ कि यह कारणता मेरे सर्व कार्य सिद्धता रूप की हेतु है। कारण मिला है तो कार्य की उत्पत्ति भी अवश्य होगी, ऐसा आगामी कालीन भव्यता का उपयोग हुआ। इससे मैंने जाना कि परम पुरुषोत्तम वीतराग की इष्टता तो मुझमें उत्पन्न हुयी, अव किसी भी दिन यह आत्मा भी गुणशाली बनेगी। मैंने अनुमान प्रमाण से यह जाना कि कारण मिला है तो, कार्य भी अवश्य होगा और भव भ्रमण भी मिटेगा। यह हर्षोद्गार है कि भव भ्रमण की भीड़ को आज मैंने मिटा दिया। कारण मे कार्योपचार का वचन है। यह तथ्य

है कि प्रभु की प्रभुता इष्ट प्रतीत होती है तो आत्मा अवश्य ही सिद्धि का वरण करेगा।

नयर खभायते पार्श्व प्रभु दर्शने,
विकसते हर्ष उत्साह वाध्यो ।
हेतु एकत्वता रमण परिणाम थी,
सिद्धि साधक पणो आज साध्यो ।।स० ७।।

अर्थ :—श्री खम्भायत–खंभात (स्तम्भनक) तीर्थ में सुखसागर पार्श्वनाथ प्रभु के दर्शन एव वन्दन करते हुए प्रभु की प्रभुता पर अपूर्व राग उत्पन्न हुआ, जिससे मेरा मानस हर्षोत्फुल्ल हो गया। श्री अरिहन्त देव के साथ एकत्वता से रमण–अत्यन्त राग मे रमण करने के परिणाम थी–विचार से अथवा उसके परिणाम स्वरूप प्रभु के साथ आन्तरिक प्रशस्त राग बढ जाने से आज मैंने सिद्धि–मोक्ष के साधकत्व का कि 'मेरी आत्मा मे साधकत्व है' ऐसा अनुमान किया अर्थात् प्रभु के प्रति राग से मेरा आशसारहित अनुष्ठान परिणत हुआ, जिससे मैंने जाना कि मेरा जीव मुक्त होने योग्य है, मुक्त होने की योग्यता वाला है। आज मेरा सिद्धि साधकत्व निश्चित हो गया।

आज कृतपुण्य धन दीह माहरो थयो,
आज नर जन्म मै सफल भाव्यो ।
देवचन्द स्वामि तेवीसमो वन्दियो,
भक्तिभर चित्त तुझ गुण रमाव्यो ।।स०८।।

अर्थ :—आज मैंने दोष–विष-गरलादि दोष रहित प्रभु के दर्शन-विधि का अनुष्ठान करते हुए प्रभु भक्ति में तल्लीनता का अनुभव किया था। आज मेरा दीह-दिन धन्य हो गया। आज मैंने जाना कि मेरा नरजन्म मनुष्यगति मे जन्म लेना सफल हो गया। आज मैंने वीतराग नि स्पृही परम गुणी सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा तेवीसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान

का दर्शन किया, वन्दना की, गुणों का स्तवन किया और उनकी भक्ति भर–भक्ति से ओतप्रोत चित्त को उन्ही के गणों मे रमाव्यो–रमाया, लगाया अर्थात् मन को पुद्‌गल रमणता से दूर हटाकर उन्ही अरिहन्त के गुणो में रमण कराया, अत मेरा आज का दिन सफल हुआ। सर्व देवो में चन्द्रवत् सौम्य भगवान का स्तवन किया। स्तुतिकार देवचन्द्र कहते हैं कि प्रभु के दर्शन, स्तवन और गुणगान से आज मेरा दिन सफल हो गया, आज मै कृतार्थ हो गया।

———

२४. श्री महावीर जिनेन्द्र स्तवन

(राग–कडखानी, भाव धरी धन्य)

तार हो तार प्रभु मुज्झ सेवक भणी,
जगत मां एटलुं सुजस लीजे।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो,
दयानिधि ! दीन पर दया कीजे ॥१॥

अर्थ —किसी पुनीत प्रसग वश जिनागम का अभ्यास एव सद्‌गुरु का सयोग मिलने पर आत्मा को आत्म-स्वरूप का भान हुआ कि, अहो ! आत्मा तो अनन्त ज्ञानादि गुणो का पुञ्ज है, किन्तु ज्ञानावरणादि कर्मो के आवरण से आवृत्त हो रहा है। अनादि काल से परभावानुषगता के दोष से दु:खी एव उद्विग्न आत्मा स्वयं की साधकता शक्ति नही देखकर शासननायक परम निर्यामक भगवान वर्द्धमान के चरणो का शरण पाकर प्रार्थना करता है कि. हे प्रभो ! महावीर जिनेश्वर ! तत्त्व साधना मे सक्षम एव आपकी आज्ञा पालने मे असमर्थ मुझ जैसे को मात्र नाम से अपना सेवक जानकर तारिये !, तारिये !, भवसागर से पार करिये। गुणरोधक रूप कर्मशत्रुओ–चार घाती कर्मो से मुक्त करिये। आप सदृश समर्थ प्रभु के अतिरिक्त अन्य किससे अपना दुःख कहूँ ? आप ही मेरा निस्तार करिये ? और जगत मे इतनासा सुयश लीजिये। यद्यपि प्रभु तो यश के कामी इच्छुक नही है, तथापि भक्तिवश यह औपचारिक वचन है। मुझ जैसा दास यद्यपि राग-द्वेषी है, असयमी है, दोषपूर्ण अनुष्ठान का आचरण करते वाला है और आशसा दोष, एकता, अनादर आदि दोष रूप अवगुणो से भरा हुआ है तथापि आपका दास कहलाता है, अत हे दयानिधि ! करुणा के निधान ! मुझ जैसे दीन, रङ्क, अशरण, दु खी,

तत्त्वशून्य, ज्ञानादि सम्पदाहीन, भावदरिद्र, मार्ग-विराधक, असयम सचारी, महाविकारी, आपकी आज्ञा से विमुख और अनादिकाल से उद्धत पर दया-अनुकम्पा करिये। आपकी कृपा ही मेरा त्राण करेगी आपकी शरण ही मेरी रक्षा करेगी। यद्यपि अर्हन् परमात्मा तो करुणा के भण्डार होने से उनकी अकारण कृपा तो सब पर होती ही रहती है, करने का प्रश्न ही नही है, तथापि अर्थीजन यह नही विचारता। अर्थी का यह वचन जो दयालु से ही कहा जाता है कि, हे देव! आप दया के भण्डार हैं,आप के अवलम्बन से ही मै तिर सकू गा। यह सत्य है कि जलधारा मे पार होनें के लिए जलयान का सहारा लेना ही पड़ता है। ससार रूपी अपार जलनिधि से पार होने के लिए भगवान रूपी महानिर्यामिक से ही प्रार्थना करने पर वे अपने जलयान मे चढाकर पार पहूँचा देते हैं।

राग द्वेषे भर्यो मोह वैरी नड्यो,
लोकनी रीति मा घणु य रातो।
क्रोधवश धमधम्यो शुद्ध गुण नवि रम्यो,
भम्यो भव मांहि हू विषय मातो ।।2।।

अर्थ :—यह दास कैसा है? 'राग-द्वेषे भर्यो' इष्ट पर वस्तु पर अनुराग और अनिष्ट पर द्वेष होने से इनसे पूर्ण हूँ। जगत मे भ्रमण करते हुए इन दोनो से ही मेरा गाढ परिचय रहा है और इन्हे ही मै अपना हितैषी मानता रहा हूँ। 'मोह वैरी नड्यो, मोह रूप शत्रु सदा मेरे साथ रहता है, इससे अज्ञान–विपर्यास–विपरीत बुद्धि मेरा सग नही छोड़ती है। और, मै "लोक नी रीति" विषय कषाय की वृद्धि करने वाले ससार के मोहक दृश्य एव भोग सामग्रियां आदि को भोगने मे 'घणु य रातो' बहुत अधिक रंगा हुआ हूँ। इसी कारण ये ही मुझे सुहाते हैं, इन्हे ही मै पाने और भोगने मैं लगा हूँ। इन्हीं मे मग्न हो रहा हूँ, मदोन्मत्त बना हुआ हूँ। क्रोधवश धमधम्यो' अनिष्ट सायोग होनें पर मै क्रोध के वश-धमधमाता हूँ। जैसे धमनी से अग्नि तीव्र

ताप देने लगती है वैसे ही क्रोधाग्नि के प्रज्वलित होने पर मेरा मन उद्वेलित, शरीर, नेत्र और मुख आदि तपे हुए लोहे के समान रक्तवर्ण हो जाते हैं, और शरीर भी कांपने लगता है। इससे मेरी आत्मा आठ कर्मो के बन्धन से बध जाती है। मैंने आज तक शुद्ध गुण–सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मगुणों मे नवि रम्यो–रमण नही किया, इन गुणो मे तन्मय नही बना। उनको जीवन मे रूपायित नही किया और मनो वाक् काय के आचरण में स्थान नही दिया। इसी कारण 'भम्यो भवमाहि' चतुर्गति रूप संसार में द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावरूप जगत् के चक्र मे विषय भोग्य सामग्रियो के भोग मे मदोन्मत्त बना हुआ भम्यो–ससार चक्र में ही भ्रमण करता रहा हूँ, अत: हे प्रभु ! मुझे तारो ! हे नाथ ! हे दीनबन्धु ! निष्कारण करुणालु ! मुझे तारो !, भव-समुद्र से मेरा उद्धार करो।

आदर्यो आचरण लोक उपचार थी,
शास्त्र अभ्यास पण काइ कीधो।
शुद्ध श्रद्धान वलि आत्म अवलम्ब बिन,
तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥3॥

अर्थ —मैंने आचरण–आवश्यक कृत्यादि को आदर्यो–स्वीकार अवश्य किया, किन्तु वह सब कार्य लोकोपचार–विष,गरल तथा अन्योन्य अनुष्ठान मे किया है, धर्म-भावना के बिना मात्र औपचारिक रूप से किया है। उच्च गोत्र एव नाम कर्म के विपाक रूप यश , कीर्ति और ज्ञाना-वरणीयादि के क्षयोपशम योग से मैंने कुछ शास्त्राभ्यास भी किया, मैंने शास्त्र पढे, शास्त्रो के यथार्थ अर्थ भी जान लिये तथा अध्यात्म भावना से स्पर्शज्ञानुभव के बिना श्रुताभ्यास भी किया। परन्तु, शुद्ध यथार्थ स्याद्-वादोपेत भाव धर्म रहित होकर किया। भाव धर्म की रुचि से जो दान, दया, तप आदि प्रवृत्ति की जाती है वे सब कारण मात्र है, मूलधर्म नही। मूल धर्म तो वस्तु की सत्ता है। आत्मा स्वरूप से पारिणामिकता में रही हुई है। उसमे प्रकटित शुद्ध श्रद्धान–सम्यक्त्व, शुद्ध प्रतीति, आत्म स्वरूप प्रकट करने की रुचि और आत्मा के स्वगुण ज्ञानादि का

आलम्बन लिए विना ही मैंने आचरण और श्रुताभ्यास किया है, किन्तु उस आचरण और श्रुताभ्यास आदि कार्यों से वैसा कार्य सिद्ध नही हुआ कि जिससे मेरे आत्म गुणो की अभिव्यक्ति होती, सम्यग्दर्शनादि गुण प्रकट होते, अत हे भगवन् ! मझे तो आपकी कृपा का ही आधार है ।

स्वामि दर्शन समो निमित्त लही निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थाशे ।
दोष को वस्तु नो अहवा उद्यम तणो,
स्वामि सेवा सही निकट लाशे ।। ४।।

अर्थ :—स्वामी वीतराग प्रभु परकार्य के अकर्त्ता, परभावादि के अभोक्ता, इच्छा, लीला और चपलता रहित हैं, क्योंकि इच्छा–न्यूनता वाले की होती है, वीतराग तो सर्वथा पूण परमेश्वर है, इच्छा-रहित है । लीला भी सुख के लालच/लोभ से होती है । लोभ कमा–न्यूनता वाले को होती है । वह लीला तो मेरे स्वामी के है नही । मेरे स्वामी तो इन सर्व दोषो से मुक्त हैं । चपलतादि अन्य दोप भी अपूणता वाले को होते है । प्रभु तो पूर्ण आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर चुके है, उसी मे स्थिर हैं । ऐसे स्वामी के दर्शन समो–समान निर्मल निमित्त पाकर भी जो इस आत्मा का उपादान–मूलपरिणति शुचि–पवित्र नही होती है तो जान लेना चाहिये कि कोई वस्तुनो–आत्मा का ही दोष है, इसी मे कोई अवगुण या अयोग्यता है । उस जीव की किस प्रकार की सत्ता है ? अथवा उद्यम में किस प्रकार की खामी -कमी है । अतएव प्रबल उद्यम–प्रयत्न से आत्मा का स्मरण करना चाहिये । यह जीव स्वय भावो की न्यूनता के कारण आत्मा का स्मरण नही कर पाता है । अत अब मुझे क्या करना चाहिये ? अन्य तो कोई उपाय है नही । केवल वीतराग देवाधिदेव की सेवा ही मेरे उपादान की शुद्धि के कार्य सिद्धता को निकट–समीप लाशे–ला सकती है, अर्थात् प्रभु-सेवा से ही आत्मा अपनी दुष्टता एव परभाव भोग्यता को छोड़ सकती है ।

स्वामी गुण ओलखी, स्वामि ने जे भजे,
दर्शन शुद्धता तेह पामे ।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लास थी,
कर्म झीपी वसे मुक्ति धामे ।।५।।

अर्थ .—स्वामी अरिहत देव के गुणो को ओलखी-जानकर जो प्राणी स्वामी-अरिहत वीतराग देव को भजे-सेवा करता है वही दर्शन-शुद्धता-सम्यक्त्व की निर्मलता को प्राप्त करता है। तदनन्तर क्रमश ज्ञान-शुद्ध यथार्थ ज्ञान, चारित्र-स्वरूपरमण तत्त्वों में एकाग्रता एव और वीर्य-आत्म सामर्थ्य, इनके उल्लास से ज्ञानावरणीयादि कर्मो को झीपी-जीतकर मुक्ति धामे-सम्पूर्ण सिद्धता रूप स्थान में वसे-निवास करता है।

जगद्वत्सल महावीर जिनवर सुणी,
चित्त प्रभु चरण ने शरण वास्यो ।
तारजो बापजी ! विरुद निज राखवा,
दास नी सेवना रखे जोशो ।।६।।

अर्थ —मैने सुना था कि जगत्वत्सल श्री महावीर जिनेश्वर जगत्त्रय के जीवों पर वात्सल्य रखने वाले हैं, अतः मैंने भी अपने चित्त को प्रभु के चरणो की शरण मे वास्यो-निवास करा दिया अर्थात् प्रभु के चरणो में ही रहने का निर्देश किया, क्योकि अभी तक मेरी आत्मा तो इतनी सशक्त नही हो पाई कि स्वय सबको परिवर्तित कर दे और साधन क्रिया मे तत्पर हो जाये। आपके प्रभाव से आपके चरणो में रहता हुआ मेरा मन स्वतः परभावो में नही जायेगा। फलतः सर्व इन्द्रिया भी विभावोन्मुखी न रहकर वे इस मन की अनुयायिनी बन जायेगी। हे प्रभु ! परम पिता ! मुझे तारिये। मै तो अयोग्य या जैसा भी हूँ, अपकी शरण में हूँ। आप अपने विरुद-तारक (तार-

याण) की रक्षा के लिए ही मुझे भवसागर से पार लगा दीजिये। आप दास की सेवा की ओर दृष्टिपात न करिये, क्योकि मेरी सेवा तो वैसी नही है। आपकी आज्ञानुसार भक्ति करने वाला तर जाता है, पार उतर जाता है। मेरे द्वारा आज्ञानुसार प्रवृत्ति होना तो कठिन है। मै तो मात्र आपकी कृपा मे ही तर सकता हूँ। आप जगत्वत्सल है, मै अबोध बालक हूँ। माता-पिता अबोध बालक की सुरक्षा का सर्वथा प्रतिक्षण ध्यान रखते ही हैं। बालक उनसे प्रार्थना नही करता। वे ही अपना कर्त्तव्य समझकर स्वय वैसा ही करते हैं। अत हे प्रभु! मेरी रक्षा करो, मुझे भवपार करो।

वीनति मानजो शक्ति ए आपजो,
भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे।
साधि साधक दशा सिता अनुभवी,
देवचन्द्र विमल प्रभुता प्रकासे ॥७॥

अर्थ —मेरी इतनी सी वीनति मानजो–मान लीजिये (भद्र भक्ति के उद्गार हैं, और शक्ति ए आपजो–ऐसी शक्ति प्रदान करिये कि 'भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे', भाव–द्रव्य का धर्म, स्याद्वाद-रीति से नित्यानित्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद रूप से छहो द्रव्यो के अनन्तधर्म शकादिदूषण-रहित होकर शुद्ध रूप से भास–जानकरी मे आ जावें। तदनन्तर साधि साधक दशा–भेद रत्नत्रयी, फिर इनकी अभेदता रूप सिद्धता का अनुभवी–अनुभव करे, भोग करे। और, देवचन्द्र–सर्व देवों में चन्द्रमा के समान श्री सिद्ध भगवान की विमल प्रभुता प्रकाशे–निर्मल प्रभुता को प्रकट करे। अर्थात् स्याद्वाद ज्ञान से साधकता प्रकट होती है, साधकता से सिद्धता प्राप्त होती है। यही सार–वास्तविक पद्धति है।

इस प्रकार चतुर्विशति जिन स्तवन और उनका बालावबोध स्वय के ज्ञानानुसार बनाये हैं। श्री परमेश्वर के गुणो का गान किया

२५. कलश और प्रशस्ति

(राग—महावीर जिनेश्वर उपदिशे)

चोवीसे जिन गुण गाइये, ध्याये तत्त्व स्वरूपो जी ।
परमानद पद पाइये, अक्षय ज्ञान अनूपो जी ।।१।।

अर्थ ·—इस अवसर्पिणी काल में श्री ऋषभदेव भगवान से प्रारंभ होकर श्री महावीर स्वामी पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर शासन के नायक, गुण रत्नाकर, महामाहण, महागोप, महावैद्य, महानिर्यामक स्वरूप हो गये । उन जिनेन्द्रो का गुणगायन करिये और स्वय के तात्त्विक स्वरूप का ध्यान करिये ; जिससे आत्मा की एकाग्रता हो । आत्म-स्वरूप में एकाग्र वनने पर परमानन्द पद की प्राप्ति होती है और अक्षय, अविनाशी, अनुपम क्षायिक ज्ञान–केवलज्ञान की उपलब्धि होती है ।

चवदह सौ बावन भला, गणधर गुण भण्डारो जी ।
समता मय साहु साहुणी, सावय सावयी सारो जी ।।२।।

अर्थ .—चौवीस तीर्थंकरों के चवदह सौ बावन गणधर थे, वे सर्व मुनिगणो के अधिपति, गणिपिटक–द्वादश अंगो के रचयिता व लब्धियों के धारक थे, अर्थात् गुणों के भण्डार थे । इसी प्रकार सभी तीर्थंकरो के कोटि-कोटि साधु और साध्वी समता के भण्डार तथा श्रावक एव श्राविका सार–प्रधान धर्मधोरी, अग्रगण्य एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र के पात्र थे, अतः ऐसे चतुर्विध सघ का गुणगान करना चाहिये ।

वर्द्धमान जिनवर तणो, शासन अति सुखकारो जी ।
चउविह सघ विराजतो, दु षमकाल आधारो जी ।।3।।

अर्थ :—वर्तमान समय मे अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान जिनेश्वर का शासन है, जो अत्यन्त सुखकर है। इस शासन मे जिन्होने प्रवेश किया अर्थात् सदस्य बने वे समार समुद्र से पार हो गये। इस दु षम-काल नामक पाँचवे आरे मे भव्य जीवो का आधारभूत चतुर्विध सघ विराजमान है। नवतत्त्व, षड् द्रव्यादि का ज्ञान होना, मिथ्यात्व एव एव असयम आदि के त्रास से मुक्त होना, यह सर्व उपकार श्री जिन-शासन का है। वस्तुत महावीर प्ररूपित आगम ही इसमे आधारभूत है।

जिन सेवन थी ज्ञानता, लहे हिताहित बोधो जी ।
अहित त्याग हित आदरे, सयम तपनी शोधो जी ।।४।।

अर्थ .—"विशेषावश्यक भाष्य" के अनुसार जिन सेवन का फल बताते है। श्री जिन सेवा–प्रभु प्रतिमा के दर्शन और जिनवाणी के श्रवण अर्थात् वीतराग उपदिष्ट आगम श्रवण से अज्ञान नष्ट होकर यथार्थ ज्ञान होता है। ज्ञान से हिताहित का बोध होता है। इसके फलस्वरूप साधक हित को ग्रहण और अहित का परित्याग करता है। और, तत्त्व प्रकट करने की अर्थात् आत्म-स्वरूप विकसित करने की भावना से सयम एव तप करता है। इससे आत्मा उत्तरोत्तर कर्म फल से मुक्त बनती जाती है।

अभिनव कर्म अग्रहणता, जीर्ण कर्म अभावो जी ।
निष्कर्मी ने अबाधता, अवेदन अनाकुल भावो जी ।।५।।

अर्थ —सयम एव तप की शुद्धता होने से नवीन कर्मो की अग्र-हणता होती है अर्थात् नये कर्मो का बध नही होता और जीर्ण अर्थात् पुराने कर्मों का अभाव–नाश हो जाता है। पूर्वबद्ध सत्तागत कर्मों की निर्जरा हो जाती है। नये बध का अवरोध और प्राचीन सत्तागत कर्मों का नाश हो जाय, तो आत्मा निष्कर्म–कर्म रहित बन

जाता है । अबाधता अर्थात् सर्व बाधाओ का अभाव हो जाता है, क्योकि बाधा तो आत्मप्रदेशो मे पुद्गल के संग से है, पुद्गल कर्म का साग छूटने से बाधाएँ भी दूर हो जाती हैं । पुन आत्मा अवेदन और अनाकुल बन जाती है । वेदना शाता-अशाता से होती है और आकुलता मोहनीय कर्म से होती है । सर्व कर्मों का अभाव न होने पर भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय के क्षयोपशम से भी भेद-ज्ञान के साधक को वेदना और आकुलता नही वत् होती हैं । सर्वथा कम मुक्त आत्मा तो पूर्णतया सच्चिदानदमय होती हैं । यह सब कुछ प्रभु भक्ति एव जिन-सेवा का उपकार है । अत· चौवीस जिन की स्तवना करनी चाहिये ।

भावरोगना विषम थी, अचल अक्षय निराबाधो जी ।
पूर्णानन्द दशा लही, विलसे सिद्धि समाधो जी ॥६॥

अर्थ :—उपर्युक्त प्रभु-भक्ति के द्वारा समस्त कर्मों के अपगम से भावरोग–आत्मा के साथ लगे कर्मों से होनें वाले जन्म-मरण–चतुर्गति भ्रमण आदि समस्त विगम नष्ट हो जाते है।

अर्थात् परानुयायिता — पौद्गलिक सजीव-अजीव वस्तुओ पदार्थों के सग रहने की अभिलाषाये विगम–नष्ट हो जाती है । आत्म प्रदेशो के साथ लगे हुए कर्म रूप समग्र रोगाणुओ के नष्ट हो जाने से आत्मा अचल–चपलता रहित, अक्षय, अविनाशित्व, निराबाध–बाधाओ रहित पूर्णानन्द–परम आनन्द अनन्त गुण भोग रूप स्वसिद्धता की दशा–अवस्था लही–प्राप्त करती हैं । और, 'विलसे सिद्धि समाधो' सिद्धि–परम अभीष्ट सिद्ध अवस्था में प्राप्त आत्मिक ज्ञान-दर्शनमय समाधि को विलसे–भोगता है, अनुभव करता है । यह सब जिनेश्वर देव की उपासना एव सेवा का फल है कि निर्वाण पद की प्राप्ति भी हो जाती है । अत अन्य समस्त विकल्पो से मन को हटाकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी शुद्ध देवतत्त्व वीतराग अर्हन्त देव की आराधना करिये । यही सर्वाधिक परम सुख का पुष्ट निमित्त है ।

श्री जिनचन्द्रनी सेवना, प्रगटे पुण्यनिधानो जी ।
सुमतिसागर अति उल्लसे, साधुरग प्रभु ध्यानो जी ।।७।।

अर्थ —श्री जिनचन्द-अरिहन्त देव की सेवना-आराधना करने से पुण्य का निधान प्रगट होता है और सुमति-परमानन्द साधन की वृद्धि अति उल्लसे-अत्यन्त उल्लसित होती है। प्रभु के ध्यान से साधुरंग-अच्छा रग आत्मा पर चढता है जिससे वह मुक्ति की साधना में तल्लीन बनता है। इस गाथा में सारे शब्द दो अर्थ वाले हैं। कवि ने युक्ति से अपनी गुरु-परम्परा के नाम भी निर्दिष्ट कर दिये हैं कि उस समय श्री **खरतरगच्छाधीश्वर अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि** हुए। उनके शिष्य **उपाध्याय पुण्यप्रधान** हुए, उनके शिष्य श्री **सुमतिसागर** और उनके शिष्य श्री **साधुरग वाचक** हुए। ये स्तवन-कारक की पूर्व-परम्परा में बहुश्रुत महानुभाव थे।

सुविहित खरतरगच्छवरु, राजसागर उवझायो जी ।
ज्ञानधर्म पाठक तणो, शिष्य सुयश सुखदायो जी ।।८।।

अर्थ—: पचागी-सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका के अनुमार रत्नत्रय-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र के विकास हेतु सुविहित समाचारी-आचार पद्धति के पालक श्रेष्ठ खरतरगच्छ में सुप्रसिद्ध सर्वशास्त्र-निपुण, मरुस्थल में अनेक जिन चैत्यो की प्रतिष्टा कराने वाले, आवश्यकोद्धार आदि अनेक ग्रन्थो के रचयिता **उपाध्याय श्री राजसागर जी** हुए। उनके शिष्य **उपाध्याय श्री ज्ञानधर्मजी** हुए, जिन्होनें अनेक साधुओं को न्याय-दर्शनादि के ग्रन्थों का पाठन करवाया और जिन्हाने सवेगवृत्ति धारण कर षड्रस का यहां तक की शाक सब्जी का भी साठ वर्ष पर्यन्त त्याग करने वाले परम आत्मार्थी त्यागी तपस्वी महापुरुष हुए। उन्ही के शिष्य जो उत्तम सुयश के भागी और सभी को सुख देने वाले थे।

दीपचन्द पाठक तणो, शिष्य स्तवे जिनराजो जी ।
देवचन्द पद सेवतां, पूर्णानन्द समाजो जी ।।९।।

अर्थ :—श्री **दीपचन्द पाठक** जिन्होंने श्री शंत्रुजय तीर्थाधिराज पर श्री शिवाजी सोमजो कारित चौमुख टूक में अनेक जिनविम्बो की प्रतिष्ठा की। श्री राजनगर-अहमदाबाद मे श्री सहस्त्रफणा पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिष्ठा की। ऐसे पूज्य उपाध्याय गुरुवर श्री दीपचन्दजी महाराज के शिष्य **पण्डित** श्री **देवचन्द्र गणी** ने चौवीसी प्रभु वर्तमान चौवीसी के तीर्थंकरो की भक्तिवश स्तवना की, क्योंकि प्रभु भक्ति मे लीन स्वपरिणति महाआनद का कारण है। इसी भक्ति के फलस्वरूप अनेक गुणो के धारक देवचन्द्र समग्र भावदेवों में चन्द-श्रेष्ठतम भगवान के चरणो की सेवा करते हुए पूर्णानन्द सिद्धो के अव्याबाध आनन्द के समाज-समुदाय (समूह) की प्राप्ति होती है।

श्री देवचन्द्र गणि द्वारा रचित स्तवन
चौवीसी तथा उनका स्वयकृत
बालावबोध पूर्ण हुआ।

अनुवाद–प्रशस्तिः

सुविहित-खरतरगच्छ-सम्विग्नपरम्परायां महोपाध्याय-पदधारक–श्रीक्षमाकल्याण-पट्टानुपट्टे श्रीमत्सुखसागर-महोदयो जातः, तेषामाज्ञानुवर्तिनी स्वनामधन्या महा-पुण्यशालिनी स्वर्गीया प्रवर्तिनीवर्या **श्री पुण्यश्रीजी** महाराज–प्रशिष्यया जपध्यानपरायणा स्वर्गीया प्रवर्तिनी **श्री ज्ञानश्रीजी** महाराजस्य विनेयया तथा जैनकोकिला प्र० **श्री विचक्षणश्री जी**–महाराजस्य पट्टधारिणी एव वर्तमान-आचार्यदेव-**श्रीमज्जिनोदयसूरीश्वराणामाज्ञानु**-वर्तिनी प्रवर्तिनी **श्री सज्जनश्रिया** राष्ट्र-भाषायामनूदिता स्वोपज्ञ–बालावबोधसहिता श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचिता श्री वर्तमानचतुर्विंशति-जिन-चतुर्विंशिका समाप्ता ।